श्यामसुन्दर का जवाब:

बौद्धिक दीवालियापन, बेईमानी, कठदलीली और कठमुल्लावाद का नया पुलिन्दा

- अभिनव

1. प्रस्तावना

कॉमरेड दोन किहोते

(कुछ कैरियरवादी कठमुल्ले राजनीतिक नौदौलतियों को समर्पित)

- *मनबहकी लाल*

दोन किहोते उतर पड़ा है पॉलिमिक्स के मैदान में
गत्ते की तलवार भांजता, शत्रु-दलन अभियान में
सिर पुरखों का जूता मानो नेपोलियनी टोप है।
गोले हों फुसफुसे भले ही, क्या चंगेज़ी तोप है।
लिल्ली घोड़ी पर सवार, फूला-अकड़ा है शान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...
'क्या न करें' 'क्या करें' बताता लेनिन के अन्दाज़ में।
नये-नये मुल्ले को मिलता खूब स्वाद है प्याज़ में।
भले आंख में पानी आवे, सन-सन होवे कान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...
ऐसे-ऐसे नारे देगा, ऐसे मंत्र उचारेगा।
अबतक जो न हुआ वो सबकुछ छनभर में कर डालेगा।
चुटिया बांधके पिला हुआ है गहरे अनुसंधान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...
चिन्ता है दिन-रात कि नाम आवे कैसे इतिहास में।
सर्टिफिकेट भी परम्परा के वारिस का हो पास में।
लोहा माने दुनिया फिर साष्टांग करे सम्मान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...
बोधज्ञान कुछ देर से मिला इसीलिए हड़बड़ में है।
'ये कर डालें' 'वो कर डालें' दिल-दिमाग गड़बड़ में है।
इंकलाब का केन्द्र बने जान आवे फिर जान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...
ज्ञान-धुरी जो समझ रहा वो कठमुल्लों का खूंटा है।
हाथी समझे है खुद को, लेकिन बौराया च्यूंटा है।
परम सत्य का महकउवा तम्बाकू डाले पान में।
दोन किहोते उतर पड़ा है...

किसी चिन्तक ने एक बार कहा था कि बहस का मक़सद हार या जीत नहीं होता है, बल्कि विचारों को विकसित करना होता है। जब आप बहस को अपनी कोर बचाने के मक़सद से करते हैं, तो आपको अपने एक कुतर्क को छिपाने के लिए दर्जनों कुतर्क गढ़ने पड़ते हैं, झूठ बोलने पड़ते हैं, बातें बदलनी पड़ती हैं और कठदलीली करनी पड़ती है। यह प्रक्रिया आगे बढ़कर बौद्धिक बेईमानी में भी तब्दील हो जाती है। **श्यामसुन्दर ने चार माह बाद जो 120 पेज का खर्रा लिखकर दिया है, उससे यही बातें साबित हुई हैं (लिंक -** http://www.mazdoorbigul.net/wp-content/uploads/Shyamsundar-reply-caste-question-9-nov-18.pdf **)।** यह हमारे अवस्थिति पत्र का जवाब कम और अपने कार्यकर्ताओं के समक्ष अपने सम्मान की रक्षा का प्रयास ज्यादा लगता है। लेकिन जब भी आदमी सही तर्क की बजाय आत्मरक्षा में कुतर्क पर आमादा होता है, तो उसका सम्मान बचने की बजाय तार-तार हो जाता है, जैसा कि श्यामसुन्दर ने अपने खर्रे में कर दिया है। आगे हम सप्रमाण, सोदाहरण और उद्धरणों समेत देखेंगे कि श्यामसुन्दर ने यह कारनामा कैसे किया है।

उत्तर गरिष्ठ बने इसके लिए श्यामसुन्दर ने उसे अधिक से अधिक लम्बा बनाने का प्रयास किया है। लेकिन यदि आप पूरे उत्तर को पढ़ते हैं, तो आपको पता चलता है कि विभिन्न तुच्छ किस्म की तरकीबें अपनाकर इसकी लम्बाई को बढ़ाया गया है। अपने उत्तर को लम्बा बनाने के चक्कर में श्यामसुन्दर ने निम्न कार्य किये हैं:

(1) एक ही उद्धरण को बिना वजह कई बार उद्धृत करना

(2) अप्रासंगिक और ग़लत उद्धरण पेश करना

(3) एक ही बात को बिना वजह दर्जनों बार लिखना

(4) कई पृष्ठों तक बहस से असम्बद्ध और अप्रासंगिक बातें करना

अगर इन तीन चीज़ों को हटा दिया जाय, तो श्यामसुन्दर का जवाब बहुत जल्दी ही सिमट जाता। लेकिन उनके ऊपर हमारे "65-पृष्ठीय दस्तावेज़" (लिंक - http://www.mazdoorbigul.net/archives/12392) का बड़ा मर्मभेदी असर पड़ा है! यही कारण है कि बेचारे श्यामसुन्दर बार-बार दुहरा रहे हैं कि हमारा जवाब 65-पृष्ठीय है! ख़ैर, चाहे जो भी हो, अन्ततः श्यामसुन्दर ने यह साबित कर दिया है कि वे 65 से ज्यादा पृष्ठ लिख सकते हैं! चाहे उसके लिए उन्हें एक ही चीज़ को, और वह भी प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण चीज़ को, उबकाई ला देने की हद तक दुहराने की आवश्यकता क्यों न पड़े!

कुछ सुधी पाठकों ने हमारे पिछले उत्तर पर पूछा था कि आप ने श्यामसुन्दर को मूर्ख क्यों कहा? उनसे हमारा आग्रह होगा कि श्यामसुन्दर का मौजूदा खर्रा पढ़ लें, वे खुद ही समझ जाएंगे। साथ ही ऐसे साथियों से हम यह भी कहेंगे कि मार्क्सवादी आलोचनाओं और बहसों को पढ़ें ताकि देख सकें कि मूर्ख कोई गाली नहीं होती। कोई मूर्ख हो सकता है और ऐसी सूरत में उसे मूर्ख ही कहा जाना चाहिए। लेकिन इस बार उनके लिए

महज़ 'मूर्ख' विशेषण पर्याप्त नहीं है; कारण यह कि अपने बचाव में वे बौद्धिक बेईमानी पर भी उतर आये हैं। यह बौद्धिक बेईमानी निम्न कार्यों में दिखलाई पड़ती है:

(1) मिस्कोट करना व सन्दर्भ से काटकर उद्धृत करना

(2) उद्धरणों को मिसरेप्रज़ेण्ट करना

(3) पाण्डित्य का भ्रम पैदा करने के लिए अप्रासंगिक उद्धरणबाज़ी करना

(4) अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को हम पर आरोपित करना

(5) झूठे उद्धरण गढ़ना

(6) झूठ बोलना

(7) अपनी मूल अवस्थितियों से मुकर जाना और बात बदल लेना

उपरोक्त बेईमान किस्म की मूर्खताओं के अलावा, श्यामसुन्दर ने कुछ ***ईमानदार मूर्खताएं*** भी की हैं। ये निम्न हैं:

(1) अपने ही द्वारा पेश उद्धरणों को न समझना

(2) अपने ही द्वारा पेश उद्धरणों के आगे-पीछे न पढ़ना, यानी उनका सन्दर्भ न समझना

(3) क्लासिक्स से पेश उद्धरणों के ग़लत अनुवाद पेश करना या उनके ग़लत अनुवादों को न जांचना

(4) मार्क्सवाद की बुनियादी विश्लेषणात्मक श्रेणियों के बारे में अद्भुत अज्ञान

हम अपने मौजूदा उत्तर में सोदाहरण और सप्रमाण दिखलाएंगे कि श्यामसुन्दर उपरोक्त कारनामों को किस प्रकार अंजाम देते हैं। लेकिन सबसे मज़ेदार बात यह है कि उपरोक्त कार्रवाइयां करते हुए श्यामसुन्दर लगातार पाण्डित्यदम्भ और उपदेश की मुद्रा में हैं, जो कि उन्हें दोन किहोते का एक दरिद्र और हास्यास्पद संस्करण बना देता है। आइये, वामपंथी आन्दोलन के इस बौने दोन किहोते के कारनामे देखते हैं।

(बात शुरू करने से ठीक पूर्व पाठकों के लिए यह नोट जोड़ना आवश्यक होगा कि चूंकि श्यामसुन्दर ने क्लासिक्स से महान शिक्षकों के उद्धरणों का ग़लत और मनमाना अनुवाद पेश किया है, जिससे कि अपने कुतर्कों को सिद्ध कर सकें, इसलिए हम अपने उत्तर में उद्धरणों को मूल अंग्रेज़ी में पेश कर रहे हैं, ताकि अनुवाद के प्रश्न पर कोई सन्देह का निशान न रह जाये। जल्द ही हम इन उद्धरणों के हिन्दी अनुवाद के साथ अपने इस जवाब को भी उपलब्ध करा देंगे। फिलहाल, हम इस उत्तर को मूल अंग्रेजी उद्धरणों के साथ ही पेश कर रहे हैं क्योंकि श्यामसुन्दर का यह उत्तर मुझे 9 नवम्बर को मिला था, लेकिन 20 नवम्बर तक मैं इसे पढ़ ही नहीं सकता था क्योंकि 20 नवम्बर को ही लखनऊ में हमारा एक बड़ा म्यूजिक कंसर्ट था, जिसमें मुझे शिरकत करनी थी; यही कारण है कि श्यामसुन्दर के नये पत्र का जवाब देने में हमें थोड़ा वक्त लगा। पहले ही एक माह बीत गया है और

अभी हमें लगता है कि इस जवाब को अंग्रेजी मूल उद्धरणों के साथ ही जारी करना उपयुक्त है; ***जल्द ही इन उद्धरणों के सटीक अनुवाद के साथ हम इस पूरे जवाब को उपलब्ध कराएंगे।)***

2. 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' या 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' के बारे में श्यामसुन्दर की कठदलीलियां: लागा चुनरी में दाग छिपाऊं कैसे!

मगर की दाढ़ से मणि निकाल कर
ला सकता है आदमी
मचलती लहरों में तैरता
समुद्र पार कर सकता है आदमी.
आदमी फूलों की माला–सा पहन सकता है
सर पर क्रोधित सांप को
पर नहीं बदल सकता वह
महामूर्ख का मन !

-भर्तृहरि

हमने अपने पिछले उत्तर में (वही, "65-पृष्ठीय" वाला!) दिखलाया था कि श्यामसुन्दर को यह समझ में ही नहीं आया है कि जब हम 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' की बात कर रहे हैं तो इसका अर्थ पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को जातिवादी कहना नहीं है; वास्तव में, इसका ऐसा अर्थ कोई जड़बुद्धि व्यक्ति ही निकाल सकता है। हमने सोदाहरण यह भी प्रदर्शित किया था कि 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' का ज़िक्र ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जैसे कि 'पूंजीवादी पितृसत्ता' का जिक्र किया जा सकता है, क्योंकि पितृसत्ता की व्यवस्था भी अपने उद्भव से लेकर अभी तक स्थैतिक और एकसमान नहीं रही है। लेकिन श्यामसुन्दर ने बिना समझे-बूझे हम पर यह आरोप जड़ दिया कि हम पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को पूंजीवादी जातिवादी उत्पादन व्यवस्था कह रहे हैं। इसका हमने पिछले ही पत्र में अपने लेखन से पर्याप्त उद्धरणों के साथ सप्रमाण खण्डन कर दिया था।

हमने यह भी दिखलाया था कि यदि कोई पूंजीवादी राज्यसत्ता, उसकी नौकरशाही, सेना, पुलिस आदि के चरित्र की चर्चा करते हुए इसे 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' कहे तो भी इसका अर्थ यह नहीं होगा कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को जातिवादी कहा जा रहा है। वास्तव में, हमारे जिस उद्धरण को श्यामसुन्दर उद्धृत करते हैं (श्यामसुन्दर का जवाब, पृष्ठ 2) उसमें हम ठीक यही कह रहे हैं:

'"पूंजीवादी जाति व्यवस्था' शब्द समूह में जाति व्यवस्था का मौजूदा चरित्र बताया जा रहा है, न कि यह किसी एक उत्पादन व्यवस्था का नाम है। उत्पादन व्यवस्था का नाम पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था ही है और अगर हमें उसके जातिगत चरित्र को दिखलाना होता, तो हम उसे 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' या 'ब्राह्मणवादी पूंजीवादी व्यवस्था' कहते, जिस सूरत में अर्थ यह होता कि मौजूदा पूंजीवादी राज्य, उसके तमाम

निकाय और उसके अंगों-उपांगों का एक जातिवादी और ब्राह्मणवादी चरित्र है; **लेकिन इसका अर्थ भी यह नहीं होगा कि हम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को पूंजीवादी जाति उत्पादन पद्धति कह रहे हैं।"** *(हमारा पिछला जवाब)*

जैसा कि आप देख सकते हैं कि हमने पहले ही स्वयं ही अपनी अवस्थिति को स्पष्ट किया था। लेकिन इसके बाद भी श्यामसुन्दर बालहठ पर आमादा होते हुए कहते हैं : "जी हां! आप दो बात कह रहे हैं। एक तो यह कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' एक पूंजीवादी जाति व्यवस्था और दूसरी यह भी कह रहे हैं कि वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था एक 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' है और इन दोनों ही अवधारणाओं की ही हमने अपने पहले पर्चे में आलोचना की थी।" किस प्रकार की कठदलीली है यह! जब हमारे पिछले उत्तर अपने द्वारा प्रयोग की गयी नामपद्धति के निहितार्थ स्पष्ट किये थे, और वह भी श्यामसुन्दर के नये जवाब से पहले ही, तो उसके बाद भी ऐसा दावा करने का क्या अर्थ है? इसके बाद, आगे श्यामसुन्दर ने हमारे एक एजिटेशनल पर्चे से उद्धृत किया है जिसमें हमने 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' शब्द का इस्तेमाल किया है, ताकि यह सिद्ध कर सकें कि हम पूंजीवादी *उत्पादन व्यवस्था* को जातिवादी कह रहे हैं! यह मूर्खता नहीं है तो और क्या है कि पहले हमारे ही इस कथन को उद्धृत किया जाय जिसमें हमने स्पष्ट किया है कि यदि 'जातिवादी पूंजीवादी व्यवस्था' शब्द का भी इस्तेमाल किया जाय, तो इसका अर्थ पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को जातिवादी कहना नहीं है, बल्कि पूंजीवादी राज्य और उसके अंगों-उपांगों में निहित जातिवाद को दिखलाना है और उसके बावजूद दावा किया जाय कि हम उत्पादन पद्धति को ही जातिवादी कह रहे हैं!? पिछले सात दशकों में अगणित मार्क्सवादी अध्ययन दिखला चुके हैं कि भारत में सेना, पुलिस, न्यायपालिका से लेकर नौकरशाही व सशस्त्र बलों तक का एक स्पष्ट जातिगत चरित्र है। लेकिन इसका अर्थ क्या *पूंजीवादी उत्पादन पद्धति* को जातिवादी कहना है? फिर तो तमाम अमेरिकी मार्क्सवादियों व लेनिनवादियों ने अमेरिकी राज्यसत्ता के नस्लवादी चरित्र को प्रदर्शित किया है और उसे 'नस्लवादी पूंजीवाद' और 'नस्लवादी पूंजीवादी व्यवस्था' जैसी संज्ञाएं दी हैं, वह भी श्यामसुन्दर के अनुसार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को नस्लवादी कहना होगा। **श्यामसुन्दर की इस अक्षमता के बारे में यही कहा जा सकता है कि मूर्ख कठमुल्लावाद से पके हुए दिमाग़ से किसी भी सामाजिक-आर्थिक परिघटना को द्वन्द्वात्मक रूप से समझने की उम्मीद नहीं की जा सकती है। लेकिन हमारे बौने दोन किहोते के बारे में मज़ेदार बात यह है कि उन्होंने अपनी इस त्रासद अक्षमता के बावजूद अपने खर्रे में द्वन्द्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में पाण्डित्य-प्रदर्शन का ऐसा करतब दिखलाया है कि आप मुश्किल से हंसी रोक पाते हैं। आइये, इन करतबों के कुछ और नमूने देखते हैं।**

आर्थिक आधार होना या आर्थिक आधार का एक अंग होने के बीच अन्तर के विषय में श्यामसुन्दर की जालसाज़ी

श्यामसुन्दर के अनुसार, आर्थिक आधार का अंग होने और समूचा आर्थिक आधार होने में कोई अन्तर नहीं है। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"दूसरी बात हमने यह दिखायी थी कि 'बिगुल' वाले वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के मूलाधार में 'जाति व्यवस्था' को प्रवेश करा रहे हैं *जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान पूंजीवादी उत्पादन पद्धति जाति व्यवस्था पर आधारित हो जाती है, चाहे जितने भी अंश में हो।"*

समझ में नहीं आता है कि ऐसी बात इंसान अपने आप को किसी भी कीमत पर सही साबित करने में उन्माद में कर सकता है, या फिर सामान्य बातें समझ पाने की ही अपनी अक्षमता के कारण! जिसने भी हमारा "65-पृष्ठीय दस्तावेज़" और साथ ही हमारे शोध-पत्रों का अध्ययन किया है, वह जानता है कि हमने यह कहा ही नहीं कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति जाति व्यवस्था पर "आधारित है, चाहे जितने भी अंश में"। वास्तव में, यह बात ही अन्तरविरोधी है। इसी को हमने ऊपर **बौद्धिक बेईमानी** कहा है। हमने जो कहा है वह यह है: (1) ऋग्वैदिक काल के अन्तिम दौर में पैदा हुआ श्रम विभाजन उस दौर के भ्रूण वर्ग विभाजन का आधार था और इस दौर में वर्ण ही वर्ग थे, हालांकि वे अभी विकसित होने की प्रक्रिया में थे; यह प्रक्रिया वैदिक काल के उत्तरार्द्ध (1000 ईसवी पूर्व से 600 ईसवी पूर्व तक) में पूर्णता तक पहुंचती है; (2) धार्मिक व कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण (religious and ritualistic ossification) के फलस्वरूप वर्ण और वर्ग के बीच का अतिच्छादन समाप्त हो गया और उनके बीच एक संगति का सम्बन्ध स्थापित हो गया; प्राचीन जनपदों के दौर में ही वर्ण व्यवस्था की संरचना में जातियां पैदा होती हैं और उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी होती है और यह बाद तक जारी रहती है; (3) कॉमन एरा के आरम्भ के पहले तक जाति व्यवस्था के दो अन्य आयाम, यानी सजातीय विवाह और अस्पृश्यता सुदृढ़ स्वरूप में पैदा हो चुके थे; (4) इन दोनों आयामों का मकसद था ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में पैदा हुए श्रम विभाजन और वर्ग विभाजन को रूढ़ और आनुवांशिक बनाना, क्योंकि इसके बिना अनमनीय आनुवांशिक श्रम विभाजन को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता था; (5) चूंकि आनुवांशिक श्रम विभाजन (उत्पादन के सम्बन्धों का एक अंग) और सजातीय विवाह (पुनरुत्पादन का सम्बन्ध) आर्थिक आधार का अंग होते हैं, इसलिए वर्ण-जाति व्यवस्था आज भी आर्थिक आधार का *एक* अंग है क्योंकि कुछ पेशों में अभी भी आनुवांशिक श्रम विभाजन कायम हो, चाहे उसके कारण जो भी हों, और सजातीय विवाह की प्रथा अभी भी मज़बूती के साथ कायम है; (6) पूंजीवादी समाज में जातिगत आनुवांशिक श्रम विभाजन काफी कमज़ोर पड़ चुका है, हालांकि पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है, मगर सजातीय विवाह जारी है, इसलिए जाति आर्थिक आधार (उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग) का *एक* अंग है।

इसका यह अर्थ कैसे निकलता है कि हमने पूंजीवादी व्यवस्था को जाति व्यवस्था पर आधारित करार दिया है? लेनिन ने बताया कि दुनिया के लगभग सभी पूंजीवादी समाजों में टटपुंजिया सामान्य माल उत्पादन भी मौजूद था, जिसे मार्क्स ने पूर्ण रूप में 'पूंजीवादी उत्पादन' (properly capitalist production) नहीं माना था। क्या इसका यह अर्थ निकलता है कि इन देशों की पूंजीवादी उत्पादन पद्धति टटपुंजिया माल उत्पादन पर टिकी हुई है? इसका ऐसा अर्थ निकालने के लिए किसी को वज्र मूर्ख होना अनिवार्य होगा। श्यामसुन्दर ने जाति के पूंजीवादी आर्थिक आधार का अंग होने का ऐसा ही अर्थ निकाला है। हम और कुछ नहीं कहेंगे, बाकी पाठक स्वयं समझ लें!

एक कठमुल्लावादी दिमाग़ कैसे सोचता है, इसका एक अन्य उदाहरण देखें। श्यामसुन्दर लिखते हैं, "अभिनव सिन्हा ने इस 'जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था' के बारे में भी ऊपर कह दिया कि इससे भी हमारा अभिप्राय वह नहीं है जो हम समझे हैं। यानी ये लोग चाहे 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' शब्द समूह का प्रयोग करें और चाहे 'जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था' शब्द समूह का, दोनों ही शब्द समूहों से पूंजीवादी व्यवस्था के चरित्र पर कोई असर नहीं है।" **अगर आप हमारे उस उद्धरण पर नज़र डालें, जिसके बारे में श्यामसुन्दर यह टिप्पणी कर रहे हैं, तो आपको साफ हो जायेगा कि श्यामसुन्दर बातों को मिसरेप्रज़ेण्ट कर रहे हैं, या एक बार फिर से उन्होंने अपने कठमुल्लावादी अहमकपन का परिचय दिया है।**

हर बात का एक 'फ्रेम ऑफ रेफरेंस' होता है, जिससे उसे काट दिया जाय तो हर बात अर्थहीन हो जाती है। जब हम जाति व्यवस्था के पूंजीवादी चरित्र की ओर इशारा करते हैं, तो 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' का प्रयोग करते हैं; जब हम पूंजीवादी राज्यसत्ता के विभिन्न अंगों के जातिवादी या पितृसत्तात्मक आयाम की ओर इशारा करते हैं, तो हम 'जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था' का प्रयोग करते हैं। हमारे उपरोक्त उद्धरण से यह बात स्वत: स्पष्ट है। लेकिन आप स्वयं देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर किस प्रकार उसे मिसरेप्रज़ेण्ट कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि 'व्यवस्था' एक जेनेरिक शब्द है, जिसे उत्पादन पद्धति के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है और साथ ही किसी समूचे सामाजिक-आर्थिक तन्त्र के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है, जिसमें उत्पादन पद्धति शामिल हो भी सकती है और नहीं भी। मिसाल के तौर पर, 'पूंजीवादी व्यवस्था' का अर्थ अपने मूलाधार और अधिरचना समेत समूची पूंजीवादी संरचना भी होता है, और साथ ही, विशिष्ट स्थानों पर इसे उत्पादन की व्यवस्था के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है। श्यामसुन्दर इन दोनों को पर्यायवाची मानते हैं और इन्हें अदल-बदल कर इस्तेमाल करते हैं। हमारा कयास है कि यहां ऐसा वह जानबूझकर कर रहे हैं, ताकि हमारी बातों को तोड़-मरोड़कर पेश कर सकें, लेकिन जैसा कि उनका रिकॉर्ड रहा है, ऐसा वह शुद्धत: अपने अज्ञान और मूर्खता के कारण भी कर सकते हैं। **बहरहाल, कोई भी व्यक्ति हमारे उद्धरण को देख कर स्वत: ही समझ जायेगा कि हमारी बातों को विकृत करके पेश करने का यह प्रयास बचकाना है।**

आगे श्यामसुन्दर अचरज प्रकट करते हैं कि एक ओर तो हमने जाति व्यवस्था को पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के मूलाधार में "प्रवेश करा दिया" है और वहीं फिर भी हम इसे पूंजीवादी उत्पादन पद्धति कहते हैं। इस बालसुलभ आश्चर्य के पीछे श्यामसुन्दर की वही सोच है कि एक आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। इसका खण्डन हम अपने पिछले जवाब में ही कर चुके हैं जहां हमने मार्क्स व लेनिन के हवाले से दिखलाया था कि किसी भी आर्थिक आधार में कभी भी केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते, बल्कि एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का प्रभुत्व होता है; लेकिन उसमें अन्य उत्पादन सम्बन्ध भी होते हैं, जो कि प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्धों द्वारा सहयोजित और समायोजित कर लिये जाते हैं। इस नये पत्र में भी श्यामसुन्दर ने अपने इस मूर्खतापूर्ण दावे को दुहराया है, हालांकि उसके पक्ष में वह कोई ठोस प्रमाण या उद्धरण उपलब्ध नहीं कराये हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे। जो भी उद्धरण उन्होंने पेश किये हैं, उनसे वह सिद्ध ही नहीं होता है जो वह सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन इस विशिष्ट नुक्ते पर हम आगे विस्तार से और नये उद्धरणों और प्रमाणों के साथ उपयुक्त उपशीर्षक में अपनी बात रखेंगे। यहां हम केवल मार्क्स के उस उद्धरण को दोबारा पेश कर रहे हैं; लेनिन के उद्धरण के लिए आप हमारे पिछले जवाब को सन्दर्भित कर सकते हैं हालांकि इस जवाब में भी आगे लेनिन के उद्धरण की श्यामसुन्दर द्वारा की गयी ग़लत व्याख्या पर आएंगे। फिलहाल, मार्क्स। मार्क्स लिखते हैं:

"समाज के हर रूप में यह निर्धारक उत्पादन और इसके द्वारा पैदा उत्पादन सम्बन्ध होते हैं *जो अन्य सभी उत्पादन रूपों के और उनके द्वारा जनित उत्पादन सम्बन्धों के स्थान को निर्धारित करते हैं।"* (मार्क्स, 'प्रस्तावना', *राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान,* ज़ोर हमारा)

जैसा कि आप उपरोक्त कथन से ही समझ सकते हैं, श्यामसुन्दर किसी मूलाधार में एक उत्पादन सम्बन्ध के प्रभुत्व के साथ कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदगी पर बिना वजह ही चकित हिरणी बने बैठे हैं। लेकिन श्यामसुन्दर ने आगे इस कथन की व्याख्या करते हुए एक जबर्दस्त मूर्खता वाला 'समाज के दो आधारों' का सिद्धान्त पेश किया है, जिस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे।

श्यामसुन्दर के इस आरोप को हमने पिछले पत्र में ग़लत सिद्ध किया था कि हमने सजातीय विवाह को पूंजीवादी व्यवस्था का आधार बताया है। **यहां श्यामसुन्दर अपने उसी आरोप को दुहरा रहे हैं, हालांकि वह कोई नया प्रमाण नहीं पेश करते और न ही हमारे द्वारा पिछले पत्र में किये गये इस आरोप के खण्डन का कोई जवाब देते हैं। वह बस आरोप दुहरा देते हैं। यह काम बच्चे करते हैं, वह भी बेहद छोटे बच्चे! वे जवाब न होने पर अपने दावे या मांगों को दुहराते रहते हैं।** लेकिन श्यामसुन्दर जैसे व्यक्ति से ऐसे बचकाने बर्ताव की उम्मीद नहीं की जाती है (वैसे, की भी जा सकती है!)। हमने जो कहा है वह यह है: (1) आज की जाति व्यवस्था में उसके तीन आयामों में से *मूलत: और मुख्यत:* सजातीय विवाह ही बचा है; (2) सजातीय विवाह पुनरात्पादन के सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च जातियों में निजी सम्पत्ति की सापेक्षिक निरन्तरता को सुनिश्चित करता है, जिसके कारण दलित व ग़ैर-दलित आबादी के बीच के आर्थिक अन्तर काफी है, जिसके बारे में हमने अपने पिछले जवाब में तर्क व तथ्य पेश किये थे; ***यह वितरण के सम्बन्धों को स्पष्ट तौर पर प्रभावित करता है***; (3) आनुवांशिक श्रम विभाजन और अस्पृश्यता कमज़ोर पड़ गये हैं, हालांकि पूर्णत: खत्म नहीं हुए; और इनमें से कुछ विशिष्ट पेशों में श्रम विभाजन को निर्धारित करने के कारण आनुवांशिक श्रम विभाजन अभी भी श्रम विभाजन को प्रभावित करता है (4) इस रूप में जाति व्यवस्था वितरण के विनियमन, पुनरुत्पादन के सम्बन्धों और उच्च जातियों में निजी सम्पत्ति की सापेक्षिक निरन्तरता को सुनिश्चित करती है, और इसलिए उत्पादन सम्बन्धों का *एक अंग* है। **लेकिन इन चारों ही प्रस्थापनाओं का यह अर्थ कैसे निकलता है कि जाति व्यवस्था ही पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का आधार है और चूंकि सजातीय विवाह ही जाति व्यवस्था का बचा हुआ आयाम है इसलिए सजातीय विवाह पूंजीवादी व्यवस्था का आधार है?** देखें श्यामसुन्दर ने हमारी उपरोक्त चार प्रस्थापनाओं का क्या नतीजा निकाला है, "और यदि सजातीय विवाह जाति व्यवस्था का एक आयाम है और उत्पादन का एक संबंध है तथा पूंजीवादी आर्थिक आधार का अंग है, तो हमने जब यह कहा कि अभिनव सिन्हा ने जाति व्यवस्था को पूंजीवादी समाज का आधार ठहराया है, तो क्या ग़लत कहा? क्या आश्चर्य है कि अभिनव सिन्हा ने सजातीय विवाह को जाति व्यवस्था का एक आयाम बतायें और फिर उसे एक उत्पादन के संबंध के रूप में पूंजीवादी समाज के आर्थिक आधार यानी उत्पादन संबंधों के कुल योग का एक अंग बतायें और हम यह भी न कहें कि अभिनव सिन्हा ने सजातीय विवाह को पूंजीवादी व्यवस्था का आधार ठहरा दिया है!" **कठमुल्लावाद के दीमक से चटा हुआ और बंजर दिमाग़ ही कल्पना की ऐसी जंगली उड़ान भर सकता है, जिसका तर्क और विज्ञान से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। कोई भी देख सकता है कि श्यामसुन्दर के इस वाक्य में ही अन्तरविरोध है। एक ओर तो वह मान रहें हैं कि हमने जाति व्यवस्था (जिसका आज के दौर में प्रमुख आयाम सजातीय विवाह है) को पूंजीवादी आधार का *एक अंग* माना है, वहीं खुद ही कह रहे हैं कि हम जाति व्यवस्था *को ही* पूंजीवाद का आधार मानते हैं! स्पष्ट है, कि हम जाति व्यवस्था को पूंजीवादी आर्थिक आधार का *एक अंग* मानते हैं, न कि समूचा पूंजीवादी आधार और इसीलिए श्यामसुन्दर का यह आरोप समझ से परे है कि हम जाति व्यवस्था और उसके सजातीय विवाह को पूंजीवादी व्यवस्था का आधार मानते हैं। *असली बात यह है कि श्यामसुन्दर बहस में रगड़ाई पर अपनी इज्जत बचाने के लिए अब झूठ, बेईमानी, मिस्कोटिंग, मिसरेप्रेज़ेण्टेशन और फरेब पर आमादा हो गये हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि इससे उनकी इज्जत बचनी तो दूर, जो थोड़ी-बहुत कालिक वरिष्ठता के कारण बची हुई है, वह भी जाती रहेगी।*** बहस में अपने विरोधी की अवस्थिति को ईमानदारी से पेश करना एक बुनियादी उसूल होता है, जिस पर अमल न करना यही दिखलाता है कि श्यामसुन्दर सम्मान रक्षा की हताशा में बौद्धिक बेईमानी के किसी भी स्तर पर उतरने को तैयार हैं।

आर्थिक आधार के अंग के रूप में जाति व्यवस्था और श्यामसुन्दर की 'जाति उत्पादन व्यवस्था'

श्यामसुन्दर के अनुसार, यदि हम जाति व्यवस्था को किसी दौर की उत्पादन पद्धति नहीं मानते हैं तो फिर वह किसी दौर का उत्पादन सम्बन्ध भी नहीं मानी जाती सकती। हमने यह घोर अपराध कर दिया है कि हमने जाति व्यवस्था को किसी दौर की उत्पादन पद्धति मानने से इंकार किया है और यह कहा है कि यह एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक संरचना है, जो कि अलग-अलग दौरों में (हालांकि, बदली हुई प्रकृति और स्वरूप में, जिस बात को श्यामसुन्दर जानबूझ कर गोल कर गये हैं!) के उत्पादन सम्बन्धों का अंग बनी रही। **श्यामसुन्दर को यह इलहाम हुआ है कि उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध एक ही चीज़ हैं, या, यदि कोई आर्थिक परिघटना उत्पादन सम्बन्धों का अंग है (यदि वह आर्थिक है तो निश्चित तौर पर वह उत्पादन सम्बन्धों का अंग होगी ही) तो उसे किसी न किसी दौर की उत्पादन पद्धति भी होना चाहिए। आपको लगता है कि आप जड़मतित्व के सीमान्तों को श्यामसुन्दर के जवाब में देख चुके हैं, लेकिन अगले ही पृष्ठ पर श्यामसुन्दर आप को बता देते हैं कि अभी तो उन्होंने केवल अंगड़ाई ली है**! यदि जाति व्यवस्था किसी दौर की उत्पादन पद्धति हुए बग़ैर (क्योंकि जाति उत्पादन पद्धति जैसी कोई चीज़ नहीं होती है) उत्पादन सम्बन्धों का अंग नहीं हो सकती है, तो नस्लवाद की सामाजिक-आर्थिक परिघटना के बारे में भी यह बात सही साबित होनी चाहिए, क्योंकि नस्लवाद कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं था। लेकिन क्या नस्ल एक आर्थिक कारक है? यदि हां, तो निश्चित तौर पर वह समाज के मूलाधार का एक अंग है। हालांकि बाद में श्यामसुन्दर इस बात को भी नकारते हैं और कहते हैं कि सारे उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार में नहीं रहते हैं और वह एक दूसरे आधार में रहते हैं जिसे श्यामसुन्दर ने "समूचे भौतिक उत्पादन का आधार" नाम दिया है! अभी मत हंसिये, क्योंकि बाद में तो बहुत ही ज्यादा हंसी आयेगी, जब हम इस श्यामसुन्दरीय नवोन्मेष पर अलग से विचार करेंगे। अभी देखिये कि नस्ल के विषय में एंगेल्स क्या कहते हैं। आइये देखें कि एंगेल्स इसके बारे में क्या कहते हैं:

> **"हम आर्थिक स्थितियों को वे कारक मानते हैं जो अन्तत: ऐतिहासिक विकास को निर्धारित करता है। *लेकिन नस्ल भी एक आर्थिक कारक है।"*** (एंगेल्स, 'डब्ल्यू बॉर्जियस को पत्र, 25 जनवरी, 1894, ज़ोर हमारा)

जैसा कि आप देख सकते हैं, नस्ल स्वयं अपने आप में कभी कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी, लेकिन फिर भी एंगेल्स उसे एक आर्थिक कारक क़रार देते हैं। आर्थिक कारक का अर्थ ही है कि वह आर्थिक आधार का अंग है। इसीलिए एंगेल्स ने इस उद्धरण में स्पष्ट किया है कि जब वह आर्थिक कारकों की बात कर रहे हैं, तो उनका अर्थ आर्थिक आधार यानी कि उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग से ही है, *जो कि ऐतिहासिक विकास को निर्धारित करता है।* जैसा कि हमने बताया, बाद में श्यामसुन्दर इस नुक्ते पर अपने बचाव के लिए यह कुतर्क पेश करते हैं कि समाज में दो आधार होते हैं: एक आर्थिक आधार जिसमें कि प्रभुत्वशाली उत्पादन सम्बन्ध होते हैं और दूसरा 'समूचे भौतिक उत्पादन का आधार' जिसमें कि गौण उत्पादन सम्बन्ध व अन्य 'आर्थिक कारक' रहते हैं! वैसे तो यह विचार इतना मूर्खतापूर्ण है कि किसी मार्क्सवाद से परिचित व्यक्ति के सामने इसका खण्डन करने की भी आवश्यकता नहीं है, लेकिन आगे हम इसका खण्डन भी करेंगे ताकि हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र की कठदलीलियों को तबीयत से बेनकाब किया जा सके। मतलब कि यहां तो श्यामसुन्दर ने "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" चलाते-चलाते बौद्धिक केंचुल नृत्य ही कर डाला है! बहरहाल, यह पूरा विचार ही मार्क्सवाद से रिक्त एक दीवालिया विचार है कि यदि कोई सामाजिक-आर्थिक संरचना उत्पादन सम्बन्धों का अंग है, तो वह कभी न कभी स्वयं सम्पूर्ण उत्पादन पद्धति रही होगी। इस विचार से एक नस्ल उत्पादन पद्धति, एक जेण्डरगत या पितृसत्तात्मक उत्पादन पद्धति (क्योंकि मानव समाज का पहला श्रम विभाजन प्राकृतिक लैंगिक श्रम

विभाजन ही था) भी होनी चाहिए। ध्यान रखें, जहां लेनिन ने पितृसत्तात्मक प्राकृतिक अर्थव्यवस्था या उत्पादन की बात की है, वह वास्तव में जीविकोपार्जन के लिए होने वाले खेतिहर उत्पादन की बात कर रहे हैं, न कि किसी समूची उत्पादन पद्धति के बारे में। इसलिए पाठक उससे भ्रमित न हों। वास्तव में, पुरुषों के प्रभुत्व पर आधारित कोई अलग विशिष्ट उत्पादन पद्धति नहीं होती है। पितृसत्ता और उसके आधार पर होने वाला लैंगिक श्रम विभाजन और पुनरुत्पादन के सम्बन्ध भी आर्थिक आधार का ही अंग होते हैं, जैसा कि हम एंगेल्स के उद्धरण से आगे दिखलाएंगे भी। जैसा कि आप देख सकते हैं, श्यामसुन्दर एक निहायत मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं।

हर उत्पादन पद्धति विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक रूपों और संरचनाओं (structures) को जन्म देती हैं, जो कि उस उत्पादन पद्धति का दौर समाप्त होने के बाद भी नयी उत्पादन पद्धति के साथ सहयोजित और समायोजित हो सकती हैं और जैविक तौर पर उसका अंग बन सकती हैं; इसके लिए उन्हें स्वयं किसी दौर की सम्पूर्ण उत्पादन पद्धति होने की कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे पितृसत्ता की बात करें, नस्ल की बात करें, या जाति की बात करें यह बात इतिहास में देखी जा सकती है। लेकिन श्यामसुन्दर इस सहज और इतिहास द्वारा प्रदर्शित बात को भी नहीं समझ पा रहे हैं, तो इसका कारण निपट मूर्खता है या अपने सांचो पांजाओं के समक्ष सम्मान-रक्षा के गर्हित कार्यभार को पूरा करने की बदहवासी, हम दावे से नहीं बता सकते।

श्यामसुन्दर के नवीनतम खर्रे को पढ़ने का सबसे उबाऊ पहलू यह है कि उन्होंने हमारे "65-पृष्ठीय" उत्तर का जवाब और अधिक पृष्ठों में देने के लिए हमारे ही उद्धरणों को दर्जन-दर्जन बार पेश किया है। मतलब कि आप थक जाते हैं! बहरहाल, हमें एक आखिरी बार श्यामसुन्दर की कठदलीलियों और लफ्फाज़ियों का पर्दाफाश करना है, ताकि उनके "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की एक तस्वीर पाठकों के सामने पेश कर सकें, इसलिए हम आगे बढ़ते हैं।

3. उत्पादन पद्धति, सामाजिक संरचना, आर्थिक संरचना और सामाजिक-आर्थिक संरचना के बारे में श्यामसुन्दर के विचार

बुझाया जा सकता
आग को पानी से
छाते से रोका जा सकता है
धूप को.
नुकीले अंकुश से मदमत्त हाथी को
और गाय और गधे को
किया ही जा सकता है बस में
पीट-पाट कर.
रोग की दवाओं से
और ज़हर को उतारा जा सकता है
मंत्रों से.
बताई है शास्त्रों ने हर चीज़ की दवा
पर दवा कोई नहीं
कोई नहीं है दवा
महामूर्ख की.

-भर्तृहरि

उत्पादन पद्धति, सामाजिक संरचना, आर्थिक संरचना और सामाजिक-आर्थिक संरचना के बारे में श्यामसुन्दर बुरी तरह से भ्रमित हैं। **उनके लिए ये सब एक ही हैं।** यह साबित करने के लिए कि सामाजिक-आर्थिक संरचना और उत्पादन पद्धति एक ही हैं, वे पहले लेनिन की संकलित रचनाओं के पीछे संशोधनवादियों द्वारा दी गयी परिभाषाओं से एक परिभाषा को उद्धृत करते हैं। लेकिन अपने ही द्वारा पेश इस परिभाषा को श्यामसुन्दर समझने में बुरी तरह नाकाम रहते हैं। आइये देखें, किस तरह।

इसमें लेनिन का एक कथन है जिसमें लेनिन बताते हैं कि सामाजिक-आर्थिक संरचना एक *विशिष्ट सामाजिक संघटन* है। इसी उद्धरण में इसके पहले यह भी बताया गया है कि सामाजिक-आर्थिक संरचना का अर्थ महज़ उत्पादन सम्बन्ध का आधार और उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर खड़े राजनीतिक, सामाजिक तथा वैचारिक स्वरूप भी होते हैं, जो पूर्णता में अमुक समाज के रूपभेद को निर्धारित करता है (लेनिन का उद्धरण, श्यामसुन्दर के जवाब का पृष्ठ 5)। **यानी, इस परिभाषा के अनुसार सामाजिक-आर्थिक संरचना में किसी समाज का आर्थिक आधार और अधिरचना दोनों ही शामिल हैं और इन दोनों पहलुओं को पूर्णता में सामाजिक-आर्थिक संरचना कहा जाता है।**

सामाजिक-आर्थिक सरंचना (socio-economic structure) वास्तव में बहुत ही *जेनेरिक* शब्द है, जो किसी भी ऐसी परिघटना को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है और किया जाता है जिसके

सामाजिक और आर्थिक पहलू हों। इन अर्थों में नस्लवाद भी एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है। निश्चित तौर पर कोई भी सामाजिक-आर्थिक संरचना अन्तिम विश्लेषण में वर्ग अन्तरविरोधों से ही अति-निर्धारित होती है। इस रूप में जाति व्यवस्था भी एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है, जिसके सामाजिक और आर्थिक आयाम हैं। लेकिन श्यामसुन्दर सामाजिक संरचना की विशिष्ट श्रेणी के बारे में कुछ जानते ही नहीं हैं। हमें शिकायत नहीं होती कि अगर वह पहली बार ऐसी अज्ञानता प्रदर्शित कर रहे होते। लेकिन अपने पिछले उत्तर में हमने सामाजिक संरचना (social formation) की श्रेणी के बारे में विस्तार से बात रखते हुए बताया था कि इस विश्लेषणात्मक श्रेणी का क्या अर्थ है। लेकिन इसके बावजूद श्यामसुन्दर अपनी बात को सही सिद्ध करने के उन्माद में न सिर्फ अपनी पुरानी मूर्खताओं को दुहरा रहे हैं, बल्कि उसमें कुछ नयी मूर्खताएं भी जोड़ रहे हैं। इसलिए इन नयी मूर्खताओं का भी खण्डन करना होगा। साथ ही, वे ग़लत अनुवाद को पेश करने की बेईमानी भी करते हैं, ताकि अपनी बात के लिए महान शिक्षकों से वैधीकरण ले सकें। हम यह भी दिखलाएंगे कि श्यामसुन्दर इस बौद्धिक बेईमानी को कैसे अंजाम देते हैं। लेकिन पहले सामाजिक संरचना की श्रेणी के बारे में कुछ बातें।

सामाजिक संरचना (social formation) एक बिल्कुल भिन्न और विशिष्ट अवधारणा है, जिसके बारे में हमने अपने पिछले जवाब में लिखा था। मार्क्स वास्तव में कहीं भी सामाजिक संरचना शब्द का इस्तेमाल इस विशिष्ट अर्थ में नहीं करते हैं, लेकिन उन्होंने कई स्थानों पर 'समाज' (society) शब्द का प्रयोग सामाजिक संरचना के अर्थों में किया है, जैसा कि कई अध्येताओं ने दिखलाया है। मार्क्स का यहां अर्थ ऐसे समाज से है जिसमें कई प्रकार की उत्पादन पद्धतियां और उत्पादन सम्बन्ध तन्तुबद्धीकृत रूप में मौजूद हैं, और उनमें से किसी एक प्रकार की उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशील भूमिका में हैं। सामाजिक संरचना की अवधारणा मार्क्स के लेखन में अन्तर्निहित तौर पर आती है, जैसा कि मार्क्स के उस उद्धरण में भी देखा जा सकता है, जिसे हमने ऊपर पेश किया है। इस अवधारणा को आगे प्रमुख तौर पर फ्रांसीसी चिन्तक **लुई अल्थूसर** ने विकसित किया और फिर विभिन्न मार्क्सवादी अध्येताओं ने तब से इसका एक उपयोगी श्रेणी के तौर पर इस्तेमाल जारी रखा है। वास्तव में, हर समाज एक सामाजिक संरचना ही होता है, जिसमें कई प्रकार की उत्पादन पद्धतियां और उत्पादन सम्बन्ध मौजूद होते हैं; इस सामाजिक संरचना का चरित्र इस बात से निर्धारित होता है कि कौन सी उत्पादन पद्धति प्रभुत्वशाली है। यह अवधारणा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ सभी में देखी जा सकती है। **लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि सामाजिक संरचना और सामाजिक-आर्थिक संरचना एक ही अवधारणा है। पाण्डित्यदम्भ में अन्धे मूर्ख को समझाना सबसे जटिल कार्य होता है। सामाजिक संरचना एक बहुत ही विशिष्ट अवधारणा है जो कि न तो उत्पादन प्रणाली के समानार्थी है और न ही सामाजिक-आर्थिक सरंचना जैसे किसी *जेनेरिक* शब्द के।**

अब आते हैं श्यामसुन्दर की बेईमानी पर। इसके बाद श्यामसुन्दर मार्क्स का एक उद्धरण पेश करते हैं, जिसके आधार पर वे सिद्ध करना चाहते हैं कि मार्क्स सामाजिक-आर्थिक संरचना और उत्पादन पद्धति को एक ही चीज है। लेकिन जब आप उद्धरण पढ़ते हैं तो आप पाते हैं कि मार्क्स वहां आर्थिक ढांचे के ऐतिहासिक विकास की बात कर रहे हैं। वास्तव में, यहां मार्क्स ने सामाजिक-आर्थिक संरचना शब्द का इस्तेमाल ही नहीं किया है; श्यामसुन्दर ने अपने अनुवाद में 'आर्थिक संरचना' शब्द का प्रयोग किया है, और वह भी ग़लत है क्योंकि मार्क्स ने वहां economic formation या economic structure का प्रयोग ही नहीं किया है, बल्कि economic development शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अनुवाद श्यामसुन्दर ने 'आर्थिक संरचना' पेश किया है, ताकि वह अपनी ग़लत बात को सिद्ध कर सकें। वैसे तो सामाजिक-आर्थिक संरचना और आर्थिक संरचना भी एक चीज़ नहीं हैं, लेकिन मार्क्स ने तो इसमें आर्थिक संरचना शब्द का इस्तेमाल भी नहीं किया है। कोई भ्रम न रहे इसलिए मार्क्स का उद्धरण हम अंग्रेज़ी में ही पेश कर रहे हैं। मार्क्स कहते हैं:

"In broad outline, the Asiatic, ancient, feudal and modern bourgeois modes of production may be designated as epochs marking progress in the ***economic development*** of society. The bourgeois mode of production is the last antagonistic form of the social process of production..." (Karl Marx, *Contribution to the Critique of Political Economy*)

अब आप ही बताएं इसे क्या कहा जाय? इन महोदय ने जानबूझकर economic development का अनुवाद 'आर्थिक संरचना' पेश किया है! **क्या यह बेईमानी और फ़रेब नहीं है कि श्यामसुन्दर मार्क्स के लेखन को ग़लत उद्धृत कर रहे हैं और विकृत कर रहे हैं? जहां तक श्यामसुन्दर *हमें* मिस्कोट और मिसरेप्रज़ेण्ट कर रहे थे, वहां तक बात समझ में आती थी कि कोई व्यक्ति अपने कार्यकर्ताओं के समक्ष अपनी इज्जत बचाने के लिए कहां तक जा सकता है; लेकिन अपने आपको मार्क्सवादी क़रार देने वाला एक व्यक्ति यदि महान शिक्षकों की बातों को ही विकृत करे और तोड़े-मरोड़े तो उसे क्या कहा जाना चाहिए?**

श्यामसुन्दर मार्क्स के एक अन्य उद्धरण को पेश करते हैं। यहां भी वे economic formations का अनुवाद 'आर्थिक रूप' लिखते हैं, जबकि यहां मार्क्स समाज की आर्थिक संरचनाओं की बात कर रहे हैं, जिसका अर्थ समाज के आर्थिक संगठन से है; यानी समाज का आर्थिक आधार। **लेकिन श्यामसुन्दर एक बार फिर यहां यह समझने में अपनी असफलता का प्रदर्शन करते हैं कि एक ओर आर्थिक संरचना और दूसरी ओर सामाजिक संरचना की विशिष्ट अवधारणा, एक ही चीज़ नहीं है। श्यामसुन्दर न सिर्फ इन दो अवधारणाओं में बुरी तरह भ्रमित हैं, बल्कि वे उत्पादन प्रणाली को भी सामाजिक संरचना (जिसे वह नहीं समझते!), आर्थिक संरचना (इसे भी वह नहीं समझते!), आर्थिक आधार और उत्पादन सम्बन्ध (इसके बारे में भी उनकी समझ पर स्पष्ट रूप में सन्देह किया जा सकता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे) का समानार्थी मानते हैं।** श्यामसुन्दर के निम्न शब्द, जो कि उन्होंने उपरोक्त दो उद्धरणों के आधार पर कहे हैं और जिनमें से एक को उन्होंने मिस्कोट किया है, उनके इस भ्रम को निपट नंगा कर देते हैं: "अत: मार्क्स के अनुसार कोई विशिष्ट उत्पादन प्रणाली, समाज का कोई विशिष्ट *आर्थिक रूप* अथवा विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया ही सामाजिक-आर्थिक संरचना हो सकती है जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि यदि कोई 'व्यवस्था' विशिष्ट उत्पादन प्रणाली ही नहीं है तो उस व्यवस्था को सामाजिक-आर्थिक संरचना का नाम देना गैर-मार्क्सवादी समझ का सबूत माना जाएगा।" जैसा कि आप देख सकते हैं, कठमुल्लावाद किसी व्यक्ति के दिमाग़ को बुरी तरह से उजाड़ और बंजर बना सकता है और उसे सीधे तौर पर बेईमानी पर आमादा करवा सकता है।

पहली बात तो यह है कि मार्क्स उपरोक्त किसी सामाजिक-आर्थिक संरचना (जो एक अधिक सामान्य अर्थों वाली अवधारणा है) या सामाजिक संरचना (जो कि उत्पादन पद्धतियों के तन्तुबद्धीकरण से जुड़ी एक विशिष्ट अवधारणा है) की बात नहीं कर रहे हैं। एक स्थान पर मार्क्स ने जो शब्द इस्तेमाल किया है वह है 'economic development' (जिसे श्यामसुन्दर ने अपने मन से आर्थिक संरचना लिख दिया है) और दूसरे स्थान पर जो शब्द प्रयोग किया है वह है 'economic formation' जिसका अनुवाद श्यामसुन्दर ने आर्थिक रूप किया है। लेकिन श्यामसुन्दर 'अपनी इज्जत बचाओ अभियान' में हर प्रकार के बौद्धिक करतब करने को तैयार हैं और किसी भी चीज़ को कुछ भी बोल रहे हैं।

जहां तक सामाजिक संरचना का प्रश्न है, तो मार्क्स उसके बारे में क्या सोचते हैं? क्या मार्क्स मानते हैं कि किसी सामाजिक संरचना (जो कि श्यामसुन्दर के लिए 'सामाजिक-आर्थिक संरचना' की अवधारणा के समतुल्य है!) में केवल एक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली या पद्धति होती है? आइये देखते हैं। हम मार्क्स के कुछ उद्धरणों को अंग्रेज़ी में ही पेश कर रहे हैं ताकि अनुवाद की मनोगतता का प्रश्न ही न पैदा हो। मार्क्स का निम्न उद्धरण हम हिन्दी में पेश कर चुके हैं, लेकिन अब हम उसे अंग्रेज़ी में भी पेश कर रहे हैं। मार्क्स 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' में लिखते हैं:

"**In every form of society it is the determinant production and the relations engendered by it which assigns to all other productions and the relations engendered by them their place and importance.**" (Marx, *A Contribution to the Critique of Political Economy*)

आगे हम मार्क्स और एंगेल्स के और भी उद्धरण पेश करेंगे जिसमें कि वह बताते हैं कि एक समाज के आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व के मातहत कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों का तन्तुबद्धीकरण होता है। फिलहाल, आइये देखें कि लेनिन समाज (विशिष्ट ऐतिहासिक व ठोस रूप में मौजूद) या सामाजिक संरचना (social formation) के विषय में क्या कहते हैं:

"But not all who admit this take the trouble to consider what elements actually constitute the ***various socio-economic structures*** that exist in Russia at the present time. And this is the crux of the question.

"Let us enumerate these elements:

"(1) patriarchal, i.e., to a considerable extent natural, peasant farming;

"(2) small commodity production (this includcs the majority of those peasants who sell their grain);

"(3) private capitalism;

"(4) state capitalism;

"(5) socialism.

"Russia is so vast and so varied that all these different types of socio-economic structures are intermingled. This is what constitutes the specific feature of the situation."

(Lenin, *Tax in Kind*)

श्यामसुन्दर की मानें तो लेनिन ने मेरे ही समान यहां "ऐतिहासिक व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" की जड़ खोद डाली है! श्यामसुन्दर ने आगे दावा किया है कि लेनिन इस दौर के आर्थिक आधार को समाजवादी मानते ही नहीं थे कि समाजवादी आधार में कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के तन्तुबद्धीकरण का प्रश्न पैदा हो। **इस आपत्ति पर हम बाद में आएंगे, लेकिन पहले यह प्रश्न समझना ज़रूरी है कि इस समय के आर्थिक आधार का कोई चरित्र तो होगा ही! मिश्रित आर्थिक आधार तो कोई चीज़ होती नहीं है। हम मान लेते हैं कि यह एक प्राक्-समाजवादी पूंजीवादी आर्थिक आधार है, जैसा कि श्यामसुन्दर का दावा है। लेकिन फिर भी उस आर्थिक आधार में पांच प्रकार की उत्पादन पद्धतियां स्वयं लेनिन के अनुसार मौजूद हैं। ऐसे में भी बहस का मूल मुद्दा वही रहता है: अभी हम 1921 के रूसी समाज के आर्थिक आधार के विशिष्ट चरित्र के निर्धारण की बहस को छोड़ भी दें, तो क्या समाज के आर्थिक आधार में कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध हो सकते हैं? लेनिन तो ऐसा ही कह रहे हैं। आप देख सकते हैं कि लेनिन ने तत्कालीन रूसी समाज में कई 'सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं' (socio-economic formations) होने की बात की है; साथ ही, लेनिन ने समाज में कई उत्पादन पद्धतियों के तन्तुबद्धीकरण की बात की है।**

अगर श्यामसुन्दर की मानें तो लेनिन को भी श्यामसुन्दर का प्रवचन सुन लेना चाहिए! समझ नहीं आता की इतनी सामान्य-सी बात कोई कैसे नहीं समझ पा रहा है कि वास्तविक इतिहास में समाज हमेशा इसी रूप में अस्तित्वमान रहा है, जिसमें कि कई उत्पादन पद्धतियों का तन्तुबद्धीकरण रहा है और उसमें किसी एक उत्पादन पद्धति का प्रभुत्व रहा है। इतना बेतुका दावा कोई कैसे कर सकता है कि किसी भी सामाजिक संरचना (social formation) में केवल एक ही उत्पादन पद्धति व एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं? इसके तीन ही कारण हो सकते हैं: श्यामसुन्दर की वज्र मूर्खता या फिर उनका "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" या दोनों।

आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं कि किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना (जो कि श्यामसुन्दर के लिए उत्पादन प्रणाली और साथ ही सामाजिक संरचना का भी समानार्थी है) का अपना एक विशिष्ट प्रधान अन्तरविरोध होता है। इससे जो नतीजा वह निकालते हैं वह यह है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना में एक ही विशिष्ट उत्पादन प्रणाली होती है। यानी कि कोई गौण अन्तरविरोध होता ही नहीं है! तो फिर प्रधान अन्तरविरोध किस अन्तरविरोध के सापेक्ष प्रधान अन्तरविरोध होता है? ऐसे नतीजे के पीछे किस प्रकार की श्यामसुन्दरीय कुढ़मगज़ी है, वह हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं और दिखला चुके हैं कि श्यामसुन्दर को सामाजिक संरचना की अवधारणा के बारे में कुछ पता ही नहीं है। यह सच है कि हर उत्पादन प्रणाली और साथ ही हर सामाजिक संरचना का एक प्रधान अन्तरविरोध होता है। इस बात पर तो कोई बहस कभी थी ही नहीं। लेकिन इसके आधार पर श्यामसुन्दर पूछते हैं: "अब अभिनव सिन्हा के सामने प्रश्न यह है कि जाति व्यवस्था विशिष्ट उत्पादन प्रणाली न होकर भी यदि एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है तो इस सामाजिक-आर्थिक

संरचना का प्रधान अन्तरविरोध क्या है? अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था को एक सामाजिक-आर्थिक संरचना तो बताते हैं पर इस सामाजिक-आर्थिक संरचना के प्रधान अन्तरविरोध को गोल कर जाते हैं और इसकी जगह तीन आयामों की रट लगाते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जाति व्यवस्था का कोई प्रधान अन्तरविरोध है ही नहीं तो फिर जातियों के बीच अन्तरविरोध होना भी मुमकिन नहीं।" मार्क ट्वेन ने एक बार कहा था, "चुप रहकर अपनी मूर्खता के बारे में सन्देह बनाये रखना, मुंह खोलकर हर प्रकार के सन्देह को समाप्त कर देने से बेहतर है।" श्यामसुन्दर ने मार्क ट्वेन की इस हिदायत पर ग़ौर नहीं किया है और ऐसा मुंह खोला है कि मूर्खता का भारी कीचड़ फैला दिया है। आइये देखते हैं कि उपरोक्त उद्धरण में श्यामसुन्दर क्या नहीं समझ पा रहे हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई सामाजिक-आर्थिक संरचना (socio-economic structure) अपने आप में कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति हुए बिना, एक सामाजिक-आर्थिक संरचना हो सकती है; मिसाल के तौर पर, जिस प्रकार एंगेल्स ने ऊपर नस्ल के एक आर्थिक शक्ति होने की बात की है। इसी प्रकार एंगेल्स ने जीवन के पुनरुत्पादन के सम्बन्धों को भी समाज के भौतिक आधार का अंग बताया है, जैसा कि हम आगे एंगेल्स के कुछ उद्धरणों में देखेंगे। इसलिए श्यामसुन्दर का इस पर आश्चर्य ऐतिहासिक भौतिकवाद के विषय में उनके अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है। आगे वह पूछते हैं कि जाति व्यवस्था का प्रधान अन्तरविरोध क्या होता है, क्योंकि हरेक सामाजिक-आर्थिक संरचना का एक विशिष्ट अन्तरविरोध होता है। श्यामसुन्दर का कहना है कि यदि हम तीन आयामों की बात करते हैं, तो हमने प्रधान अन्तरविरोध को "गोल" कर दिया है! लेकिन ग़ौर से देखें तो पाएंगे कि श्यामसुन्दर की (कु)तर्क पद्धति से मार्क्सवाद-लेनिनवाद गोल है। **यदि श्यामसुन्दर का तर्क इस्तेमाल किया जाय तो जब लेनिन ने साम्राज्यवाद की पांच चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएं बतायीं तो उन्होंने साम्राज्यवाद का प्रधान अन्तरविरोध "गोल" कर दिया। या जब मार्क्स ने एशियाई उत्पादन पद्धति की विशेषता के तौर पर भूमि में निजी स्वामित्व के अभाव, सामन्ती वर्ग की अनुपस्थिति और एक प्राच्य निरंकुश राज्य द्वारा कर के रूप में अधिशेष के विनियोजन की बात की, तो मार्क्स ने चूंकि तीन बुनियादी खासियतों की बात की, इसलिए मार्क्स प्रधान अन्तरविरोध "गोल" कर गये। लेकिन जब आप थोड़ा गहराई से देखते हैं तो पाते हैं कि श्यामसुन्दर के ऐतिहासिक व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की समझदारी ही गोल-मटोल हो गयी है और बहस में पहले हो चुकी फजीहत के फलस्वरूप अब वह असली मुद्दे पर आने में टालमटोल कर रहे हैं!** हम देख सकते हैं कि अन्तरविरोध के विषय में श्यामसुन्दर की समझदारी भोण्डी और कठमुल्लावादी है। निश्चित तौर पर, जाति व्यवस्था का हर युग में एक प्रधान अन्तरविरोध रहा है। लेकिन वह अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के साथ परिवर्तित हुआ है। दूसरी बात यह है कि जाति व्यवस्था का अन्तरविरोध वास्तव में तत्कालीन समाज के वर्ग अन्तरविरोध की ही एक मिसआर्टिक्युलेटेड अभिव्यक्ति होता है और ऐसा ही हो सकता है क्योंकि वर्ग और जाति में एक संगति (correspondence) का सम्बन्ध है। इस नुक्ते पर आगे हम विस्तार से बात रखेंगे। आगे हम भी देखेंगे कि माओ के 'अन्तरविरोध के बारे में' निबन्ध को श्यामसुन्दर ने किस प्रकार इरादतन सन्दर्भों से काटकर उद्धृत किया है। लेकिन उससे पहले श्यामसुन्दर की एक दूसरी अज्ञानतापूर्ण बात पर चर्चा कर लें।

जातियों के बीच का अन्तरविरोध और वर्ग अन्तरविरोध: श्यामसुन्दर के संभ्रम

श्यामसुन्दर कहते हैं कि जातियों के बीच का प्रधान अन्तरविरोध बताया जाय, अन्यथा यह मानना होगा कि जातियों के बीच अन्तरविरोध ही नहीं है। **इस कथन से श्यामसुन्दर ने अपनी कुढ़मगजी के शरीर से आखिरी सूत का धागा भी नोच फेंका है।** आइये देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने उपलब्धि कैसे अर्जित की है।

पहली बात तो यह है कि जातियों का अन्तरविरोध अलग-अलग दौरों में समाज में वर्गों के अन्तरविरोध से ही जन्मता है, हालांकि वह वर्गीय अन्तरविरोधों का एक *मिसआर्टिक्युलेशन* है। दूसरे शब्दों, वर्गों के बीच के अन्तरविरोध जब सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते, तो वे किसी न किसी अस्मिता (जो जैविक रूप से या सामाजिक-आर्थिक रूप से संघटित हो सकती हैं) के रूप में प्रकट होते हैं। वास्तव में, अस्मिताओं के बीच के इस टकराव के मूल में वर्ग अन्तरविरोध ही होता है, लेकिन वह अपने आपको किसी अन्य रूप में अभिव्यक्त करता है। मिसाल के तौर पर, हाल में हुए मराठा मूक मोर्चों के पीछे भी वर्गीय अन्तरविरोध मौजूद थे; लेकिन ये वर्गीय अन्तरविरोध अपने आपको सही राजनीतिक वर्गीय रूप में अभिव्यक्त करने की बजाय, जातियों (दलित बनाम मराठा) के रूप में पेश कर रहे थे; मराठा आबादी का एक विचारणीय हिस्सा दलितों के हक़ों के खिलाफ *इसलिए* नहीं बोल रहा था कि वह मराठा है; बल्कि मराठा आबादी को पिछले तीन दशकों में कृषि संकट और बेरोज़गारी ने जिस कदर उजाड़ा है, वह उसके वर्गीय गुस्से का वास्तविक कारण है। लेकिन उसका वर्गीय गुस्सा यदि सही शत्रु की पहचान नहीं कर पाता, तो उसके जातिगत पूर्वाग्रहों को जागृत कर देना शासक वर्गों के लिए सहज बन जाता है। ठीक यही बात गुर्जर-मीणा के बीच के अन्तरविरोध के विषय में भी कही जा सकती है। **यदि आप यह नहीं मानते कि जातियों समेत तमाम अस्मिताओं के बीच होने वाला अन्तरविरोध वास्तव में समाज में मौजूद वर्गीय अन्तरविरोधों का ही मिसआर्टिक्युलेशन होता है, तो आपको मानना पड़ेगा कि पुरुष स्त्रियों को इसलिए दबाते हैं क्योंकि वे पुरुष हैं, या श्वेत लोग काले लोगों का उत्पीड़न इसलिए करते हैं क्योंकि वे श्वेत हैं, या फिर सवर्ण दलितों का उत्पीड़न इसलिए करते हैं क्योंकि वह सवर्ण है। इस प्रकार का तर्क वास्तव में द्वैध व्यवस्था सिद्धान्त (dual system theory) पेश करता है, जिसके अनुसार वर्गों की व्यवस्था और अन्य सामाजिक-आर्थिक श्रेणियों/अस्मिताओं की व्यवस्था दो *पूर्ण रूप से* स्वतन्त्र व्यवस्थाएं हैं, न कि सापेक्षिक रूप से स्वायत्त।** लगातार एकवाद (Monism) का हवाला देकर अपने आपको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ख़लीफा सिद्ध करने के चक्कर में श्यामसुन्दर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के एकवाद की बुनियादी शिक्षा भूल गये (या उन्होंने पढ़ी ही नहीं है)। **जातियों का अन्तरविरोध वर्गों के अन्तरविरोध से स्वतन्त्र तौर पर न तो अस्तित्व में आया है, न अस्तित्वमान रहा है और न ही आज अस्तित्वमान है।** वर्ण का विभाजन वास्तव में अपने मूल बिन्दु पर वर्ग विभाजन के रूप में ही पैदा हुआ और इस विभाजन के संहिताबद्धीकरण के कारण उसका धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण हो गया, जिसके कारण वर्ण-जाति व्यवस्था अस्तित्व में आयी और वर्ग व्यवस्था के साथ उसका एक संगति (correspondence) का सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह संगति का सम्बन्ध बदलती सामाजिक संरचनाओं के साथ बदलता रहा है, लेकिन हर युग में जाति व्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों के पीछे वर्गीय संरचना में और उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तन जिम्मेदार रहे हैं। जिसने भी हमारे शोध पत्रों का अध्ययन किया है, वह हमारी इस अवस्थिति से वाकिफ होगा। श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि उन्होंने इन शोध पत्रों को पढ़ा है। लेकिन जिस प्रकार की विचित्र बातें वह कर रहे हैं, उससे ऐसा लगता है कि या तो उन्होंने गम्भीरता से उन्हें पढ़ा नहीं है, या फिर उनकी समझ में ही नहीं आया है, जिसकी कि पर्याप्त सम्भावना है।

जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक संरचना (socio-economic structure) के तौर पर वर्ग समाज के आविर्भाव के साथ ही अस्तिव में आयी है और हरेक सामाजिक-आर्थिक संरचना के समान वह बदलती सामाजिक संरचना के साथ अपने स्वरूप में परिवर्तन करती रही है। अगर श्यामसुन्दर की मानें तो जाति व्यवस्था अपने उद्भव से लेकर औपनिवेशिक काल तक स्थैतिक रही है, उसमें कोई गति नहीं रही है, या ढाई हज़ार वर्षों से भी ज्यादा समय तक उसमें बस मात्रात्मक परिवर्तन हुए हैं। यानी कि जिस प्रकार श्यामसुन्दर द्वन्द्ववाद के नियमों से परे हैं, उसी प्रकार जाति व्यवस्था भी द्वन्द्ववाद के नियमों से परे है! सच्चाई यह है कि

बदलती उत्पादन पद्धति व सामाजिक संरचना के अनुसार जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन आये और गुणात्मक परिवर्तन आये। स्पष्ट प्रमाणों के साथ प्रदर्शित किया जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में एक श्रम विभाजन के रूप में पैदा हुई और इस रूप में वह उस समाज के भ्रूण रूपीय वर्ग विभाजन को दिखला रही थी; लेकिन चूंकि अभी निजी सम्पत्ति और नियमित और पर्याप्त मात्रा में अधिशेष उत्पादन की शुरुआत नहीं हुई थी, इसलिए पांचवी सदी ईसा पूर्व तक वर्णों की व्यवस्था ने (जो इस दौर में वर्गों की ही व्यवस्था थी) सुदृढ़ और ठोस रूप ग्रहण नहीं किया था। लोहे की खोज, गंगा के मैदानों में जंगलों के सफ़ाये और नियमित अधिशेष उत्पादन के साथ वर्ण व्यवस्था ने सुदृढ़ और स्पष्ट स्वरूप अख्तियार किया। लेकिन ऋग्वैदिक काल के अन्त से पूर्व हमें आनुवांशिक श्रम विभाजन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हम पिछले जवाब में वे सन्दर्भ पेश कर चुके हैं जिनमें दिखलाया गया है कि ऋग्वेद की ही कई ऋचाएं दासों द्वारा रचित थीं और इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि वर्णों के बीच काफी सामाजिक गतिमानता थी; दासी-पुत्रों के ब्राह्मण वर्ण में समेकित होने के भी स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं। **यह आनुवांशिक श्रम विभाजन इस वर्ण विभाजन (इस दौर में यह वर्ग विभाजन ही था) के धार्मिक व कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण के कारण ही हुआ और यह धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण ठीक इसलिए हुआ क्योंकि भ्रूण रूपीय वर्ग संरचना अब एक विकसित वर्ग संरचना का रूप ले चुकी थी, क्योंकि पांचवी सदी ईसा पूर्व आते-आते अधिशेष उत्पादन पर्याप्त मात्रा में और नियमित तौर पर होने लगा था और शासक वर्ग अपने प्रभुत्व को स्थायी रूप देना चाहता था।** यही दौर था जब वर्ण-जाति व्यवस्था के पहले आयाम *आनुवांशिक* श्रम विभाजन ने ठोस रूप ग्रहण किया और वर्ण-जाति व्यवस्था ने वह स्वरूप ग्रहण किया जिसके लिए उसे जाना जाता है।

पांचवी सदी ईसा पूर्व से लेकर कॉमन एरा की शुरुआत तक के दौर में वर्ण व्यवस्था के ढांचे में जातियों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई और सजातीय विवाह की व्यवस्था ने मज़बूती से पैर जमा लिये, हालांकि इसकी शुरुआत के कुछ भ्रूण रूप पहले ही दिखाई देने लगे थे। कॉमन एरा की शुरुआत के तीन से चार सदियों पहले ही कुछ जातियों के प्रति विकर्षण के भाव और अस्पृश्यता के भ्रूण रूपों के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन अस्पृश्यता की प्रथा और अस्पृश्य जातियों की संख्या में वृद्धि कॉमन एरा के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची। **यह सारा विवरण सप्रमाण हम अपने शोध में रख चुके हैं, जो कि यह दिखलाता है कि हम वर्ण-जाति व्यवस्था के मूल स्रोत के तौर पर श्रम विभाजन को चिन्हित करते हैं; कि धार्मिक-कर्मकाण्डीय संहिताबद्धीकरण और अश्मीभूतीकरण के कारण किस प्रकार वर्ण-जाति व्यवस्था का वर्गों की व्यवस्था के साथ अतिच्छादन समाप्त हुआ और एक संगति का सम्बन्ध विकसित हुआ जिसका यही अर्थ है कि वर्ण-जाति व्यवस्था ने निश्चित अर्थों में, यानी कि *सापेक्षिक स्वायत्तता* हासिल कर ली; कि वर्ण-जाति व्यवस्था के अन्य दो आयाम निश्चित ऐतिहासिक कारणों के चलते अलग-अलग दौर में अस्तित्व में आते हैं और सुदृढ़ होते हैं; कि सभी युगों में किस प्रकार जाति व्यवस्था की गतिकी वर्ग संरचना और उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तनों से निर्धारित हो रही थी।** अगर श्यामसुन्दर ने यह पूरी बात समझी होती तो वह ऐसा मूर्खतापूर्ण प्रश्न पूछते ही नहीं कि जाति व्यवस्था का प्रधान अन्तरविरोध क्या है?

श्रम विभाजन और उत्पादन पद्धति: श्यामसुन्दर के दिग्भ्रम

आगे श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि यदि हम मानते हैं कि जाति व्यवस्था का एक आयाम श्रम विभाजन है तो फिर हमें मानना पड़ेगा कि जाति व्यवस्था एक उत्पादन प्रणाली भी है क्योंकि हर श्रम विभाजन एक उत्पादन प्रणाली को जन्म देता है। इसके समर्थन में श्यामसुन्दर मार्क्स का एक उद्धरण पेश करते हैं जिसमें उन्होंने दावा किया है कि मार्क्स कहते हैं कि श्रम विभाजन उत्पादन की एक प्रणाली होती है। आइये देखें कि

मार्क्स ने क्या लिखा है, क्योंकि यहां भी श्यामसुन्दर निकृष्ट किस्म की बौद्धिक बेईमानी पर आमादा हैं। मार्क्स लिखते हैं:

"But division of labour is an ***organization of production*** which has grown up naturally, a web which has been, and continues to be, woven behind the backs of the producers of commodities." (Marx, *Capital, Vol-I,* Penguin Edition, p. 201, *emphasis ours*)

उपरोक्त अनुवाद अंग्रेजी में उपलब्ध 'पूंजी' का सबसे सटीक अनुवाद है। जिसे श्यामसुन्दर उत्पादन पद्धति समझ रहे हैं, वह दरअसल मूल अंग्रेज़ी में organization of production है। आइये रूसी संस्करण में इसका अनुवाद देखते हैं:

"But division of labour is a ***system of production*** which has grown up spontaneously and continues to grow behind the backs of the producers." (Marx, *Capital, Vol-I,* Progress Publishers, Moscow, p. 108)

मार्क्स ने 'system of production' का उपयोग बहुत से अर्थों में किया है, जिसमें से उत्पादन प्रणाली (mode of production) मात्र एक अर्थ है। मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खण्ड में ही एक स्थान पर फैक्ट्री सिस्टम को भी एक system of production कहा है। यह देखें:

"We also know that in no other ***system of production*** is improvement so continuous, and the composition of capital employed so constantly changing as in the factory system." (Marx, *Capital, Vol-I,* Moscow, p. 423)

फैक्ट्री उत्पादन पूंजीवाद के साथ अस्तित्व में आता है लेकिन यह पूंजीवाद के बाद भी बरकरार रहता है, हालांकि कारखाने का सामाजिक संगठन बदल जाता है; लेकिन जहां तक फैक्ट्री सिस्टम की बात है, वह समाजवाद में कायम रहता, बल्कि बढ़ता है। इसलिए फैक्ट्री सिस्टम और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली एक दूसरे के समानार्थी नहीं हैं। और देखें:

"Among the instruments of labour, those of a mechanical kind, which, taken as a whole, we may call the bones and muscles of production, offer much more decisive evidence of a given social epoch of production than those which, like pipes, tubs, baskets, jars, etc., serve only to hold the material for labour, and may be given the general denotation of the *vascular* ***system of production***." (Marx, *Capital, Vol-I,* Penguin Edition, p. 286)

जैसा कि आप देख सकते हैं, यहां मार्क्स श्रम के उपकरणों को भी उत्पादन का तंत्र या व्यवस्था नाम दे रहे हैं। मार्क्स के लेखन से ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे कि दिखलाया जा सकता है कि उनके लिए उत्पादन प्रणाली (mode of production) एक सटीक तकनीकी शब्द था, जो कि उत्पादन की पद्धति को निर्दिष्ट करता था जबकि 'उत्पादन की व्यवस्था/तन्त्र' (system of production) एक बेहद आम और *जेनेरिक* शब्द है, जिसका मार्क्स ने अलग सन्दर्भों में अलग अर्थों के साथ इस्तेमाल किया है। **लेकिन श्यामसुन्दर सन्दर्भ गोल करके organization of production का अनुवाद उत्पादन पद्धति के रूप में करते हैं, ताकि साबित कर सकें कि श्रम विभाजन वास्तव में उत्पादन पद्धति होता है, या उत्पादन पद्धति को पैदा करता है। जबकि सच्चाई यह है कि हर उत्पादन पद्धति विशिष्ट प्रकार के श्रम विभाजन या श्रम विभाजनों को जन्म देती है। आइये इस पहलू को भी थोड़ा विस्तार में समझ लेते हैं, क्योंकि श्यामसुन्दर का डिब्बा यहां भी गोल है।**

सामाजिक श्रम विभाजन और उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम विभाजन: श्यामसुन्दर के मतिभ्रम

मार्क्स के उपरोक्त उद्धरण को, जो कि श्यामसुन्दर ने पेश किया है, यदि आप पैराग्राफ के शुरू से पढ़ें तो आप पाते हैं कि मार्क्स यहां **'सामाजिक श्रम विभाजन'** की बात कर रहे हैं, जो कि उत्पादन की प्रक्रिया में 'श्रम विभाजन' से जुड़े होने के बावजूद भिन्न अर्थ रखता है। **श्यामसुन्दर को पता ही नहीं है कि *सामाजिक श्रम विभाजन* और *उत्पादन प्रक्रिया में श्रम विभाजन* में क्या अन्तर है। *सामाजिक श्रम विभाजन* किस प्रकार का होगा, यह किसी दौर की उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध से निर्धारित होता है, न कि सामाजिक श्रम विभाजन तय करता है कि किसी दौर की उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध क्या होंगे, जैसा कि श्यामसुन्दर को लगता है। दूसरी बात, *उत्पादन प्रक्रिया में श्रम विभाजन* के तमाम रूप कई प्रकार की उत्पादन व्यवस्था में पाए जा सकते हैं और ऐसा ज़रूरी नहीं है कि कोई विशिष्ट श्रम विभाजन किसी विशिष्ट उत्पादन पद्धति में ही मौजूद हो।** आइये देखते हैं कि मार्क्स सामाजिक श्रम विभाजन के बारे में क्या विचार रखते हैं और उसे उत्पादन प्रक्रिया में श्रम विभाजन से किस प्रकार भिन्न करते हैं। मार्क्स लिखते हैं:

"The appearance of products as commodities requires a level of development of the ***division of labour within society*** such that the separation of use-value from exchange value, a separation which first begins with barter, has already been completed. But such a degree of development is common to many economic formations of society *[okonomische Gesilschaftsformationen]*, with the most diverse historical characteristics..." (Marx, *Capital, Vol-I*, p. 273, Penguin Edition, *emphasis ours*)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मार्क्स ने यहां सामाजिक श्रम विभाजन को स्पष्टता से समझाया है। मार्क्स यहां बताते हैं कि सामाजिक श्रम विभाजन पहली बार उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के विभाजन के साथ ही शुरू हो सकता था, लेकिन अलग-अलग समाजों में यह अलग-अलग रूप लेता है। मार्क्स एक अन्य स्थान पर स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक श्रम विभाजन न सिर्फ मात्रा में बल्कि प्रकार में भी उत्पादन प्रक्रिया में श्रम विभाजन से भिन्न होता है। मार्क्स लिखते हैं:

"But in spite of the numerous analogies and links connecting them, ***the division of labour in the interior of a society***, and that ***in the interior of a workshop***, differ not only in degree, but also in kind." (ibid, p. 474)

मार्क्स सामाजिक श्रम विभाजन और उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम विभाजन के बीच के फर्क को न समझ पाने के लिए एडम स्मिथ की आलोचना करते हुए लिखते हैं:

"Now it is quite possible to imagine, *with Adam Smith, that the difference between the above social division of labour, and the division in manufacture, is merely subjective, exists merely for the observer,* who in the case of manufacture can see at a glance all the numerous operations being performed on one spot, while in the instance given above, the spreading-out of the work over great areas and the great number of people employed in each branch of labour obscure the connection. ***But what is it that forms the bond between the independent labours of the cattle-breeder, the tanner and the shoemaker? It is the fact that their respective products are commodities. What, on the other hand, characterizes the division of labour in manufacture? The fact that the specialized worker produces no commodities.*** It is only the common product of all the specialized workers that becomes a commodity." (*ibid*, p.475, *emphasis ours*)

जैसा कि उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है, सामाजिक श्रम विभाजन का अर्थ होता है समूचे सामाजिक उत्पादन का विभिन्न शाखाओं में विभाजित होना। इसके बिना समाज में मालों का उत्पादन और विनिमय सम्भव नहीं है। यदि एक उत्पादक ही समस्त वस्तुओं का उत्पादन करता है, तो फिर विनिमय की कोई आवश्यकता नहीं होगी और वस्तुएं माल का रूप ग्रहण ही नहीं करेंगी। सामाजिक श्रम विभाजन दिखलाता है कि समाज में विनिमय सम्बन्धों की शुरुआत कैसे हुई। **सामाजिक श्रम विभाजन आदिम समाज को छोड़कर हर समाज की विशेषता है; *लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम विभाजन आदिम समाज में भी होता था, जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने प्राकृतिक लैंगिक श्रम विभाजन (natural sexual division of labour) कहा था।*** सामाजिक श्रम विभाजन माल उत्पादन के मूल में है और यह आदिम समाज में नहीं पैदा हुआ था और न ही हो सकता था। सामाजिक श्रम विभाजन आदिम समाज के उपरान्त सभी वर्ग समाजों की खासियत रहा है, लेकिन यह अलग-अलग वर्ग समाज में अलग-अलग रूप अख्तियार करता है। **यह सामाजिक श्रम विभाजन किसी उत्पादन प्रणाली के स्वरूप को निर्धारित नहीं करता है, जैसा कि श्यामसुन्दर कल्पना करते हैं, हालांकि उन्हें इसमें और उत्पादन प्रक्रिया में श्रम विभाजन के फर्क के बारे में भी नहीं पता है। वास्तव में, उत्पादन प्रणाली व उत्पादन सम्बन्ध निर्धारित करते हैं कि सामाजिक श्रम विभाजन कैसा होगा; दूसरे शब्दों में, उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बन्ध सामाजिक श्रम विभाजन के विनियामक (regulator) होते हैं। मिसाल के तौर पर, प्राक्-पूंजीवादी समाजों में सामाजिक श्रम विभाजन परम्परा, धर्म, कानून व अन्य राजकीय उपकरणों द्वारा की जाने**

वाली ज़ोर-ज़बर्दस्ती से निर्धारित होता था; लेकिन पूंजीवादी समाज में सामाजिक श्रम विभाजन को मुनाफे की औसत दर की गति निर्धारित करती है।

उत्पादन की प्रक्रिया के भीतर होने वाला श्रम विभाजन एक भिन्न चीज़ है, हालांकि इसका रिश्ता सामाजिक श्रम विभाजन से होता है। 'पूंजी' के पहले ही खण्ड में मार्क्स ने इसे बड़ी स्पष्टता के साथ बताया है। वास्तव में, यदि आप चौदहवें अध्याय के चौथे भाग 'मैन्युफैक्चर में श्रम विभाजन और समाज में श्रम विभाजन' को पढ़ें, तो आपको यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। लेकिन श्यामसुन्दर को इन दोनों अवधारणाओं में अन्तर नहीं पता है। वैसे, उनसे हमें यह उम्मीद भी नहीं थी।

खैर, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मार्क्स को ग़लत उद्धृत करके और ग़लत उद्धृत करने बाद ग़लत समझकर श्यामसुन्दर लिखते हैं: "...जब कार्ल मार्क्स खुद यह लिख रहे हैं कि श्रम विभाजन उत्पादन की प्रणाली होती है तो इसका मायने यह है कि किसी भी विशिष्ट उत्पादन प्रणाली का आधारभूत स्तंभ श्रम विभाजन होता है और उसके बाकी पहलू या आयाम इसी आधार स्तंभ आधारित और उसकी उपज होते हैं।"

हमारे पिछले जवाब पर कुछ साथी थोड़ा ख़फ़ा हो गये थे कि हमने श्यामसुन्दर को मूर्ख क्यों कहा। हमारा उनसे कॉमरेडाना प्रश्न है कि आप ही बतायें कि अगर हर पृष्ठ की हर दूसरी या तीसरी पंक्ति में आपको कोई प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बात मिलेगी, तो आप विशेषणों का प्रयोग करने से बचने के प्रयास में कब तक कामयाब होंगे? **मार्क्स ने ऐसा न तो लिखा है और न ही उसका ऐसा मतलब है, जैसा कि श्यामसुन्दर समझ रहे हैं। हम ऊपर यह मूल उद्धरणों से दिखला चुके हैं। मार्क्स और एंगेल्स साफ तौर पर बताते हैं कि किसी भी उत्पादन प्रणाली की पहचान की पहली कसौटी यह है कि अधिशेष का विनियोजन कैसे होता है और कौन करता है।** मार्क्स लिखते हैं:

"*What distinguishes the various economic formations of society, the distinction between for example a society based on slave labour and a society based on wage-labour -- is the form in which this surplus labour is in each case extorted from the immediate producer, the worker.*" (Ibid, p. 325)

यह विनियोजन इस आधार पर तय होता है कि उत्पादन के साधनों का और उत्पादन की स्थितियों (आगे हम देखेंगे कि श्यामसुन्दर इस अवधारणा का अर्थ भी नहीं समझते हैं) का स्वामी कौन है। यही कारण है कि पूंजीवादी समाज का बुनियादी अन्तरविरोध, यानी कि पूंजी और उजरती श्रम के बीच का अन्तरविरोध, केवल उसी प्रक्रिया के द्वारा पैदा हो सकता था जिसके ज़रिये प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों से वंचित किया गया और उत्पादन के साधन पूंजीपति वर्ग की इज़ारेदारी बन गये, यानी आदिम पूंजी संचय। यही वह 'मूल पाप' था जिसने पूंजी सम्बन्ध (capital-relation) को जन्म दिया। इसके बिना पूंजी-सम्बन्ध (capital relation) अस्तित्व में नहीं आ सकता था। **यही कारण है कि उत्पादन पद्धति और उस पर आधारित उत्पादन सम्बन्धों का निर्धारण सर्वप्रथम स्वामित्व सम्बन्धों (relations of ownership) से होता है, न कि श्रम विभाजन के रूप से; उल्टे, यही सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध के अन्य दो पहलुओं को निर्धारित करता है: यानी कि श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्ध। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, "उत्पादन की स्थितियों के मालिकों और प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच का सीधा सम्बन्ध समूची सामाजिक संरचना के गूढ़तम गुप्त व प्रच्छन्न आधार को**

उजागर करता है।" लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार एक प्रकार का श्रम विभाजन किसी दैवीय स्रोत से विकसित हो जाता है और फिर वह एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति को जन्म देता है। यह फिर से दिखलाता है कि श्यामसुन्दर को मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं पता है। अपनी मूर्खतापूर्ण बात को सही सिद्ध करने के लिए श्यामसुन्दर मार्क्स के दो उद्धरण भी पेश कर देते हैं, जो कि अन्ततः यही दिखलाते हैं कि जब कोई व्यक्ति बिना समझे उद्धरणबाज़ी करता है, तो वह किस प्रकार उपहास का पात्र बन जाता है। पहले उद्धरण में मार्क्स ने कहा है कि पुश्तैनी श्रम विभाजन की व्यवस्था, जिस पर भारत की जाति व्यवस्था आधारित है, आधुनिक उद्योगों व रेलवे के साथ समाप्त हो जायेगी। यहां तीन बातों को समझना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि मार्क्स ने 1853 में यह प्रेक्षण एक अखबार के लिए लिखे गये लेख में पेश किया था और उस समय जाति व्यवस्था का प्रमुख आयाम आनुवांशिक श्रम विभाजन की व्यवस्था ही था; नतीजनत, मार्क्स अपने समय के अनुसार, एक सन्तुलित प्रेक्षण ही रख रहे थे। लेकिन मार्क्स ने जाति व्यवस्था पर कोई अलग शोध नहीं किया था। **श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादी लोग समझते हैं कि मार्क्सवाद का अर्थ है मार्क्स द्वारा कही गयी सभी बातों का कुल योग। मार्क्स ने भारत में विषय में और भी कई बातें कहीं हैं, जो कि सही नहीं हैं, जैसे कि एशियाई उत्पादन पद्धति की बात, हालांकि मार्क्स 1870 के दशक की शुरुआत के साथ ही अपनी इस अवधारणा को त्यागने लगे थे।** इसके दस्तावेज़ी प्रमाणों पर हम आगे आएंगे, क्योंकि श्यामसुन्दर को लगता है कि एशियाई उत्पादन पद्धति, सामन्ती उत्पादन पद्धति और उनकी 'जाति उत्पादन पद्धति' एक ही चीज़ है। मार्क्स के लिए एशियाई उत्पादन पद्धति सामन्ती उत्पादन पद्धति से बिल्कुल भिन्न थी क्योंकि इसमें सामन्ती लगान और सामन्ती वर्ग की उपस्थिति नहीं थी और प्राच्य निरंकुश राज्य सीधे ग्राम समुदाय से कर के रूप में ट्रिब्यूट वसूलता था और इस ग्राम समुदाय में कोई आन्तरिक गति नहीं थी क्योंकि इसमें निजी सम्पत्ति नहीं थी। बाद में मार्क्स ने अपने विचारों को कैसे बदला, इस पर हम आगे आएंगे। फिलहाल, हम मौजूदा चर्चा पर लौटते हैं।

दूसरी बात यह है कि जाति व्यवस्था के विषय में मार्क्स के विचारों का स्रोत कुछ अंग्रेज़ प्रशासकों व चिन्तकों (जे. एस. मिल, एल्फिंस्टन, आदि) द्वारा लिखी गयी पुस्तकें थीं, जो कि स्वयं जाति व्यवस्था के मूल और विकास को लेकर बुरी तरह से भ्रमित थे। **ऐसे में, मार्क्स के विचार बिखरे हुए और अधूरे ही हो सकते थे। आज, यानी की मार्क्स के इन प्रेक्षणों के लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद, किसी एक उद्धरण के आधार पर श्यामसुन्दर यदि जाति व्यवस्था के बारे में अपनी अज्ञानतापूर्ण बातों के लिए वैधीकरण तलाश रहे हैं, तो इस कार्रवाई के लिए सबसे उचित विशेषण कठमुल्लावाद ही है। भोजपुरी में एक कहावत होती है: दादा ने कहा था कि सरसों ही लादना!**

तीसरी बात, मार्क्स अपने जीवन के बाद के दौर में पेश प्रेक्षणों में जाति व्यवस्था और भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में दूसरे किस्म के प्रेक्षण भी पेश करते हैं। 'पूंजी' के पहले खण्ड में ही मार्क्स जातियों अथवा गिल्डों (जो कि अनमनीय पेशागत श्रम विभाजन का ही एक रूप थे) के अश्मीभूतीकरण की बात करते हैं, जो कि समाज के एक नियम या विधि के तौर पर स्थापित कर दी जाती है। मार्क्स लिखते हैं:

"On the other hand, the conversion of fractional work into the life-calling of one man, corresponds to the tendency shown by earlier societies, to make trades hereditary; either to petrify them into castes, or whenever definite historical conditions beget in the individual a tendency to vary in a manner incompatible with the nature of

castes, ***to ossify them*** into guilds...when a certain degree of development has been reached, the heredity of castes and the exclusiveness of guilds are ordained as a law of society." (Marx, *Capital, Vol-I,* Progress Publishers, Moscow, p. 321)

जब भी कोई सामाजिक विभाजन पथरा जाता है (petrify) या अश्मीभूत (ossify) हो जाता है, तो वह एक सापेक्षिक रूप से स्थैतिक व स्वायत्त रूप ले लेता है क्योंकि वह समाज के एक कानून का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अधिरचना के किसी भी अंग के समान, कानून और विचारधारा की एक सापेक्षिक स्वायत्तता होती है और इसी वजह से वह आर्थिक आधार के सम्बन्धों को हूबहू प्रतिबिम्बित नहीं करती, और साथ ही, उन सम्बन्धों पर भी कार्रवाई करती है। ऐसे में, यदि उत्पादन सम्बन्ध बदलते भी हैं तो भी अश्मीभूतीकृत आनुवांशिक श्रम विभाजन उनके साथ अतिच्छादित नहीं होते, और उन्हें ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित नहीं कर सकते। मार्क्स के ही द्वन्द्वात्मक अप्रोच से इस बात को समझा जा सकता है। लेकिन जो मार्क्सवाद को मार्क्स के समस्त कथनों का समुच्चय मानते हैं, उनसे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक अप्रोच को लागू करने की उम्मीद करना आकाश-कुसुम की अभिलाषा के समान है।

लेकिन इन सब से ज्यादा अहम बात यह है कि मार्क्स का यह कार्य नहीं था कि वह भारत की जाति व्यवस्था का इतिहास लिखें। यह कार्य भारत के मार्क्सवादियों का था जिन्हें मार्क्स और एंगेल्स ने द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में वह सार्वभौमिक वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति दी, जिससे कि वे इस कार्य को कर सकें। और भारत के उत्कृष्ट मार्क्सवादी इतिहासकारों ने यह कार्य किया भी है। मार्क्स का रूस के ग्राम समुदायों (मीर) के बारे में एक समय यह मत था कि वह रूस में समाजवाद का प्रारम्भ बिन्दु बन सकते हैं क्योंकि मार्क्स के पास रूस के इतिहास के जो स्रोत उपलब्ध थे, उनके अनुसार इन ग्राम समुदायों में निजी सम्पत्ति और वर्ग विभाजन अनुपस्थित था। जाहिर है, यह अवधारणा ग़लत थी और लेनिन और बोल्शेविकों ने दिखलाया कि वास्तव में ग्राम समुदाय के बाहरी खोल के भीतर वर्ग विभाजन और किसानों का विभेदीकरण विकसित हो चुका था। मार्क्स के भी बाद के अध्ययन के नोट्स से यह बात जाहिर होती है कि स्वयं मार्क्स ने इस अवधारणा को छोड़ दिया था। यह रूसी मार्क्सवादियों का कार्य था कि वह रूस के इतिहास की एक मार्क्सवादी समझदारी पेश करें, न कि मार्क्स का। श्यामसुन्दर के अनुसार, लेनिन को मार्क्स के रूसी ग्राम समुदाय के बारे में की गयी एक टिप्पणी से चिपक जाना चाहिए था और उसी से चिपके रहना चाहिए था। कठमुल्लावादी लोगों की यही खासियत होती है कि वह किसी भी अवधारणा या विशिष्ट टिप्पणी से जोंक के समान चिपक जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि मार्क्सवाद एक अप्रोच और पद्धति है, एक जीवन्त विज्ञान है, न कि कठमुल्लावादी जड़सूत्रों का एक समुच्चय। श्यामसुन्दर इस रोग से बुरी तरह से ग्रसित हैं।

आगे श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि श्रम विभाजन अकेले ही एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध को पैदा करता है। अभी हम इस पहलू पर विचार नहीं करेंगे कि श्यामसुन्दर ने अपने जवाब में कहीं भी सामाजिक श्रम विभाजन और उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम विभाजन में कोई फर्क ही नहीं किया है। यहां हम अभी केवल यह दिखाएंगे कि श्यामसुन्दर ने अपने वैधीकरण के लिए मार्क्स के एक उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर पेश किया है। आइये देखते हैं कैसे। मार्क्स अपने उद्धरण में बताते हैं कि श्रम विभाजन समाज की विभिन्न अवस्थाओं की एक आम विशेषता है, चाहें वह माल उत्पादन के आधार पर हो या फिर किसी अन्य आधार पर, लेकिन मैन्युफैक्चर जैसा श्रम विभाजन केवल पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से ही पैदा हो सकता है। **मार्क्स के अनुसार, यह मैन्युफैक्चर का श्रम विभाजन नहीं है जो कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को पैदा करता है है, बल्कि यह पूंजीवादी उत्पादन पद्धति है जो कि मैन्युफैक्चरिंग के श्रम विभाजन को पैदा करती है। अगर**

मैन्युफैक्चर का श्रम विभाजन पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को जन्म देता है, तो फिर कारखाना व्यवस्था में श्रम विभाजन के परिवर्तित होने के साथ एक नयी उत्पादन पद्धति पैदा हो जानी चाहिए। वास्तव में, माल उत्पादन के सामान्यीकृत होने के बाद, यानी कि पूंजीवादी माल उत्पादन के पैदा होने के बाद, कई प्रकार के श्रम विभाजन उत्पादन में देखे जा सकते हैं। सामान्य सहकार, मैन्युफैक्चर और कारखाना व्यवस्था पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के ही अलग-अलग दौरों में मौजूद थे, हालांकि इसमें से मैन्युफैक्चर और कारखाना व्यवस्था विशेष तौर पर पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की विशेषता है। उस उद्धरण को मूल अंग्रेज़ी में देखें जिसे श्यामसुन्दर ने उद्धृत तो किया है, लेकिन समझा नहीं है:

"*While the division of labour in society at large, whether mediated through the exchange of commodities or not, can exist in the most diverse economic formations of society, the division of labour in the workshop, as practised by manufacture, is an entirely specific creation of the capitalist mode of production.*"

जैसा कि आप देख सकते हैं, मार्क्स यह नहीं कह रहे कि हर श्रम विभाजन एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति को जन्म देता है, बल्कि यह कह रहे हैं कि हर उत्पादन पद्धति विशिष्ट प्रकार के श्रम विभाजन को जन्म देती है, जैसे कि यह पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ही थी, जो कि मैन्युफैक्चर में मौजूद श्रम विभाजन को जन्म दे सकती थी। अगर श्यामसुन्दर ने थोड़ा आगे और पढ़ा होता और मार्क्स के उद्धरण को सन्दर्भों में रखकर और उसके अर्थ समझ कर पेश किया होता, तो वह ऐसे गड़बड़झाले में नहीं फंसते। लेकिन वह "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" में इस कदर व्यस्त थे, कि बस विषय अनुक्रमणिका देखकर कहीं से भी कुछ भी उठाकर चेंप दिया है। देखें मार्क्स उपरोक्त कथन के कुछ ही पंक्तियों आगे क्या कहते हैं:

"*An increased number of workers under the control of one capitalist is the natural starting-point, both of co-operation in general and of manufacture in particular. But the division of labour in manufacture makes this increase in the number of workers a technical necessity.*"

जैसा कि आप देख सकते हैं, **मार्क्स यहां और स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि कोई श्रम विभाजन अपने आप में किसी उत्पादन प्रणाली, उत्पादन सम्बन्ध या सामाजिक-आर्थिक प्रणाली को जन्म नहीं देता है। इसके उलट एक उत्पादन पद्धति अपने विकास के अलग-अलग दौरों में कई प्रकार के श्रम विभाजनों को पैदा कर सकती है।** 'पूंजी' के पहले खण्ड में ही मार्क्स यह भी स्पष्ट करते हैं कि मैन्युफैक्चर के तहत होने वाला श्रम विभाजन पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का एकमात्र विशिष्ट श्रम विभाजन नहीं है, बल्कि मशीनरी के मातहत होने वाला श्रम विभाजन भी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की ही विशिष्ट उपज है। देखें मार्क्स क्या लिखते हैं:

"In manufacture, it is the workers who, either singly or in groups, must carry on each particular process with their manual implements. The worker has been appropriated by the process; but the process had previously to be adapted to the worker. *This subjective principle of the division of labour no longer exists in production*

by machinery. **Here the total process is examined objectively, viewed in and for itself, and analysed into its constitutive phases.** The problem of how to execute each particular process, and to bind the different partial processes together into a whole, is solved by the aid of machines, chemistry, etc." (Marx, *Capital, Vol-I,* Penguin Edition, p. 501, *emphasis ours*)

अब अगर श्यामसुन्दर की मानें, तो जब मशीनरी के मातहत होने वाले श्रम विभाजन के तौर पर एक नया श्रम विभाजन पैदा हुआ, तो फिर पूंजीवाद के स्थान पर कोई अन्य उत्पादन पद्धति आ जानी चाहिए! ऐसी तर्क पद्धति को मूर्खतापूर्ण कहने की बजाय क्या कहा जाय? सही कहें तो एक ही श्रम विभाजन *अनुकूलित रूप में* कई उत्पादन पद्धतियों में भी बना रह सकता है। मिसाल के तौर पर, यदि आप लेनिन के 'रूस में पूंजीवाद का विकास' को पढ़ें तो वह बताते हैं कि कारखाना व्यवस्था के साथ आधुनिक पूंजीवाद अपने सबसे विकसित रूप में पहुंचता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता है कि किसी भी पूंजीवादी देश में हथकरघा उद्योग के रूप में सामान्य सहकार, मैन्युफैक्चर के रूप समाप्त हो जाते हैं। वास्तव में, पूंजीवादी कारखाना उद्योग के 'आउटसाइड डिपार्टमेण्ट' या 'अपेण्डेज टू दि फैक्ट्री' के तौर पर वे बने रहते हैं। लेनिन लिखते हैं:

"Finally, ***capitalist domestic industry is often an appendage to the factory.*** The epoch of large-scale machine industry is marked in all countries by the extensive development of capitalist domestic industry in such branches as, for example, ready-made clothing. We have spoken above of the wide extent of such industry in Russia, of the conditions peculiar to it and of the reason for considering it more correct to describe it in the chapter on manufacture. In order to give anything like a full description of the appendage to the factory one needs complete statistics on the occupations of the population, or monographic descriptions of the entire economic life of factory centres and their environs. ***But even the fragmentary data with which we have had to content ourselves show the incorrectness of the opinion widespread here that factory industry is isolated from other forms of industry, that the factory population is isolated from the population not employed in factories.*** The development of forms of industry, like that of all social relationships in general, cannot but proceed very gradually, *among a mass of interlocking, transitional forms and seeming reversions to the past.* ***Thus, the growth of small industries may express (as we have seen) the progress of capitalist manufacture; now we see that the factory, too, may sometimes develop small industries.*** Work for the "buyer-up," is also an appendage to both the manufactory and the factory. To give a proper assessment of the significance of such phenomena, we must consider them in

conjunction with the whole structure of industry at the given stage of its development and with the main trends of this development." (Lenin, *Development of Capitalism in Russia,* Collected Works, Vol-III, Progress Publishers, Moscow, p.535-36, *emphasis ours*)

लेनिन यहां एक सही द्वन्द्वात्मक पद्धति का शानदार उदाहरण पेश करते हैं, जो कि इतिहास को सूत्रों से नहीं निकालती बल्कि वास्तविक इतिहास से सूत्रों को निसृत करती है। **आर्थिक श्रेणियां वास्तविक समाज में आपको टहलती हुई नहीं मिलती हैं, बल्कि वास्तविक समाज की सामाजिक परिघटना के अमूर्तीकरण के तौर पर और उसके विश्लेषण के उपकरण के तौर पर ही आर्थिक श्रेणियों का महत्व होता है, जैसे कि श्रम विभाजन, उत्पादन पद्धति, आदि। लेकिन श्यामसुन्दर कठमुल्लावादी तरीके से आर्थिक श्रेणियों को इतिहास में हूबहू चरितार्थ होता देखना चाहते हैं और जब उन्हें साक्षात् आर्थिक श्रेणियां टहलती नहीं मिलती हैं, तो वह इतिहास पर ही नाराज़ हो जाते हैं और इतिहास और आर्थिक श्रेणियों, दोनों का ही विकृतिकरण पेश करने लगते हैं।** देखें कैसे श्यामसुन्दर श्रम विभाजन को एक विशिष्ट उत्पादन प्रणाली को निर्धारित करने वाला कारक करार देते हैं: "आनुवांशिक श्रम विभाजन अपने आप में श्रम विभाजन का एक विशिष्ट रूप है और इसीलिए श्रम-विभाजन के इस विशिष्ट रूप पर आधारित सामाजिक-आर्थिक संरचना यानी एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति का बोध कराती है और इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जाति व्यवस्था एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति रही है।" **यानी कि यह महोदय खुद ही मार्क्स को उद्धृत करने के बाद, उस उद्धरण को समझने में अक्षम हैं और उस उद्धरण का जो अर्थ है, उसका ठीक विपरीत अर्थ निकाल रहे हैं! अब इसे जड़बुद्धि होना न कहा जाय तो क्या कहा जाय?**

जाति व्यवस्था और पुश्तैनी श्रम विभाजन तथा 'जाति उत्पादन पद्धति': श्यामसुन्दर के चिरंतन भ्रम

श्यामसुन्दर ने यह साबित करने के लिए काफी पन्ने रंगे हैं कि जाति व्यवस्था श्रम विभाजन के कारण पैदा हुई। लेकिन इस बात से तो कभी किसी ने इंकार किया ही नहीं था! इन्हीं तरीकों से श्यामसुन्दर अपने खर्रे के पन्ने बढ़ाते हैं। **लेकिन प्रश्न यह उठता है क्या जाति व्यवस्था केवल आनुवांशिक श्रम विभाजन के कमज़ोर पड़ने के कारण समाप्त हो जायेगी? नस्ल भेद का मूल था नीग्रो श्रम का दासकरण। नीग्रो श्रम के दासकरण से पूर्व नस्लवाद का कोई इतिहास नहीं है। यह भी याद रखा जाना चाहिए कि प्राचीन दास प्रथा के दौर में नस्लवाद नहीं पैदा हुआ था। नीग्रो श्रम का दासकरण सामन्तवाद के उत्तरार्द्ध और पूंजीवाद के शुरुआती दौर में, यानी औपनिवेशिक यात्राओं (colonial voyages) के दौर में शुरू होता है और पूंजीवादी व्यवस्था के विकसित होने के साथ अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूप में विकसित होता है। आज नीग्रो श्रम का दासकरण समाप्त हो चुका है। क्या इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि नस्लवाद एक सामाजिक-आर्थिक परिघटना के रूप में समाप्त हो चुका है? श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों के अनुसार, यदि काले लोगों का दासकरण समाप्त हो चुका है, तो फिर नस्लवाद की व्यवस्था को एक सामाजिक-आर्थिक परिघटना के रूप में समाप्त माना जाना चाहिए।** श्यामसुन्दर दावा करते हैं, "मार्क्स ने अपने इसी पत्र में और स्पष्ट किया कोई भी विशिष्ट समाज व्यवस्था जिसमें मनुष्य विशिष्ट प्रकार से उत्पादन, उपभोग एवं विनिमय करते हैं वह विशिष्ट समाज व्यवस्था अनित्य और ऐतिहासिक होती है अर्थात् उसका आरंभ और उसका अंत होता है और उसके

स्थान पर दूसरा विशिष्ट रूप अस्तित्व में आ जाता है। भारत की जाति व्यवस्था भी उत्पादन, उपभोग और विनिमय का एक विशिष्ट आर्थिक रूप था और उस विशिष्ट रूप का अंत भी निश्चित था।" **यानी जाति व्यवस्था स्वयं एक उत्पादन पद्धति थी! यदि ऐसा था तो छठीं सदी ईसा पूर्व (भारत में प्राक्-सामन्ती वर्ग समाज का दौर) और पहली सदी ईसवी (भारत में सामन्ती व्यवस्था के उद्भव का दौर) में जाति व्यवस्था क्या एक समान थी?** अब यहां से श्यमासुन्दर हमारा थोड़ा मनोरंजन करने की शुरुआत करते हैं और इस विषय पर श्यामसुन्दर एक ज्ञानचक्षु खोल देने वाला सिद्धान्त देते हैं, जिस पर हम थोड़ा आगे आएंगे।

निश्चित तौर पर, उत्पादन व्यवस्था के बदलने के साथ उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादन सम्बन्ध के अंग के तौर पर श्रम विभाजन में भी परिवर्तन आता है। यदि जाति व्यवस्था सम्बन्धी इतिहास के विषय में मेरे शोध-पत्र को देखें तो आप पाएंगे कि जाति व्यवस्था के श्रम विभाजन में हुए परिवर्तनों को हम सप्रमाण और सोदाहरण दिखलाते हैं। मिसाल के तौर पर, जिन ब्राह्मणों के लिए भूस्वामित्व को वर्जित माना जाता था वे भूस्वामी बन गये; जो शूद्र मूलत: और मुख्यत: अधीनस्थ श्रमिकों की भूमिका में थे, वे निर्भर किसान के रूप में उभरे जबकि वैश्य जो मुख्य रूप से किसान आबादी के रूप में मौजूद थे, वे व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में चले गये। ये परिवर्तन क्यों हुए? इसलिए क्योंकि उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध बदल गये थे। यदि श्यामसुन्दर ने भारत के इतिहास पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हुए कुछ बुनियादी शोध कार्यों (जैसे कि डी.डी. कोसाम्बी, आर. एस. शर्मा, सुवीरा जायसवाल, रोमिला थापर, डी.एन. झा, विवेकानन्द झा आदि) को पढ़ा होता तो वह इस बात को समझ सकते थे। लेकिन श्यामसुन्दर मार्क्स के लेखन में जाति के सम्बन्ध में मौजूद कुछ फ्रैगमेण्टरी कथनों को लेकर यह साबित करने का प्रयास करते हैं उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार के श्रम विभाजन को जन्म नहीं देते बल्कि विशिष्ट प्रकार का श्रम विभाजन उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध को जन्म देते हैं, जबकि स्वयं मार्क्स ने यह नहीं कहा है। दूसरी बात यह है कि जाति व्यवस्था का अध्ययन मार्क्स का क्षेत्र और कार्य नहीं था; वास्तव में, भारत के इतिहास और जाति व्यवस्था के विषय में 1870 के बाद मार्क्स ने अपने तमाम मूल विचारों को, जैसे कि जाति व्यवस्था और एशियाई उत्पादन पद्धति के बारे में अपने विचारों को, बदल दिया था। इस पर हम आगे आएंगे।

श्यामसुन्दर जाति व्यवस्था को किसी दौर की उत्पादन पद्धति सिद्ध करने के अपने प्रयास में बेतुके सिरों तक चले जाते हैं। इसके लिए पहले तो वह हमारे बेहद स्पष्ट कथन को तोड़ने-मरोड़ने का असफल प्रयास करते हैं, और उसके बाद यह दावा करते हैं कि जाति व्यवस्था यदि स्वयं एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति नहीं है तो वह किसी भी दौर में आर्थिक आधार का अंग नहीं हो सकती है। इस दावे को हम ऊपर खारिज कर चुके हैं, इसलिए यहां उसके खण्डन को महज़ *इसलिए* दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है कि श्यामसुन्दर अपनी मूर्खताओं को भी अपने जवाब में अगणित बार दुहराते हैं। हम पहले यह देखते हैं कि हमारे कथन को श्यामसुन्दर कैसे मिसरेप्रज़ेण्ट करने का मज़ाकिया प्रयास करते हैं। हमारा कथन यह है: "दूसरी बात, जिसे हम यहां फिर से दुहराना चाहेंगे वह यह कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं है। इसलिए वह किसी भी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती, सिवाय उस दौर के जब कि वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे। यह आर्थिक आधार का एक अंग हो सकती है।" **इस कथन में क्या कहा गया है? पहली यह बात कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं है; उत्पादन पद्धति का अर्थ होता है उत्पादक शक्तियों के विकास के निश्चित स्तर और उनके आधार पर बने उत्पादन सम्बन्धों की पूर्णता** (totality) **(पूर्णता की मार्क्सवादी अवधारणा को भी श्यामसुन्दर नहीं समझते, जिस पर हम आगे आएंगे)। उत्पादक शक्तियों के विकास के किसी निश्चित स्तर के अनुसार ऐसे उत्पादन सम्बन्ध बन सकते हैं जो कि उनके अनुरूप सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं को पैदा करें। मिसाल के तौर पर, आदिम समाज में उत्पादक शक्तियों का जो स्तर था, उसके**

अनुसार ही उत्पादन सम्बन्धों के अंग के तौर पर लैंगिक श्रम विभाजन हुआ, जो कि उत्पादन की प्रक्रिया में होने वाला पहला श्रम विभाजन था; ध्यान दें कि यह सामाजिक श्रम विभाजन नहीं था। सामाजिक श्रम विभाजन के साथ ही माल उत्पादन की शुरुआत हो जाती है। लेकिन क्या लैंगिक श्रम विभाजन को अपने आप में कोई उत्पादन सम्बन्ध कहा जा सकता है? नहीं। क्या आदिम समाज की प्राचीन उत्पादन पद्धति के समाप्त होने के साथ लैंगिक श्रम विभाजन समाप्त हो गया? नहीं! इस लैंगिक श्रम विभाजन ने बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ अपने स्वरूप को बदला और वह आज की आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में भी अपने बदले हुए आधुनिक रूप में कायम है। श्यामसुन्दर की मानें तो हर युग की उत्पादन पद्धति, उत्पादन सम्बन्ध और श्रम विभाजन एक ही चीज़ होते हैं; मतलब, यदि लैंगिक श्रम विभाजन ने आदिम दौर की उत्पादन पद्धति को निर्धारित किया, तो फिर यह आदिम उत्पादन पद्धति के साथ ही समाप्त हो जाना चाहिए था। यही वह जड़सूत्र है, जिसके आधार पर श्यामसुन्दर अपनी गत्ते की तलवार भांजे जा रहे हैं।

हमारे कथन में दूसरी बात यह है कि **वर्ण ऋग्वैदिक समाज के उत्तरार्द्ध में तत्कालीन समाज के वर्ग विभाजन के तौर पर अस्तित्व में आये थे और इस दौर में वे समाज के उत्पादन सम्बन्ध ही थे;** वर्ग सम्बन्ध और कुछ नहीं बल्कि उत्पादन सम्बन्धों की सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति और आधार होते हैं, जिसका सबसे अहम पहलू स्वामित्व के सम्बन्ध होते हैं, जोकि अन्य दो पहलुओं, यानी कि श्रम विभाजन और वितरण के पहलू को निर्धारित करते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर इस विषय में बुरी तरह से भ्रमित हैं; कहीं वह कहते हैं कि हर विशिष्ट प्रकार का श्रम विभाजन अपने अनुकूल उत्पादन सम्बन्धों को पैदा करता है, तो कहीं कहते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों का सबसे अहम पहलू स्वामित्व सम्बन्ध है, जो विशिष्ट प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों को पैदा करते हैं। **खैर, हमने अपने पेपर में ही यह भी स्पष्ट किया था कि ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में वर्ण व्यवस्था ने अभी वे चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएं ग्रहण ही नहीं की थीं, जिन्हें हम वर्ण-जाति व्यवस्था के तीन बुनियादी आयामों में रूप में जानते हैं। दूसरे शब्दों में, इस दौर में वर्ण ही वर्ग थे और उनमें पूर्ण अतिच्छादन था। वर्ण-जाति तथा वर्ग में अतिच्छादन का यह सम्बन्ध तब संगति (**correspondence**) के सम्बन्धों में तब्दील हुआ जब ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध के समाज के इस वर्ग सम्बन्ध को आगे चलकर वैदिक काल के उत्तरार्द्ध के दौर में शासक वर्ग ने, यानी ब्राह्मण-क्षत्रिय शासक समुच्चय ने, दीर्घकालिक और स्थायी स्वरूप देने के लिए धार्मिक-कर्मकाण्डीय रूप से संहिताबद्ध और अश्मीभूत किया।** वास्तव में, मार्क्स ने स्वयं बताया है कि जाति या गिल्ड जैसी व्यवस्था ऐसे अश्मीभूतीकरण से ही पैदा होती है, जैसा कि हमने ऊपर मार्क्स के एक उद्धरण में दिखलाया है। जैसे ही यह संगति का सम्बन्ध स्थापित हुआ, वैसे ही वर्ण-जाति व्यवस्था समूचे उत्पादन सम्बन्ध को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती थी बल्कि उत्पादन सम्बन्धों का एक अंग ही हो सकती थी; लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि कोई सामाजिक-आर्थिक संरचना या तो पूर्ण रूप से उत्पादन सम्बन्ध हो सकती है, अन्यथा उसे आर्थिक कारक, या उत्पादन सम्बन्ध का अंग नहीं माना जा सकता है। ऐसी भारी बेवकूफी का जवाब देना भी मुश्किल है।

हमारे कथन, जिसे कि श्यामसुन्दर ने उद्धृत किया है, का बस इतना ही अर्थ है। लेकिन देखिये कि श्यामसुन्दर ने उसका क्या अर्थ निकाला है: "और जब यह कोई उत्पादन पद्धति है ही नहीं तो जाति आधार पर कभी कोई उत्पादन सम्बन्ध भी नहीं रहे हैं। और जब जाति व्यवस्था न तो खुद कोई उत्पदन पद्धति है, न ही जाति आधारित कोई उत्पादन सम्बन्ध रहे हैं तो फिर प्रश्न यह है कि जाति व्यवस्था किस आधार पर किसी भी समाज व्यवस्था का पूर्ण अथवा आंशिक आर्थिक आधार हो सकती है? क्या यह वैज्ञानिक दृष्टि का सबूत है जब अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि जाति व्यवस्था किसी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती है फिर लिखते हैं सिवाय उस दौर के जब वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे, फिर आगे लिखते हैं कि यह आर्थिक

आधार का एक अंग हो सकती है?" **इसे ही मैंने बौद्धिक बेईमानी, मूर्खता और मिसरेप्रेज़ेण्ट करने का नाम दिया है। यह है हमारा कथन: "*दूसरी बात, जिसे हम यहां फिर से दुहराना चाहेंगे वह यह कि जाति व्यवस्था अपने आपमें कोई उत्पादन पद्धति नहीं है।* इसलिए वह किसी भी समाज का पूर्ण आर्थिक आधार नहीं हो सकती, सिवाय उस दौर के जब कि वर्ण और वर्ग पूर्णत: अतिच्छादित थे। यह आर्थिक आधार का एक अंग हो सकती है।"** जैसा कि आप देख सकते हैं, जड़सूत्रों के कीचड़ में धंसा श्यामसुन्दर का कठमुल्लावादी दिमाग़ इस कथन का अर्थ ही नहीं समझ पाया है; दूसरी सम्भावना भी प्रबल है; वह यह कि श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" में बेईमानी पर उतर आये हैं और जानबूझकर हमारी बातों को तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे हैं।

आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं : "अभिनव सिन्हा स्वीकारते हैं कि एक दौर था जब जाति व्यवस्था समाज के पूर्ण आर्थिक आधार का काम करती थी। लेकिन साथ ही इसके विपरीत बात कहते हैं कि जाति व्यवस्था अपने आप में कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी। सवाल है कि जब जाति व्यवस्था एक दौर में पूर्ण आर्थिक आधार थी, तो क्या इसका अर्थ केवल यही नहीं होता जाति व्यवस्था स्वयं एक दौर की आनुवांशिक श्रम विभाजन पर आधारित एक उत्पादन पद्धति थी?"

इसी को हमने सन्दर्भ से काटकर उद्धृत करना कहा है। हमने अपने पिछले जवाब में भी और अपने शोध-पत्र में भी लिखा है कि जिस दौर में वर्ण व्यवस्था समाज के वर्गीय ढांचे के साथ अतिच्छादित या उसकी समानार्थी थी, उस दौर में उसमें वर्ण-जाति व्यवस्था के वे तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएं पैदा ही नहीं हुई थीं, जिनके लिए उसे जाना जाता है। **देखिये हमने अपने पिछले जवाब में क्या लिखा है: "आरम्भिक वैदिक युग या ऋग्वैदिक काल की समाप्ति तक उस दौर के समाज के भ्रूण वर्ग विभाजन के रूप में वर्ण व्यवस्था अस्तित्व में आयी, लेकिन अभी इसने आज की वर्ण-जाति व्यवस्था का रूप नहीं लिया था क्योंकि अभी वर्ण के ऋग्वैदिक सन्दर्भ में न तो आनुवांशिक श्रम विभाजन की बात थी, न सजातीय विवाह और न ही अस्पृश्यता की। आनुवांशिक श्रम विभाजन और सजातीय विवाह के दो प्रमुख गुणों के अस्तित्व में आने के साथ वर्ण-जाति व्यवस्था ने वह स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया, जिस रूप में उसे हम जानते हैं। ये परिवर्तन वैदिक काल के उत्तरार्द्ध, यानी 1000 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व के बीच हो रहे थे, यानी ऋग्वैदिक काल के बाद के दौर में।"** अब कोई पाण्डित्यदम्भी जड़बुद्धि व्यक्ति ही हमारी बातों का वह अर्थ निकाल सकता है जो कि श्यामसुन्दर ने निकाला है; लेकिन बार-बार हम उन्हें यह संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि कुछ कोमल संवेदनाओं वाले साथी इससे आहत हो जाते हैं कि हमने आन्दोलन के इतने पुराने व्यक्ति को बार-बार मूर्ख आदि क्यों कहा है, हालांकि मार्क्सवाद-लेनिनवाद में पोलेमिक की परम्परा में ऐसी कोमल संवेदनाओं का कोई विशेष स्थान नहीं रहा है, जैसा कि आप मार्क्स द्वारा हर वोग्ट व हर ग्रून, एंगेल्स द्वारा ड्यूहरिंग और लेनिन द्वारा बोग्दानोव की आलोचना पढ़कर समझ सकते हैं। दूसरी बात है कि सफेद बाल और सफेद दाढ़ी बुद्धि, तर्क और अनुभव का पर्यायवाची तो होते नहीं; उल्टे ये पक चुकी मूर्खता, असुधारणीय कुतर्क की आदत और अनुभववादी कठमुल्लावाद का पर्याय भी हो सकते हैं। आगे बढ़ते हैं।

4. प्राचीन उत्पादन पद्धति, एशियाई उत्पादन पद्धति, दास उत्पादन पद्धति, सामन्ती उत्पादन पद्धति, पूंजीवादी उत्पादन पद्धति और श्यामसुन्दर की 'मूर्खता उत्पादन पद्धति' : कुछ आरम्भिक प्रेक्षण

रेत को पेर कर
तेल निकाल सकता है आदमी
मरीचिका में भी
पी सकता है पानी
बुझा सकता है प्यास.
शायद !
भटक-भटकाकर आदमी
खोज कर ला ही सकता है
सींग ख़रग़ोश के.
पर नहीं बदल सकता
ख़ुश नहीं कर सकता वह
महामूर्ख का मन

- भर्तृहरि

जिस गति से श्यामसुन्दर मूर्खतापूर्ण बातों का उत्पादन करते हैं, आपको मानना ही पड़ेगा कि उनके पास एक सुसंगत और पूर्ण 'मूर्खता उत्पादन पद्धति' है। श्यामसुन्दर का दावा है कि मार्क्स का यह मानना था कि प्राचीन काल से लेकर 1810 तक (!!!) भारत की उत्पादन प्रणाली एक ही बनी हुई थी। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "कार्ल मार्क्स ने अति प्राचीन काल से सन् 1810 तक की भारतीय उत्पादन प्रणाली को एक ही प्रणाली के रूप में यहां व्याख्या की है। यानी प्राक्-सामन्ती काल और सामन्ती काल दोनों ही दौर एक ही उत्पादन प्रणाली के काल हैं। प्राक्-सामन्ती काल और सामन्ती काल के उत्पादन प्रणालियों और उत्पादन सम्बन्धों में कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं है।" यह तो ग़ज़ब है! प्राक्-सामन्ती और सामन्ती काल में एक ही उत्पादन पद्धति थी? मतलब, कोई चार पंक्तियों के स्पेस में इतनी अज्ञानतापूर्ण बातें कैसे फिट कर सकता है? इसी कारनामे को हमने 'श्यामसुन्दर की मूर्खता उत्पादन पद्धति' कहा है और इस उत्पादन पद्धति में श्रम विभाजन और उत्पादकता के मामले में वह निश्चित तौर पर कारखाना व्यवस्था की मंजिल में पहुंच चुके हैं! इस मूर्खता पर हम थोड़ा आगे आएंगे, लेकिन पहले देख लेते हैं कि मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा क्या थी, मार्क्स किस प्रकार उसके प्रति सन्देहग्रस्त हो चुके थे और उसे त्यागने लगे थे, और किस प्रकार श्यामसुन्दर को समझ में ही नहीं आया है कि मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा सामन्ती उत्पादन पद्धति से बिल्कुल अलग थी। वास्तव में, श्यामसुन्दर को यही नहीं समझ में आया है कि एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा है क्या। आइये देखते हैं।

मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा और इसके विषय में उनका बाद के दौर का चिन्तन: श्यामसुन्दर का मूर्खतापूर्ण अज्ञान

श्यामसुन्दर के उपरोक्त कथन में पहली बात तो यह है कि मार्क्स के एशियाई उत्पादन पद्धति के वर्णन को अनालोचनात्मक तरीके से स्वीकार कर लिया गया है; इसमें दो समस्याएं हैं: पहला, स्वयं मार्क्स की विश्लेषात्मक पद्धति के अनुसार, मार्क्स का यह नतीजा ग़लत है और मार्क्सवाद को जीवन्त विज्ञान के रूप में स्वीकारने वाले मार्क्सवादी मार्क्स की हर उक्ति को धर्मवाक्य नहीं मानते हैं, जैसा कि हम ऊपर इंगित कर चुके हैं; लेकिन श्यामसुन्दर के लिए मार्क्सवाद एक जीवन्त विज्ञान नहीं बल्कि एक जड़सूत्रों का समुच्चय है। मार्क्स की बुनियादी दार्शनिक शिक्षाओं में से एक शिक्षा यह थी कि हर परिवर्तन का कारण आन्तरिक अन्तरविरोध होता है।

एशियाई उत्पादन पद्धति की चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं में से एक मार्क्स के लिए यह थी कि यह आन्तरिक तौर पर गतिहीन है और इसे तोड़ने के लिए किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता होगी; यह आन्तरिक तौर पर गतिहीन इसलिए है क्योंकि यहां भूमि में कोई निजी सम्पत्ति नहीं है, उन्नत वर्ग विभेदीकरण का अभाव है और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था अपने आप में एक पूर्ण स्वतन्त्र इकाई है, जो कि केवल एक रूप में बाह्य जगत से जुड़ी है: एक प्राच्य निरंकुश (Oriental despotic) राज्य उससे कर के रूप में ट्रिब्यूट वसूल करता है; **मार्क्स के अनुसार, इस निरंकुश राज्य और ग्राम समुदाय के बीच में कोई सामन्ती मध्यवर्ती वर्ग नहीं था, जो कि *सामन्ती लगान* वसूलता हो और इसीलिए एशियाई उत्पादन पद्धति सामन्ती उत्पादन पद्धति से भिन्न है। मार्क्स के अनुसार, भारत में कोई सामन्ती उत्पादन पद्धति थी ही नहीं; एशियाई उत्पादन पद्धति थी जो कि आन्तरिक तौर पर जड़ थी और यह सीधे औपनिवेशिक पूंजीवाद के हस्तक्षेप के कारण टूटी। संक्षेप में यही मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा है।** थोड़ा-सा प्रसंगान्तर करके हम आपको श्यामसुन्दर की अर्द्धपागलपन भरी बातें दिखलाएंगे और फिर एशियाई उत्पादन पद्धति और उसके बारे में मार्क्स के बदलते विचारों पर वापस आएंगे।

आपको याद होगा कि श्यामसुन्दर ने जाति को सामन्ती अवशेष बताया था। यानी कि जाति व्यवस्था सामन्ती दौर की चीज़ है। अब वह कह रहे हैं कि प्राचीन काल यानी जाति व्यवस्था के उद्भव के समय से लेकर 1810 तक भारत में एक ही उत्पादन पद्धति थी और उसे श्यामसुन्दर ने 'जाति उत्पादन पद्धति' का नाम दिया है! अब सवाल यह उठता है कि भारत में इस पूरे दौर में कौन सी या कौन-कौन सी उत्पादन व्यवस्थाएं थीं? *श्यामसुन्दर के अनुसार, यह एशियाई उत्पादन पद्धति थी, जो कि जाति उत्पादन पद्धति भी थी और यह सामन्ती उत्पादन पद्धति के दौर में भी मौजूद थी और प्राक्-सामन्ती उत्पादन पद्धति के दौर में भी मौजूद थी और आज जाति एक सामन्ती अवशेष है*!! अगर इस पूरी बात का कोई व्यक्ति अर्थ निकाल ले तो उसे किसी बड़े पुरस्कार से सम्मानित किया जाना चाहिए। लेकिन मुझे लगता नहीं कि व्याख्याशास्त्र के माहिर लोग भी श्यामसुन्दर की इन पागलपन भरी बातों की व्याख्या करने का जोखिम उठाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाएंगे। जाहिर है, श्यामसुन्दर को मार्क्सवाद की बुनियादी बातें भी नहीं पता हैं। हमारा इसीलिए यह सुझाव होगा कि *वह किसी की मदद से* कुछ अच्छी पाठ्यपुस्तकों से पहले मार्क्सवाद का अध्ययन करें।

अब मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा की चर्चा पर वापस आते हैं। पहली बात तो यह है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ही यह अवधारणा सही नहीं है। दूसरी बात, तमाम मार्क्सवादी इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों ने दिखलाया है कि ठोस प्रमाणों के आधार पर दिखलाया जा सकता है कि एशिया के किसी भी

देश में ऐसी आन्तरिक रूप से जड़ कोई उत्पादन पद्धति मौजूद नहीं थी; डी. डी. कोसाम्बी ने लिखा है, "What Marx himself said about India cannot be taken as it stands." इसी प्रकार श्लोमो एविनेरी का यह कथन भी सही है, "(Marx's) Insights into Indian and Chinese society could never be reconciled with his general philosophy of history..."

दूसरी बात यह है कि 1870 के दशक से ही मार्क्स स्वयं एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा को छोड़ने लगे थे और कुछ नये शोध प्रबन्धों के अध्ययन के बाद उनके लिए यह अवधारणा काफी सन्देहास्पद हो गयी थी। विशेष तौर पर **कोवालेव्स्की** और **एल्फिंस्टन** की पुस्तकों के गहन अध्ययन के बाद, मार्क्स ने इन पुस्तकों पर लिए अपने नोट्स में स्पष्ट किया कि वास्तव में भारतीय ग्राम समुदाय में निजी सम्पत्ति का विकास हो चुका है और यह अन्तरविरोधों का स्रोत है। एल्फिंस्टन की पुस्तक के मार्क्स द्वारा लिये गये नोट्स में मार्क्स इस बात को खास तौर पर रेखांकित करते हैं कि मुगल भारत में मुद्रा रूप में लगान वसूल किया जा रहा था, जो कि अपने आप में प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था के विघटन का एक स्रोत है। **इसके अलावा, मार्क्स इस अध्ययन के बाद यह तो मानते थे कि जर्मन-रोमन सामन्तवाद की व्यवस्था से भारत की यह व्यवस्था भिन्न है क्योंकि इसमें भूदासत्व का संस्थाबद्ध रूप मौजूद नहीं है, लेकिन साथ ही मार्क्स के नोट्स स्पष्ट तौर पर दिखलाते हैं कि वह इस दौर के भारतीय समाज को एक वर्ग समाज मानते थे, जो कि स्थैतिक नहीं था, बल्कि आन्तरिक अन्तरविरोधों से भरा हुआ था। दूसरे शब्दों में, मार्क्स एशियाई उत्पादन पद्धति की मूल अवधारणा का परित्याग कर रहे थे।** इससे पहले मार्क्स ऐसा नहीं कर सकते थे। इसका कारण यह था कि 1870 के दशक के उत्तरार्द्ध से पहले, कुछ अंग्रेज़ी औपनिवेशिक प्रशासकों आदि द्वारा लिखित ब्रिटिश भारत के इतिहास के अलावा, मार्क्स ने भारत के विषय में ज्यादा कुछ नहीं पढ़ा था। वास्तव में, समूचा यूरोपीय बौद्धिक वर्ग भारत के विषय में अपने ज्ञान के लिए उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अंग्रेज़ी औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा लिखित भारत के इतिहास पर ही निर्भर था, मसलन, स्वयं हेगेल के लिए भी भारत के विषय में जानकारी का यही स्रोत था। इन इतिहास-लेखनों में विशेष थे **चार्ल्स मेटकाफ** और **जेम्स मिल** द्वारा लिखित भारत के इतिहास, जिनका एक राजनीतिक मकसद यह भी था कि प्राक्-ब्रिटिश भारत को स्थैतिक, जड़ और प्रगतिहीन दिखलाया जाय, ताकि उपनिवेशवाद को एक सभ्य बनाने वाली शक्ति (civilizing force) के तौर पर पेश किया जा सके। 1870 के दशक में मार्क्स ने अन्य कई रचनाएं पढ़ीं जो कि एशियाई समाजों में उत्पादन पद्धति, भूमि स्वामित्व, आदि का अध्ययन करती थीं और इसके फलस्वरूप मार्क्स के विचारों में बुनियादी परिवर्तन हुए।

जैसा कि आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर मार्क्स के विचारों के विकास के क्रम में 1853 में खड़े रह गये हैं, जबकि मार्क्स के विचार हर मायने में उनके जीवन के अन्त तक विकसित होते रहे। इसे समझने के लिए मार्क्स की 'एथनोलॉजिकल नोटबुक्स' का और साथ ही कोवालेव्स्की की पुस्तक और एल्फिंस्टन की पुस्तक के उनके 'कांस्पेक्टस' को पढ़ना महत्वपूर्ण है। **जो इन मूल स्रोतों तक नहीं जा सकते, वे इरफान हबीब के लेख (तुलिका बुक्स द्वारा प्रकाशित संकलन 'कार्ल मार्क्स ऑन इण्डिया' की प्रस्तावना), एरिक हॉब्सबॉम के लेख ('प्री-कैपिटलिस्ट फॉर्मेशंस' की प्रस्तावना), श्लोमो एविनेरी की पुस्तक ('कार्ल मार्क्स ऑन कलोनियलिज्म एण्ड मॉडर्नाइज़ेशन'), डी.डी. कोसाम्बी की पुस्तक ('एन इण्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री') का अध्ययन कर सकते हैं।**

तीसरी बात यह है कि मार्क्स ने अगर अपने विचार न भी बदले होते तो कोई व्यक्ति एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी के तौर पर मार्क्स के हर प्रेक्षण को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है, क्योंकि मार्क्सवाद मार्क्स द्वारा कही गयी हर बात, हर कथन का कोई समुच्चय नहीं है, बल्कि एक विश्व दृष्टिकोण है। जो मार्क्सवादी इसे

जड़सूत्र के समान लेते हैं, उन्हीं के विषय में मार्क्स ने कहा था कि *"ce qu'il y a de certain c'est que moi, je ne suis pas Marxiste*" ("what is certain is that I myself am not a Marxist")।

इसके अलावा, सबसे अहम बात यह है कि श्यामसुन्दर को यह पता ही नहीं है कि मार्क्स ने एशियाई उत्पादन पद्धति किसे कहा था। हमने ऊपर बताया कि बेहद सीमित स्रोतों के आधार पर मार्क्स ने एशियाई उत्पादन पद्धति की जो परिकल्पना रची थी, उसमें अधिशेष विनियोजन एक निरंकुश राज्य करता था और यह अधिशेष आत्मनिर्भर इकाइयों के रूप में ग्राम समुदाय या ग्रामीण गणराज्य पैदा करते थे। इन ग्रामीण गणराज्यों में वर्ग संरचना बेहद अल्पविकसित थी, भूमि में निजी सम्पत्ति अनुपस्थित थी और, मार्क्स के अनुसार, जाति व्यवस्था इस समूची सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को एक स्थायित्व प्रदान करती थी। हम ऊपर देख चुके हैं कि मार्क्स कोवालेव्स्की और एल्फिंस्टन की रचनाओं के अध्ययन के बाद अपनी इस परिकल्पना के मूल बिन्दुओं से प्रस्थान कर चुके थे और मानने लगे थे कि भूमि में निजी सम्पत्ति है, मुद्रा लगान वसूला जाता है और वर्ग विभेदीकरण मौजूद है और इस प्रकार भारत की सामाजिक संरचना में आन्तरिक अन्तरविरोध मौजूद है, जो कि उसे गति प्रदान करता है। वास्तव में एशियाई उत्पादन पद्धति जैसा कोई जड़त्वपूर्ण दौर भारत या किसी भी एशियाई देश के इतिहास में कभी था ही नहीं और न ही हो सकता है। यह परिकल्पना मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ही ग़लत और अनैतिहासिक थी और इसी वजह से मार्क्स के इसके विषय में गम्भीर सन्देह उत्पन्न हो चुके थे। **लेकिन अभी हम इन पहलुओं को छोड़ भी दें, तो हम देखेंगे कि श्यामसुन्दर को पता नहीं है कि मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा है क्या; जैसा कि हमने पिछले जवाब में इंगित किया था, एक उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध को दूसरे उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध से इस आधार पर अलग किया जाता है कि प्रत्यक्ष उत्पादन से अधिशेष का विनियोजन कैसे किया जाता है और कौन करता है। मार्क्स ने एशियाई उत्पादन पद्धति की परिकल्पना में भी यह स्पष्ट किया है कि अधिशेष का उत्पादन और विनियोजन किस प्रकार होता है, चाहे वास्तव में भारत में ऐसी उत्पादन पद्धति कभी रही हो या न रही हो।**

अब श्यामसुन्दर के विचारों को देखें। श्यामसुन्दर को लगता है कि भारत में प्राचीन काल से लेकर 1810 तक एक ही उत्पादन व्यवस्था थी, जिसके वैधीकरण के लिए वह मार्क्स को उद्धृत करते हैं, जहां पर मार्क्स वास्तव में अपनी एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा से संचालित होकर यह कह रहे हैं कि भारत प्राचीन काल से उपनिवेशवाद के आने तक एक स्थैतिक समाज था और उपनिवेशवाद ने आकर इस स्थैतिक समाज और उत्पादन पद्धति को तोड़ा। यानी मार्क्स भारत की स्थैतिक एशियाई उत्पादन पद्धति की बात कर रहे हैं। लेकिन श्यामसुन्दर कहते हैं कि यह उत्पादन पद्धति 'जाति उत्पादन पद्धति' थी! लेकिन फिर वह कहते हैं कि जाति सामन्ती अवशेष है! उसके बाद वह कहते हैं कि लेकिन सामन्ती और प्राक्-सामन्ती दौर भी इस पूरे दौर में शामिल भी था, यानी कि इस पूरे दौर में एक सामन्ती उत्पादन पद्धति का भी दौर था! इसके बाद वह कहते हैं कि लेकिन सामन्ती दौर में भी और प्राक्-सामन्ती दौर में भी जाति उत्पादन पद्धति ही थी। अब हम अपने कोमल हृदय के हमदर्दों से पूछते हैं कि इस प्रकार की अर्द्धपागल किस्म की बात करने वाले को क्या मूर्ख भी न कहा जाय, हालांकि उसकी असाधारण क्षमताओं के हिसाब से यह विशेषण भी छोटा ही लगता है!

वास्तव में, श्यामसुन्दर को उत्पादन पद्धति, उत्पादन सम्बन्ध, आर्थिक आधार और अधिरचना आदि की श्रेणियों के बारे में कोई समझ ही नहीं है। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार इसी वजह से श्यामसुन्दर अपने नये जवाब में आगे अपनी "औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति" की मूर्खतापूर्ण अवधारणा को गोल-मोल बातें करके बचाने की कोशिश करते हैं, क्योंकि इसमें वह बुरी तरह फंस गये हैं और आखिर "अपनी इज्जत बचाओ

अभियान" तो उन्हें चलाना ही है। लेकिन इसमें भी त्रासदी यह है कि ऐसी गोल-मोल बातें करके इज्जत बचती नहीं है, बल्कि जो थोड़ी-बहुत वरिष्ठता के नाम पर मिलती है, वह भी चली जाती है। औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति के श्यामसुन्दरीय झमेले पर हम आगे आएंगे; अभी भारत में 1810 तक एक ही उत्पादन पद्धति होने के श्यामसुन्दर के दावे पर वापस लौटते हैं।

श्यामसुन्दर की एक ही उत्पादन पद्धति, यानी 'जाति उत्पादन पद्धति', वाले सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल: मूर्खता के नये सीमान्त

अब चूंकि श्यामसुन्दर ने यह दावा कर दिया है कि मार्क्स का ये प्रेक्षण सही है कि प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक के दौर में एक ही उत्पादन पद्धति है (जिसे मार्क्स एशियाई उत्पादन पद्धति कहते हैं) तो श्यामसुन्दर के लिए यह मजबूरी बन जाता है कि भारतीय इतिहास के साथ दुराचार करें। इस प्रक्रिया में वह फिर द्रविड़ प्राणायाम करते हैं। ऊपर के उद्धरण में आप देख सकते हैं कि वह कैसी हास्यास्पद बात कह रहे हैं: "यानी प्राक्-सामन्ती काल और सामन्ती काल दोनों ही दौर एक ही उत्पादन प्रणाली के काल हैं। प्राक्-सामन्ती काल और सामन्ती काल के उत्पादन प्रणालियों और उत्पादन सम्बन्धों में कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं है।" **इसका क्या मतलब है? यदि ऐसा है तो श्यामसुन्दर प्राक्-सामन्ती काल और सामन्ती काल में फर्क कैसे करते हैं? किसी काल को सामन्ती तो इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उस काल में सामन्ती उत्पादन पद्धति मौजूद रही हो! लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार तो सामन्ती काल में भी भारत में एक विशिष्ट जाति उत्पादन पद्धति थी, और प्राक्-सामन्ती काल में भी वही जाति उत्पादन पद्धति थी! अब या तो भारत में कभी सामन्ती व्यवस्था थी ही नहीं, लेकिन श्यामसुन्दर ऐसा भी नहीं मानते! वह तो जाति को सामन्ती अवशेष मानते हैं! उनके अनुसार, प्राचीन काल से उन्नीसवीं सदी तक भारत में एक ही उत्पादन पद्धति थी, और वह उनकी 'जाति उत्पादन पद्धति' थी! यानी वह एशियाई उत्पादन पद्धति भी नहीं थी! लेकिन भारत में एक सामन्ती और एक प्राक्-सामन्ती काल भी था! इन सारी बातों को यदि आप मिला दें, तो यह, जैसा कि हमने ऊपर कहा, पागलपन भरी बातें हैं। अपनी बातों में श्यामसुन्दर ने ऐसा गड़बड़झाला पैदा कर दिया है कि उसमें खुद ही बुरी तरह से उलझ गये हैं, जैसे कि बिल्ले ऊन के गोलों में उलझ जाते हैं।**

अब जब कि श्यामसुन्दर पूरी तरह से इसमें फंस जाते हैं, तो इस गड़बड़झाले को हम पर आरोपित करने का प्रयास करते हैं: "अब आनुवांशिक श्रम विभाजन आदि जाति व्यवस्था के सभी आयाम प्राक्-सामन्ती दौर में ही पैदा हो चुके थे और अभिनव सिन्हा के अनुसार यदि वही आयाम प्राक्-सामन्ती और सामन्ती दौर की यानी प्राचीन और मध्यकालीन उत्पादन प्रणालियों के पूर्ण आर्थिक आधार थे तो फिर सामन्ती दौर से प्राक्-सामन्ती दौर की कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं रह जाती। *क्योंकि प्राक्-सामन्ती और सामन्ती दोनों ही दौरों में श्रम विभाजन का विशिष्ट रूप जातिगत आधार पर आनुवांशिक श्रम-विभाजन का ही रूप रहता है। पहले दौर में श्रम विभाजन के इस विशिष्ट रूप का उद्भव और विकास हुआ, जिसकी निरन्तरता दूसरे यानी सामन्ती दौर में ज्यों की त्यों बनी रही।*" तो फिर सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल में भेद किस आधार पर किया गया? फिर से वही मूर्खतापूर्ण, नहीं, पागलपन भरी बात!

पहली बात तो हमने यह लिखा ही नहीं है कि ऋग्वैदिक काल के बाद कभी भी जाति व्यवस्था पूर्ण आर्थिक आधार थी; दूसरी बात, जिस दौर में ऐसा था उस दौर में वर्ण ने वह स्वरूप ग्रहण ही नहीं किया था

जिस रूप में हम वर्ण-जाति व्यवस्था को जानते हैं; उस दौर में वर्ण ही वर्ग थे। इसलिए श्यामसुन्दर अपनी मूर्खता को ज़बरन हमारे ऊपर थोप रहे हैं। **तीसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर के अनुसार श्रम विभाजन स्वयं ही उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बन्ध का पूर्ण आधार या समानार्थी होता है, और यदि भारत में यह श्रम विभाजन प्राचीन काल से उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक ज्यों का त्यों बना रहा तो श्यामसुन्दर सामन्ती और प्राक्-सामन्ती दौर में या उत्पादन व्यवस्थाओं में फर्क किस आधार पर कर रहे हैं? उनके अनुसार तो यदि श्रम विभाजन नहीं बदलता तो उत्पादन प्रणाली भी नहीं बदलती है! आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर अपने कुतर्कों के ऊन के गोल में लिपटकर लद्द से गिर गये हैं।**

हमने ऊपर दिखलाया है कि किसी उत्पादन पद्धति व उसके अनुरूप उत्पादन सम्बन्धों का सबसे पहला आधार है स्वामित्व के सम्बन्ध जो कि अधिशेष के उत्पादन और उसके विनियोजन के रूप को निर्धारित करते हैं, और साथ ही श्रम विभाजन को निर्धारित करते हैं। साथ ही, हमने यह भी दिखलाया कि एक ही सामाजिक संरचना अपने अलग-अलग दौरों में श्रम विभाजन के बहुविध रूपों को जन्म *दे सकती* है। मिसाल के तौर पर, पूंजीवाद सामान्य सहकार, मैन्युफैक्चर से लेकर मशीनोफैक्चर तक के श्रम विभाजनों को जन्म देता है; लैंगिक श्रम विभाजन आदिम युग में पैदा होकर रूप बदलते हुए अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों में अलग-अलग रूपों में मौजूद रहा है। यही बात जातिगत श्रम विभाजन पर भी लागू होती है; यह भी ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में पैदा होकर और उत्तर-वैदिक काल में विकसित होने के बाद, अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों की प्रमुखता के दौर में अपने रूप बदलते हुए मौजूद रहा है और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की विशिष्टता के कारण यह पूंजीवाद के विकास के साथ बेहद कमज़ोर हो गया है; लेकिन जाति व्यवस्था का एक आयाम, यानी कि सजातीय विवाह, अपने रूप को नयी उत्पादन पद्धति के अनुसार समायोजित करते हुए मौजूद है। किसी भी सामाजिक-आर्थिक संरचना या सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न की किसी भी व्यवस्था के साथ यही होता है, चाहे वह नस्लवाद हो, पितृसत्ता हो या फिर जाति व्यवस्था।

लेकिन श्यामसुन्दर के साथ चार समस्याएं हैं। पहला, वह मार्क्सवाद और इतिहास को सूत्रों में देखते हैं; दूसरा, वे इन सूत्रों को भी ढंग से नहीं समझते, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं और इस पूरे उत्तर में बार-बार आगे भी दिखलाएंगे; और, तीन, जब वे अपने जड़सूत्रवादी रवैये के कारण अन्तरविरोधों में रपटकर गिर जाते हैं, तो मिस्कोट करने, मिसरेप्रेज़ेण्ट करने, झूठ बोलने और इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने पर आमादा हो जाते हैं। और चौथा, जब वह तब भी कामयाब नहीं होते तो अर्द्धपागलपन भरी नयी प्रस्थापनाएं पेश करने लग जाते हैं, जैसा कि हमने ऊपर देखा।

इसके बाद श्यामसुन्दर अरविन्द ट्रस्ट के प्रमुख पेपर से एक कथन को उद्धृत करके यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि चूंकि प्राचीन काल और मध्यकाल में श्रम विभाजन जातिगत था, इसलिए जाति व्यवस्था ही इन दोनों दौरों की उत्पादन पद्धति थी। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि श्रम विभाजन को ही उत्पादन प्रणाली का आधार बनाना कैसे ग़लत है और कैसे मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के श्यामसुन्दर के अज्ञान को दिखलाता है। दूसरी बात, जो वह कथन से निकालते हैं वह है जाति और वर्ग मध्यकाल तक समकक्ष थे। यहां श्यामसुन्दर पेपर के एक कथन को सन्दर्भ से काटकर उद्धृत कर रहे हैं। इस पूरे पेपर में यह स्पष्ट किया गया है कि मध्यकाल तक *जाति समूहों* व *वर्ग समूहों* के बीच अतिच्छादन मौजूद था। जाति वर्ग के समकक्ष थी, यह कहने का यही अर्थ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जाति ही वर्ग है। जाति समूह और वर्ग समूह एक दूसरे को कमोबेश अतिच्छादित करते थे, इसका अर्थ यह है कि हर जाति का, विशेषकर दलित जातियों का वर्ग चरित्र एकदम प्रत्यक्ष और स्पष्ट था। दलित आबादी में एक छोटा-सा मध्यवर्ग औपनिवेशिक काल में ही जाकर पैदा होता है। इसके पहले समूची दलित आबादी श्रमिक आबादी, निर्भर ग़रीब किसान आबादी और अधीनस्थ भूमिहीन

आबादी ही थी। यही कारण है कि पेपर में यह स्पष्ट किया गया है कि *जाति-समूह तथा वर्ग-समूहों के बीच एक अतिच्छादन था*, क्योंकि तमाम जाति-समूह स्वयं वर्गों या वर्गों के बड़े हिस्से का निर्माण करते थे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जाति ही वर्ग थी। पेपर में स्पष्ट तौर पर यह भी बताया गया है कि *जाति-समूह वर्ग-समूहों को या जातियों के वर्णक्रम वर्गों के वर्णक्रम को मध्यकाल तक अतिच्छादित करते थे*। पहला स्थान जहां इसकी बात की गयी है, वह यह है: "...क्योंकि तत्कालीन भारत में *जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम* एक दूसरे को *लगभग* अतिच्छादित करते थे।" दूसरा स्थान यह है: "कहा जा सकता है कि *जाति-समूहों का जो वर्णक्रम (*spectrum*) था, वह वर्गों के वर्णक्रम को* कमोबेश पूरी तरह अतिच्छादित करता था।" तीसरा स्थान यह है: "*जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्ग-समूहों के वर्णक्रम* एक-दूसरे को लगभग पूरी तरह से अतिच्छादित करने की बजाय कुछ हद तक स्थानान्तरित हो गये।" चौथा स्थान यह है: "औपनिवेशिक काल में, सामन्तवाद की मौजूदगी के बावजूद, औद्योगिक पूंजी के प्रवेश ने जाति-व्यवस्था को बनाये भी रखा और उसकी जड़ों पर कुछ चोट भी की, *जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्गों के वर्णक्रम का अतिच्छादन* सीमित हद तक भंग हुआ और उत्तर-औपनिवेशिक काल में तो यह अतिच्छादन बहुत सिकुड़ गया।" एक स्थान पर वर्ग और जाति के बीच का अन्तर बताते हुए भी उसे समकक्ष बताया गया है, लेकिन वहां प्राचीन भारत के विषय में बात की गयी है, मध्यकालीन भारत के बारे में नहीं; वह कथन यह है: "इस तरह, *प्राचीन भारत में* वर्ग और जाति एक-दूसरे को अतिच्छादित (overlap) करते थे, *फ़र्क यह था* कि जातियां ऐसे वर्ग थीं, जो वंशानुगतता/अन्त:विवाह के कारण अचल थीं, रूढ़ थीं।" 2011 के बाद भी जाति प्रश्न पर हमारा अध्ययन जारी रहा है और 2015, 2016, 2017 में कई व्याख्यान, निबन्धों व पेपरों में हमने अपनी विकसित होती अवस्थिति को पेश भी किया है। 2011 के बाद के हमारे शोध ने हमें इस बात पर सहमत किया कि जातियों के वर्णक्रम और वर्गों के वर्णक्रम के बीच का अतिच्छादन भी प्राचीन जनजातीय गणराज्यों के उदय के साथ ही टूट रहा था। जाति और वर्ग के बीच के संगति के सम्बन्ध के बारे में तो 2011 की संगोष्ठी के ही इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर में लिखा गया था। लेकिन अतिच्छादन के भंग होने की सीमा के विषय में हमारे शोध ने हमारी अवस्थितियों को और विकसित किया। इसलिए मुख्य पेपर में एक स्थान पर जाति व्यवस्था को मध्यकाल तक आर्थिक आधार का समानार्थी भी कहा गया है, जिसके पीछे कारण यह था कि हम जाति-समूहों और वर्ग-समूहों के मध्यकाल तक कमोबेश पूर्ण अतिच्छादन को मानते थे। लेकिन उस सूरत में भी जाति और वर्ग एक नहीं हुए। बहरहाल, जो भी व्यक्ति हमारे पेपर को ग़ौर से पढ़ेगा और विशेषकर 2011 से अब तक जाति व्यवस्था के इतिहास के विषय पर हमारे शोध-कार्य को पढ़ेगा वह समझ सकता है कि वर्ग समूहों और जाति समूहों के वर्णक्रम में कमोबेश अतिच्छादन का अर्थ यह नहीं है कि जाति और वर्ग मध्यकाल तक एक ही थे। **लेकिन श्यामसुन्दर लिखते हैं: "...तो फिर यही प्रमाणित होता है कि जाति व्यवस्था सामन्तवाद की समानार्थी ही नहीं बल्कि खुद ही सामन्तवाद थी।" लेकिन हमने ऊपर देखा कि श्यामसुन्दर स्वयं मानते हैं कि प्राक्-सामन्ती दौर में भी जाति व्यवस्था ही उत्पादन पद्धति थी! तो फिर जाति व्यवस्था प्राक्-सामन्ती दौर में क्या हुई? प्राक्-सामन्ती सामन्तवाद! यह है श्यामसुन्दर की तर्क-पद्धति! ऊपर से तुर्रा यह कि श्यामसुन्दर यह भी मानते हैं कि प्राचीन काल से 1810 तक भारत में एशियाई उत्पादन पद्धति थी, क्योंकि मार्क्स के अनुसार एशियाई उत्पादन पद्धति सामन्ती उत्पादन पद्धति से बिल्कुल भिन्न चीज़ है। इसलिए श्यामसुन्दर तय ही नहीं कर पा रहे हैं कि भारत के प्राचीन काल और मध्यकाल की उत्पादन पद्धति को क्या नाम दें! कहीं वह जाति उत्पादन पद्धति कहते हैं, कहीं सामन्ती उत्पादन पद्धति कहते हैं, कहीं एशियाई उत्पादन पद्धति कहते हैं! जैसा कि आप देख सकते हैं, बिल्ला फिर से ऊन के गोले में उलझकर रपट गया है।**

दास व्यवस्था, दास श्रम और जाति व्यवस्था के विषय में: श्यामसुन्दर की कठमुल्लावादी अज्ञानता

आगे श्यामसुन्दर एक और गहना पेश करते हैं: "पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा के आधार पर अभिनव सिन्हा पूंजीवादी जाति व्यवस्था की अपनी हठ को सिद्ध करना चाहते हैं। जबकि दास प्रथा एक उत्पादन पद्धति थी और दास श्रम उत्पादन सम्बन्ध था। इसलिए आधुनिक दास प्रथा, दास श्रम के उत्पादन सम्बन्ध के आधार पर ही कही जाती है पर जहां तक जाति व्यवस्था का प्रश्न है अभिनव सिन्हा न तो उसे अतीत की कोई उत्पादन पद्धति मानने को तैयार हैं; और न ही वह यह मानते हैं कि जाति व्यवस्था के अपने कोई उत्पादन सम्बन्ध होते हैं; और सबसे बड़ी बात यह कि वह यही नहीं मानते कि जाति अतीत में कभी वर्ग थी। इन सबके बावजूद भी वह वर्तमान में जाति व्यवस्था के अवशेषों को पूंजीवादी जाति व्यवस्था सिद्ध करने पर तुले हैं, जिसका आधार वह दास श्रम को बनाते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि दास-श्रम एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति का आधार था, जिसमें दास और दास-स्वामी विशिष्ट वर्ग थे। अभिनव सिन्हा के अनुसार जाति खुद कभी वर्ग नहीं थी, पर वह यह तो जानते होंगे कि दास तो वर्ग व्यवस्था में एक वर्ग था।" इन पंक्तियों को पढ़कर एक बार तो लगा कि ऐसी मूर्खता और बेईमानी का जवाब भी देना व्यर्थ है; लेकिन फिर भी हम इनका जवाब इसलिए दे रहे हैं ताकि पाठकों को उस समूची राजनीतिक प्रवृत्ति का बौद्धिक दीवालियापन स्पष्ट हो सके, जिसका प्रतिनिधित्व श्यामसुन्दर करते हैं।

पहली बात, ऐसा लगता है कि 'पूंजीवादी आधुनिक दास प्रथा' के हमारे सन्दर्भ को श्यामसुन्दर ने उजरती गुलामी का सन्दर्भ समझ लिया है; जबकि हमने अपने उत्तर में स्पष्ट तौर पर दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका के 1860 के पहले की स्थिति का ज़िक्र किया था और दिखलाया था कि एक पूंजीवादी व्यवस्था कई प्रकार के श्रम के रूपों, श्रम विभाजन के रूपों को सहयोजित कर सकती है; हमने स्पष्ट तौर पर वहां मौजूद प्लाण्टेशन अर्थव्यवस्था की बात की थी जो कि पूंजीवादी आधार पर संगठित था, लेकिन दास श्रम पर टिकी हुई थी। **यदि दास श्रम केवल दास उत्पादन पद्धति को जन्म दे सकता है, तो फिर 1860 के पहले के दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका की उत्पादन पद्धति को श्यामसुन्दर को सीधे दास उत्पादन पद्धति कहना चाहिए! उत्पादन पद्धति निश्चित उत्पादन सम्बन्धों को जन्म देती है और स्वयं उत्पादन पद्धति उत्पादक शक्तियों के विकास के एक निश्चित स्तर से निर्धारित होती है। लेकिन श्यामसुन्दर सिर के बल खड़े होकर दुनिया को देखते हैं और निहायत बेतुकी बातों को सुकरात में मुद्रा में बोलते रहते हैं।** अब देखते हैं कि मार्क्स ने आधुनिक पूंजीवाद द्वारा दास श्रम के सहयोजन के बारे में क्या लिखा है। 'दर्शन की दरिद्रता' में मार्क्स लिखते हैं:

"Direct slavery is just as much the pivot of bourgeois industry as machinery, credits, etc. Without slavery you have no cotton; without cotton you have no modern industry. It is slavery that has given the colonies their value; it is the colonies that have created world trade, and it is world trade that is the pre-condition of large-scale industry. Thus slavery is an economic category of the greatest importance. Without slavery North America, the most progressive of countries, would be transformed into a patriarchal country. Wipe out North America from the map of the world, and you will have anarchy — the complete decay of modern commerce and civilisation. Cause slavery to

disappear and you will have wiped America off the map of nations. Thus slavery, because it is an economic category, has always existed among the institutions of the peoples." (Marx, *Poverty of Philosophy,* International Publishers, New York, p. 94-5)

इसी उद्धरण का श्यामसुन्दर ने एक मनमाना मतलब निकाला है, जिसका जवाब हम आगे देंगे। लेकिन जैसा कि पाठक देख सकते हैं, यह उद्धरण एकदम स्पष्ट है। 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में मार्क्स बताते हैं कि किस प्रकार वाणिज्यिक पूंजी पुरानी आर्थिक संरचनाओं का विघटन भी करा सकती है, तो वहीं वह दास प्रथा को भी पैदा कर सकती है। पुराने श्रम रूप नयी आर्थिक संरचनाओं में सहयोजित और समायोजित हो सकते हैं और यह कई कारकों पर निर्भर करता है। मार्क्स लिखते हैं:

"In the precapitalist stages of society, commerce rules industry. The reverse is true of modern society. . . . Merchants' capital in its supremacy everywhere stands for a system of robbery, and its development, ***among the trading nations of old and new times***, is always connected with plundering, piracy, snatching of slaves, conquest of colonies. ... In the antique world the effect of commerce and the development of merchants' capital always result in slave economy; or, according to what the point of departure may be, the result may simply turn out to be the transformation of a patriarchal slave system devoted to the production of direct means of subsistence into a similar system devoted to the production of surplus-value." (Marx, *Capital, Vol-III*)

'पूंजी' के दूसरे खण्ड में मार्क्स लिखते हैं:

"Even in the United States, after the conversion of the neutral territory between the wage labor states of the North and the slave labor states of the South into a slave breeding region for the South, where the slave thus raised for the market had become an element of annual reproduction, this method did not suffice for a long time, so that the African slave trade was continued as long as possible for the purpose of supplying the market."

'थियरीज़ ऑफ सरप्लस वैल्यू' में मार्क्स लिखते हैं:

"...***the slave-holding states in the United States of North America . . . are associated with a world market based on capitalist production.*** No matter how large the surplus product they extract from the surplus labor of their slaves in the form of cotton or

corn, they can adhere to this simple, undifferentiated labor because foreign trade enables them to convert these simple products into any kind of use-value." (Marx, *Theories of Surplus Value, Part III,* Moscow, Progress Publishers, 1971, p. 243)

मार्क्स बताते हैं कि सिर्फ इसलिए कि वे दास श्रम के स्वामी हैं, दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका के प्लाण्टेशन मालिक प्राक्-पूंजीवादी शासक वर्ग नहीं बल्कि पूंजीपति वर्ग हैं:

"The fact that we now not only call the plantation owners in America capitalists, *but that they are capitalists*, is based on their existence as anomalies within a world market based on free labor." (Marx, *Grundrisse,* p. 513)

ऐसे और बहुत से उद्धरण दिये जा सकते हैं, जिसमें मार्क्स प्रदर्शित करते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति उजरती श्रम के साथ-साथ बहुत प्रकार के श्रम सम्बन्धों को अपने साथ सहयोजित कर सकती है और ऐतिहासिक तौर पर करती रही है। अगर श्यामसुन्दर के उपरोक्त उद्धरणों में पेश तर्कों को देखा जाय तो आप पाएंगे कि श्यामसुन्दर जड़सूत्रों से वास्तविक इतिहास को निसृत करने का कठमुल्लावादी प्रयास करने में खर्च हो गये हैं! दास श्रम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के साथ सहयोजित हो सकता है और इतिहास में हुआ भी है, जिसका सबसे बड़ा उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका से मिलता है। लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार दास श्रम की उपस्थिति से ही दास व्यवस्था के उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादन पद्धति सिद्ध हो जाती है। यह श्यामसुन्दर के इतिहास के अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

इसी उद्धरण में श्यामसुन्दर एक बार फिर से हमारी अवस्थिति को बिना समझे विकृत करते हैं। उनका कहना है कि हम मानते हैं कि जाति कोई उत्पादन सम्बन्ध ही नहीं है, जिससे कि यह ध्वनित होता है कि हम जाति को उत्पादन सम्बन्धों का एक अंग भी नहीं मानते; **ऐसा लगता है कि श्यामसुन्दर लघुकालिक स्मृतिलोप के शिकार हो गये हैं; अभी कुछ ही पृष्ठ पहले वह हमारी इस बात के लिए आलोचना कर रहे थे कि हमने जाति को आर्थिक आधार का अंग माना है, मगर उत्पादन पद्धति नहीं माना है! अब वह कह रहे हैं कि हम जाति को आर्थिक आधार यानी उत्पादन सम्बन्धों का एक अंग भी नहीं मानते हैं! इसके पहले भी उन्होंने मेरी इसलिए आलोचना की थी कि मैंने सजातीय विवाह प्रथा की मौजूदगी और वितरण के जाति व्यवस्था द्वारा आंशिक रूप से विनियमित होने के आधार पर आज भी उसे आर्थिक आधार का अंग माना है; अब वह दावा कर रहे हैं कि मैं जाति व्यवस्था को उत्पादन सम्बन्धों का अंग मानता ही नहीं हूं! इसे क्या कहा जाय?** हम अपनी अवस्थिति याद दिला दें: हम आज जाति को उत्पादन सम्बन्धों का एक अंग मानते हैं, लेकिन जाति ही स्वयं आज के समाज का आर्थिक आधार नहीं है। वह उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग का महज़ एक अंग है। ऐसा लगता है कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" को चलाते-चलाते श्यामसुन्दर विक्षिप्तावस्था में प्रवेश कर रहे हैं! इसके बाद श्यामसुन्दर फिर से अपनी ही आलोचनाओं को भूलते हुए यह दावा करते हैं कि हम मानते हैं कि वर्ण-जाति कभी वर्ग थी; हमने अपने पिछले जवाब में ही दर्जनों बार लिखा है, इतिहास-लेखन सम्बन्धी अपने पेपर में भी लिखा है और यहां भी ऊपर स्पष्ट किया है कि अपने उद्भव के बिन्दु पर वर्ण ही वर्ग था और अभी उसमें वर्ण-जाति व्यवस्था की कोई चारित्रिक आभिलाक्षणिकता नहीं पैदा हुई थी। हमने अपने पिछले जवाब में जाति व्यवस्था सम्बन्धी अपने नवीनतम शोध कार्यों, व्याख्यानों आदि का लिंक भी दिया था, जिसे अगर श्यामसुन्दर

ने सुना या पढ़ा होता, तो वह जानते होते की वह अपनी मूढ़ता बिना वजह हम पर आरोपित कर रहे हैं। **इसके बाद, वास्तव में विक्षिप्तावस्था की पराकाष्ठा पर जाते हुए श्यामसुन्दर कहते हैं कि हम मौजूदा जाति व्यवस्था को पूंजीवादी जाति व्यवस्था दास श्रम के आधार पर घोषित करते हैं। जिस भी पाठक ने इस पूरी बहस में हमारी अवस्थिति को पढ़ा है, वह समझ सकता है कि यह कैसा पागलपन भरा दावा है। ऐसा हमने न कभी कहा है और न ही लिखा है। दास श्रम के आधार पर भला हम जाति व्यवस्था के पूंजीवादी चरित्र को क्यों सिद्ध करेंगे?** हमने श्यामसुन्दर के इस तर्क का जवाब देते हुए पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में दास श्रम की मौजूदगी की संभाव्यता और अमेरिका से इसके ठोस उदाहरण की बात की थी कि किसी भी सामाजिक संरचना में केवल एक प्रकार का उत्पादन सम्बन्ध या श्रम विभाजन नहीं होता है। इसके आधार पर कोई अर्द्धपागल व्यक्ति ही यह कह सकता है कि हम मौजूदा जाति व्यवस्था को पूंजीवादी जाति व्यवस्था दास श्रम के आधार पर कह रहे हैं।

इतनी सारी अज्ञानतापूर्ण बातों को केवल 12 पेजों में कहने के बाद श्यामसुन्दर घोषणा करते हैं कि "अत: ऊपर की गयी सारी चर्चा से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि जाति व्यवस्था आनुवांशिक श्रम विभाजन पर आधारित एक विशेष दौर की यानी प्राचीन काल से औपनिवेशिक काल तक की एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी जिसकी उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रकार के जाति आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन के आधार पर हुई थी।" तो इसका अर्थ है कि 1200 ईसवी पूर्व से 1810 तक, तीन हज़ार साल तक भारत में एक ही उत्पादन व्यवस्था कायम थी; वह उत्पादन पद्धति एशियाई उत्पादन पद्धति, सामन्ती उत्पादन पद्धति और 'जाति उत्पादन पद्धति' एक साथ थी! इतने लम्बे दौर तक भारत की सामाजिक संरचना में आन्तरिक अन्तरविरोध से कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ; हुण, कुषाण, मंगोल, तुर्क, अफगान, अंग्रेज, आदि सब आये, मगर उत्पादन व्यवस्था वही बनी रही! **अब हम अपने कोमल संवेदनाओं वाले हमदर्द साथियों से पूछना चाहेंगे कि ऐसी बात को प्रचण्ड मूर्खता की संज्ञा दी जानी चाहिए या नहीं? हम इस घोषणा में अभिव्यक्त हरेक नुक्ते का ऊपर विस्तृत खण्डन पेश कर चुके हैं और दिखला चुके हैं कि इन महोदय, यानी श्री श्यामसुन्दर को, न तो भारतीय इतिहास के बारे में कुछ पता है और न ही मार्क्सवाद के बारे में। ऐसे तमाम मठाधीश मार्क्सवादी होने के नाम पर देश में कई जगह बैठे हैं और अपनी मूढ़ता की ब्रॉडकास्टिंग किये जा रहे हैं; हमारा मानना है कि ईमानदार और विवेकवान राजनीतिक कार्यकर्ताओं और नौजवानों को इनसे सावधान रहना चाहिए; मूर्खता से जितनी दूर रहा जाय, उतना बेहतर होता है और इसीलिए हमने भी तय किया है, कि इस बहस में यह हमारा आखिरी जवाब होगा।** लेकिन फिलहाल हम श्यामसुन्दर के इस नये खर्रे की चीर-फाड़ का काम आगे बढ़ाते हैं।

'औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति' के विषय में श्यामसुन्दर की नयी गोलमाल और कठदलीलियां

श्यामसुन्दर का मानना है कि 1200 ईसवी पूर्व से 1810 तक भारत में 'जाति उत्पादन पद्धति' थी (जो कि एशियाई उत्पादन पद्धति भी थी, और जो कि सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल में लगातार अस्तित्वमान रही थी!!) और 1810 से 1947 तक भारत में 'औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति' थी! हमने अपने पिछले जवाब में ही दिखलाया था कि 'औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति' जैसी कोई चीज़ नहीं होती है। **श्यामसुन्दर को भी समझ आया कि यहां तो वह फंस गये हैं। लेकिन अब इससे पीछे कैसे हटें! तो अब वह लफ्फाजी और गोलमाल पर आमादा हो गये हैं। श्यामसुन्दर 'औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति' के अपने सिद्धान्त को सही सिद्ध करने के लिए कठदलीलियों का एक नया सिलसिला शुरू करते हैं।**

वह लिखते हैं: "लेकिन जिस उत्पादन प्रणाली में मानव द्वारा मानव का शोषण सामन्ती उत्पादन प्रणाली से भी हो और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से भी और इस प्रकार की उत्पादन पद्धति में शासक वर्ग न तो सामन्ती वर्ग हो और न ही राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग हो, बल्कि इन दोनों से ही अलग औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग हो तो हमने इस प्रकार की उत्पादन पद्धति को ही औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति कहा है। उत्पादन की इस पद्धति में सिर्फ मानव द्वारा मानव का शोषण-उत्पीड़न ही नहीं बल्कि एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण-उत्पीड़न भी है। इस उत्पादन पद्धति में राज्य का चरित्र औपनिवेशिक वर्ग चरित्र होता है। औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति में किसानों का जिस सामन्ती उत्पादन पद्धति के जरिये खून निचोड़ा जाता है उस सामन्ती पद्धति का नियंत्रण पूंजी की सत्ता के अधीन होता है न कि सामन्ती सत्ता के। क्या इसमें एक विरोधाभास नज़र नहीं आता है कि पूंजी द्वारा किसानों का शोषण सामन्ती पद्धति से किया जाए? इस विरोधाभास का एकमात्र हल यही है कि हम औपनिवेशिक वर्ग के राज्य और शासन के तहत स्थापित होने वाली उत्पादन पद्धति को सामन्ती अथवा पूंजीवादी उत्पादन पद्धति न कहकर औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति कहें, जिसमें उत्पादन के तमाम साधनों का नियंत्रण भी औपनिवेशिक वर्ग के हाथों में होता है।" **जब आदमी की ग़लती पकड़ा जाती है तो वह इसी प्रकार एक ही सांस में, बिना पंक्चुएशन चिन्हों के अगड़म-बगड़म बोलता है।**

दिक्कत यह है कि विरोधाभास इस बात में नहीं है कि औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग किसानों के सामन्ती शोषण को कायम रखे, बल्कि विरोधाभास श्यामसुन्दर के मस्तिष्क में है। अपनी एक ग़लत अवस्थिति की रक्षा में इन महाशय को कितने कुतर्क गढ़ने पड़ रहे हैं! आइये, थोड़ा नज़दीकी से इन कुतर्कों पर नज़र डालें। **पहली बात, सेटलर उपनिवेशों (जैसे कि अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, आदि) को छोड़ दें, तो औपनिवेशिक शासक वर्ग ने हर देश में, जिसे कि उसने गुलाम बनाया, सामन्ती वर्ग के साथ गठजोड़ कायम किया और ग्रामीण क्षेत्र में सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों बनाये रखा; बस फर्क यह होता है कि औपनिवेशिक राज्य सत्ता एक कर वसूलने वाला राज्य (tribute state) होता है और अन्य देशी राजे-रजवाड़ों और रियासतों को वह अपना करद राज्य (tributary state) बनाती है।** ***यह ट्रिब्यूट या कर अधिशेष के उत्पादन और इस प्रकार प्रत्यक्ष उत्पादक और उत्पादन के साधनों व इन साधनों के मालिकों के बीच के सम्बन्ध को निर्धारित नहीं करता है; अधिशेष का विनियोजन मूलत: और मुख्यत: उसी प्रकार हो रहा होता है, जिस प्रकार औपनिवेशिक शक्तियों के आने के पहले हो रहा था; बल्कि किसी सामन्ती शोषण को औपनिवेशिक राज्य ज्यादा व्यवस्थित और तीव्र बनाता है।***

दूसरी बात यह है कि औपनिवेशिक शासन कायम होने से एक *औपनिवेशिक सामाजिक संरचना* पैदा होती है, जिसमें मुख्य तौर पर सामन्ती उत्पादन पद्धति, और अन्य प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन पद्धतियों और उपनिवेशवाद द्वारा लायी गयी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का तन्तुबद्धीकरण होता है, लेकिन चूंकि समूची अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि के क्षेत्र से हो रहे अधिशेष विनियोजन पर आधारित होती है, इसलिए कृषि में मौजूद उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादन पद्धति ही इस सामाजिक संरचना की प्रभुत्वशाली उत्पादन पद्धति होती है। **यह भी बेहद महत्वपूर्ण बात है कि सामन्ती और अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचनाओं में राज्य सत्ता में भी औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग सामन्ती वर्ग और एजेण्ट/दलाल पूंजीपति वर्ग के साथ गठजोड़ कायम करता है, हालांकि साम्राज्यवादी इस गठजोड़ में प्रभुत्वशील स्थिति में होते हैं।** ***लेकिन इससे भी भूमि सम्बन्धों और किसानों के सामन्ती शोषण का समापन नहीं होता, बल्कि वह और मज़बूत भी हो सकता है और इतिहास में आम तौर पर ऐसा ही हुआ है।*** अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक संरचना की चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं के बात करते हुए माओ लिखते हैं:

"(1) The foundations of the self-sufficient natural economy of feudal times have been destroyed, ***but the exploitation of the peasantry by the landlord class, which is the basis of the system of feudal exploitation, not only remains intact but, linked as it is with exploitation by comprador and usurer capital, clearly dominates China's social and economic life.***

"(2) National capitalism has developed to a certain extent and has played a considerable part in China's political and cultural life, but it has not become the principal pattern in China's social economy; ***it is flabby and is mostly associated with foreign imperialism and domestic feudalism in varying degrees.***" (Mao, *The Chinese Revolution and the Chinese Communist Party,* Selected Works of Mao Tse-tung, Vol-II, Foreign Languages Press, Peking, p. 314)

अपनी इसी रचना में माओ आगे साम्राज्यवाद और सामन्ती शासक वर्ग के बीच का रिश्ता बताते हुए लिखते हैं:

"***The landlord class forms the main social base for imperialist rule in China; it is a class which uses the feudal system to exploit and oppress the peasants,*** obstructs China's political, economic and cultural development and plays no progressive role whatsoever." (*ibid,* p. 319)

लेनिन की रचनाओं से भी उद्धरण पेश किये जा सकते हैं, जो कि दिखलाते हैं कि हर उपनिवेश में साम्राज्यवादियों ने सामन्ती भूस्वामियों को अपने प्रमुख सामाजिक अवलम्ब के तौर पर लिया, सामन्ती उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों को कम-से-कम छेड़ा, और औपनिवेशिक राज्यसत्ता को एक कर वसूल करने वाले निष्कर्षक (extractive) राज्य के रूप में विकसित किया। ***यही कारण है कि तमाम औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक समाजों में कृषि में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध बने रहे; फर्क बस इतना हुआ कि सामन्ती लगान के तौर पर जो अधिशेष विनियोजित हो रहा था, उसका एक हिस्सा कर के रूप में सामन्ती वर्ग को अब औपनिवेशिक राज्य को देना होता था। क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति थी? नहीं! क्यों? क्योंकि अधिशेष के विनियोजन की प्रणाली (mode of surplus extraction) में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं आया था। यही कारण है कि लेनिन या माओ ने कहीं भी 'औपनिवेशिक या अर्द्धऔपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली' की बात नहीं की है, बल्कि 'औपनिवेशिक या अर्द्धऔपनिवेशिक समाजों या देशों' की बात की है।***

जहां पर 'अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों' की बात की गयी है, वहां भी अर्थ एक ऐसे देश में सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों से है, जहां पर औपनिवेशिक राज्यसत्ता के चलते निर्भर (dependent) किस्म का सीमित पूंजीवादी

विकास हुआ है और गांवों में सूदखोर पूंजी का हस्तक्षेप बढ़ा है। लेकिन जहां तक अधिशेष को निचोड़ने की पद्धति का प्रश्न है, वह सामन्ती लगान ही है। सामन्ती लगान क्या होता है? जहां निर्भर किसानों और भूदासों से एक ऐसा ज़मींदार वर्ग लगान वसूलता है, जिसके पास स्थानीय स्तर पर पूर्ण या आंशिक रूप में कार्यकारी शक्ति होती है; दूसरे शब्दों में, स्थानीय स्तर पर, मसलन गांव के स्तर पर वह राज्य का एक अंश/खण्ड (parcel of state) होता है। क्या भारत में ऐसा था? जी हां! **दिक्कत यह है कि श्यामसुन्दर ने भारत का इतिहास पढ़ा ही नहीं है, या जो उनके हेडमास्टर ने उन्हें स्कूल में पढ़ाया था, उसके आगे उन्होंने कोई अध्ययन ही नहीं किया है। हमारी सलाह है कि अपनी मूढ़ता की इस नुकसानदेह ब्रॉडकास्टिंग को रोकने के लिए कम-से-कम भारत के आर्थिक और सामाजिक इतिहास की कुछ बुनियादी पुस्तकें पढ़ लें, जैसे कि सब्यसाची भट्टाचार्या की 'भारत का आर्थिक इतिहास', तिर्थंकर रॉय की 'भारत का आर्थिक इतिहास', सुमित सरकार की 'आधुनिक भारत' आदि। जैसा कि माओ ने कहा था, "कोई जांच-पड़ताल नहीं तो बोलने का कोई अधिकार नहीं।"**

श्यामसुन्दर का यह प्रश्न कि क्या पूंजी की सत्ता के मातहत सामन्ती उत्पीड़न होना विरोधाभासी नहीं है, उनके अज्ञान को प्रदर्शित करता है। यह भी दिखलाता है कि न तो इन महोदय ने लेनिन की अवस्थितियों को पढ़ा है और न दुनिया के आधुनिक इतिहास को। बिना शक़, यह सम्भव है। यदि हम औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग की बात कर रहे हैं तो यह बिल्कुल सम्भव है कि औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग अपने उपनिवेशों में सामन्ती शोषण को कायम रखे। दूसरा, तमाम संक्रमणकालीन अवस्थाओं में पूंजीपति वर्ग ने सामन्ती उत्पीड़न को अस्थायी/स्थायी तौर पर बने रहने की इजाज़त दी है। मिसाल के तौर पर, लेनिन ने रूस की दमित राष्ट्रीयताओं के शासक वर्ग के एक हिस्से को "बुर्जुआ-फ्यूडलिस्ट" की संज्ञा इसी आधार पर दी है। लेकिन सवाल यह है कि उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्ध किस आधार पर निर्धारित होते हैं; यदि राज्यसत्ता साम्राज्यवादी शासन के अधीन है, तो क्या इस आधार पर उत्पादन पद्धति को औपनिवेशिक कहा जायेगा? नहीं। देखते हैं कि मार्क्स ने उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों के चरित्र निर्धारण के विषय में क्या लिखा है:

"The specific economic form in which unpaid surplus labour is pumped out of the direct producers determines the relations of rulers and ruled, as it grows immediately out of production itself and reacts upon it as a determining element...It is always the direct relation of the owners of the conditions of production to the direct producers which reveals the innermost secret, the hidden foundation of the entire social construction... The form of this relation between rulers and ruled naturally corresponds always with a definite stage in the development of the methods of labour and of its productive social power. This does not prevent the same economic basis from showing infinite variations and gradations in its appearance, even though its principal conditions are everywhere the same." (Marx, *Capital, Vol-III,* p. 919, Penguin Edition)

यहां मार्क्स ने उत्पादक शक्तियों, उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बन्ध के बीच का रिश्ता स्पष्ट कर दिया है। प्रसंगान्तर करते हुए यह भी बता दें कि यहां ग़ौर करने वाली बात है कि इनके बीच के कारणात्मक क्रम और सम्बन्धों का ज़िक्र करते हुए मार्क्स अलग से कहीं श्रम विभाजन की बात नहीं कर रहे हैं, केवल

स्वामित्व के सम्बन्धों की बात कर रहे हैं; इसका कारण यह है कि स्वामित्व का सम्बन्ध वितरण के सम्बन्ध और श्रम विभाजन के सम्बन्धों को निर्धारित करता है। मुख्य बात यह है कि उत्पादन पद्धति का निर्धारण अधिशेष को निचोड़े जाने की स्वरूप/प्रणाली से ही तय होता है; ***इसीलिए औपनिवेशिक राज्यसत्ता की मौजूदगी के कारण औपनिवेशिक समाज या औपनिवेशिक देश की बात तो की जा सकती है, लेकिन औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली की नहीं।*** मज़ेदार बात यह है कि 'औपनिवेशिक उत्पादन व्यवस्था' की अपनी मूढ़ अवधारणा को सिद्ध करने के लिए श्यामसुन्दर मार्क्स का एक उद्धरण पेश करते हैं, जिसमें मार्क्स ठीक वही बात कर रहे हैं जिससे कि ऐसी कोई भी अवधारणा ख़ारिज हो जाती है। उसमें मार्क्स लिखते हैं: "जिस विशिष्ट पद्धति से यह संयोग (प्रत्यक्ष उत्पादक और उत्पादन के साधनों का) सम्पन्न होता है, उसके अनुसार सामाजिक ढांचे के विभिन्न आर्थिक युग अलग-अलग पहचाने जाते हैं।" **समझ में नहीं आता कि किस स्रोत से ऊर्जा लेकर श्यामसुन्दर लिखते-पढ़ते हैं! मतलब, कोई इंसान उद्धृत करने के मामले में इतना अपढ़ और मूर्ख कैसे हो सकता है कि अपनी ही बातों को खण्डित करने वाले उद्धरण पेश करे? लेकिन यह तो ठहरे श्यामसुन्दर! आप इनसे ऐसी असंभाव्य चीज़ों की उम्मीद कर सकते हैं।**

इसके बाद श्यामसुन्दर जो लिखते हैं, वह फिर स्पष्ट से प्रदर्शित करता है कि इन्हें भारतीय इतिहास के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। महाशय लिखते हैं: "औपनिवेशिक काल में देश के उत्पादन साधनों पर ब्रिटिश औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग का स्वामित्व कायम हो गया था और उसी वर्ग ने भूमि व्यवस्था में देश के कृषकों को उत्पादन के साथ संयुक्त करने की जिस विशिष्ट पद्धति को लागू किया था, यह विशिष्ट पद्धति किसान वर्ग के शोषण की अर्द्धसामन्ती उत्पादन पद्धति थी जो औपनिवेशिक शोषण का आधार थी। यानी औपनिवेशिक ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग भारतीय कृषक वर्ग को अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन पद्धति के ज़रिये लूट रहा था एवं औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग ही उत्पादों और निचोड़े गये अधिशेष के वितरण का नियमन करता था, सामन्ती वर्ग नहीं।" अब हम कहेंगे कि श्यामसुन्दर मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं, तो हल्ला मच जायेगा! ***<u>मतलब, उपरोक्त उद्धरण में कही गयी हर बात न सिर्फ तार्किक तौर पर ग़लत है, बल्कि तथ्यात्मक तौर पर भी ग़लत है और श्यामसुन्दर के भारतीय इतिहास के बारे में निपट अपढ़पन को प्रदर्शित करती है।</u>*** **पहली बात तो यह है कि औपनिवेशिक काल में देश के उत्पादन के साधनों का स्वामी ब्रिटिश औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग नहीं बना था; तथ्य बिल्कुल उल्टा है; भूमि स्वामित्व में ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति को वैधिक और कानूनी तौर पर अंग्रेज़ों ने ही स्थापित किया था; ग़ौरतलब है कि भारत में उस समय कुल उत्पादन का 90 फीसदी से ज्यादा कृषि के क्षेत्र में ही होता था और इस क्षेत्र में भारतीय सामन्ती वर्ग की निजी सम्पत्ति को, जो कि सल्तनत और मुगल शासनों के निरंकुश सामन्ती दौर में अनुपस्थित थी, अंग्रेज़ों ने ही पहली बार अपनी भूमि व्यवस्थाओं के ज़रिये स्थापित किया था; दूसरी बात, औद्योगिक क्षेत्र में भी अंग्रेज़ों के मालिकाने और उभरते भारतीय पूंजीपति वर्ग के मालिकाने में जो आर्थिक इकाइयां थीं, उसमें भी कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं था, हालांकि भारतीय पूंजीपति वर्ग पहले विश्वयुद्ध से दूसरे विश्वयुद्ध के बीच ही आधुनिक पूंजीवादी उद्योग में ढंग से दख़ल दे पाया; उसके पहले, साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग ने उसे कच्चे माल की आपूर्ति करने वाले उद्योगों में ही सीमित रखने का प्रयास किया था, और इसमें कमोबेश कामयाब रहा था। आमिया कुमार बागची ने अपनी पुस्तक 'प्राईवेट इन्वेस्टमेण्ट्स इन इण्डिया, 1900-39' में दिखलाया है कि कई भारतीय रजवाड़ों ने पूंजीपति वर्ग को अपनी रियासतों में कारखाने लगाने के न सिर्फ अवसर दिये थे, बल्कि उसके लिए प्रेरित भी किया था (देखें, पृ. 214-5)। यानी, अर्थव्यवस्था के 5 प्रतिशत हिस्से को संघटित करने वाले औद्योगिक क्षेत्र में भी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग सारे उत्पादन के साधनों का स्वामी नहीं था। लेकिन श्यामसुन्दर भारत का नया इतिहास पैदा करने पर आमादा हो गये हैं।**

श्यामसुन्दर लिखते हैं कि औपनिवेशिक काल में औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग अधिशेष के वितरण का विनियमन कर रहा था। मार्क्स ने बताया है कि यह उत्पादन की पद्धति है जो वितरण के सम्बन्धों को निर्धारित करती है; निश्चित तौर पर, औपनिवेशिक शासन में अधिशेष का एक हिस्सा कर के रूप में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक वर्ग अधिग्रहीत करता था; यह मार्क्स के अनुसार **आदिम संचय** का ही एक रूप था, जो कि आर्थिकेतर ज़ोर-ज़बर्दस्ती (coercion) पर निर्भर करता था, क्योंकि *राजनीतिक सत्ता* औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग के हाथों में थी। **लेकिन उत्पादन के सम्बन्ध कृषि के क्षेत्र में, जो अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा हिस्सा था, सामन्ती बने हुए थे क्योंकि यह सामन्ती ज़मींदार वर्ग था जो कि भूमि के स्वामी के तौर पर निर्भर किसान आबादी से सामन्ती लगान के रूप में अधिशेष निचोड़ता था; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह अधिशेष लगान (rent) व कर (tax) के रूप में किस अनुपात में विभाजित होता था। मूल बात यह है कि यह लगान व कर में विभाजित *होता* था और अंग्रेज़ों को अपने औपनिवेशिक शासन को बरकरार रखने के लिए भारत में जिस सामाजिक अवलम्ब (social props) की आवश्यकता थी, वह ज़मींदार वर्ग के साथ संश्रय बनाने के लिए उसे बाध्य करता था और इसीलिए वह समूचे अधिशेष को राजकीय कर के रूप में नहीं वसूल सकता था, जैसा कि इतिहास में कुछ निरंकुश राज्यसत्ताओं ने किया है। वह ज़मींदारों के साथ अधिशेष को साझा कर रहा था; इसलिए अधिशेष का वितरण उत्पादन के सम्बन्धों से ही निर्धारित हो रहा था।** यहां श्यामसुन्दर वितरण के सम्बन्धों को ही देख पा रहे हैं (हालांकि समझ नहीं पा रहे!) लेकिन उत्पादन के सम्बन्धों को नहीं। मार्क्स ने बताया है कि कई बार वितरण के सम्बन्ध को उत्पादन सम्बन्ध से स्वतन्त्र तौर पर देखा जाता है, जो ग़लत है। मार्क्स लिखते हैं:

"A definite [mode of] production thus determines a definite [mode of] consumption, distribution, exchange and definite relations of these different moments to one another." (Marx, *A Contribution to the Critique of Political Economy,* Progress Publishers, Moscow, p. 221)

एक अन्य स्थान पर मार्क्स ने लिखा है, "The profit of the capitalist class has to exist before it can be distributed." यह बात मार्क्स ने उन लोगों के जवाब में कही थी जो कि वितरण और संरचण के पहलू को ज्यादा अहम मानते थे। यह बात न सिर्फ पूंजीपति वर्ग के ऊपर लागू होती है, बल्कि हर शासक वर्ग के ऊपर लागू होती है, कि, दूसरे शब्दों में, अधिशेष का बंटवारा होने के लिए पहले अधिशेष का उत्पादन होना ज़रूरी है और इसीलिए अधिशेष का उत्पादन बुनियादी पहलू है जो कि उसके वितरण को निर्धारित करता है। **साथ ही, राजनीतिक नियन्त्रण के पहलू के मद्देनज़र इस अधिशेष का वितरण कई प्रकार से हो सकता है; मसलन, सामन्ती लगान औपनिवेशिक राज्य और सामन्ती ज़मींदार वर्ग के बीच बंट सकता है; निरंकुश राजशाही और सामन्ती ज़मींदार वर्ग के बीच बंट सकता है, वगैरह। इससे अधिशेष के विनियोजन के चरित्र में और इसीलिए उत्पादन पद्धति के चरित्र में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं आता है। लेकिन क्या हम श्यामसुन्दर से मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की इन बुनियादी बातों को समझने की उम्मीद कर सकते हैं? अब तक उनसे हुए संवाद से तो ऐसा कतई नहीं लगता है।**

यहां से हम अपने जवाब के अगले हिस्से पर आते हैं, जिसमें श्यामसुन्दर ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विषय में अपनी दीवालिया समझ का बेमिसाल सबूत पेश किया है।

5. विचार, विचारधारा और चेतना के विषय में श्यामसुन्दर के विचार: अज्ञानता के नये शिखरों पर श्यामसुन्दर का नायकत्वपूर्ण ध्वजारोहण

"यह केवल उनकी मूर्खता है, जिसके कारण वह खुद को लेकर इतने आश्वस्त रहते हैं।"

-फ्रांज़ काफ्का

कोई भी मार्क्सवाद से परिचित व्यक्ति जानता है कि 'विचारधारा' शब्द का मार्क्सवाद में क्या इस्तेमाल है और मार्क्स ने इसे किस रूप में इस्तेमाल किया था। मार्क्सवाद का ककहरा जानने वाला व्यक्ति भी जानता है कि मार्क्सवाद स्वयं न सिर्फ राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना है, बल्कि विचारधारा की भी आलोचना है। **लेकिन श्यामसुन्दर को विचारधारा की मार्क्सवादी अवधारणा के बारे में पता ही नहीं है। उन्हें लगता है कि विचार और विचारधारा, चेतना और विचारधारा एक ही चीज़ें हैं।** ***हम फिर पूछते हैं कि अगर हम जैसे को तैसा कहते हैं (call a spade a spade), यानी श्यामसुन्दर को मूर्खता और अज्ञान की प्रतिमूर्ति कहते हैं, तो इससे कोमल भावनाओं वाले कुछ साथियों को ठेस क्यों लग जाती है?*** आप ही बताएं कि जो व्यक्ति कुछ दशकों से कम्युनिस्ट आन्दोलन में है और अपने लेखन में वह द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में लगातार उपदेश दे रहा है, यदि उसे विचार, चेतना और 'विचारधारा' की मार्क्सवादी अवधारणा तक के बारे में पता नहीं है, उसे क्या कहा जाय? कुछ तो कहना पड़ेगा न!

श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमने जातिगत विचारधारा को वर्ग सम्बन्धों व मूलाधार से *निश्चित अर्थों में*, यानी *सापेक्षिक रूप से* स्वायत्त करार देकर ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की जड़ पर प्रहार कर दिया है! पहली बात तो यह कि 'निश्चित अर्थों में स्वायत्त' कहने का अर्थ ही श्यामसुन्दर के दिमाग़ में नहीं जा पाया है; इसका अर्थ ही है कि यह सभी अर्थों में यानी निरपेक्ष रूप से स्वायत्त नहीं है, बल्कि सापेक्षिक रूप से स्वायत्त है और अधिरचना आर्थिक आधार से सापेक्षिक रूप में स्वायत्त होती है, जैसा कि आगे हम दिखाएंगे। यह मार्क्सवाद की एक बुनियादी प्रस्थापनाओं में से एक है, जिसके बारे में श्यामसुन्दर पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर ने यह साबित करने के लिए बेकार में पन्ने काले किये हैं कि विचारों का एक वर्ग चरित्र होता है; **यहां फिर से दो बातें समझने वाली हैं; पहली बात, जब कोई मार्क्सवादी कहता है कि विचारधारा के सभी रूप, यानी कानून, धर्म, आदि वर्ग सम्बन्धों और इस रूप में शासक वर्ग से सापेक्षिक स्वायत्तता रखते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि विचारधारा का कोई वर्ग चरित्र नहीं होता है; और दूसरी बात यह है विचार और विचारधारा में अन्तर होता है; विचार एक जेनेरिक शब्द है, जिसके मातहत सही या ग़लत विचार आ सकते हैं; जबकि विचारधारा विचारों की एक विशिष्ट व्यवस्था होती है, जो कि वास्तविक दुनिया और व्यक्ति के सम्बन्ध के विषय में लोगों के सम्मुख एक नकली छवि पेश करती है; यह विचारधारा जाने या अनजाने तरीके से शासक वर्ग के चिन्तकों द्वारा निर्मित होती है, लेकिन एक छद्म चेतना (false consciousness) के साथ।** यही कारण है कि विचारधारा कभी भी आर्थिक मूलाधार के साथ पूर्ण रूप से अभिज्ञानित (identify) नहीं हो सकती है। सबसे मज़ाकिया बात यह है कि श्यामसुन्दर ने यह साबित करने के

लिए कि विचारों का वर्ग चरित्र होता है, दे उद्धरण पर उद्धरण ठूंस दिये हैं! लेकिन पाण्डित्यदम्भ में अन्धे इन महोदय को यही नहीं पता कि विचार और विचारधारा के बीच क्या अन्तर होता है।

विचारधारा अधिरचना का अंग होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे राज्यसत्ता, कानून, धर्म, शिक्षा व्यवस्था आदि अधिरचना का अंग होते हैं; अधिरचना के किसी भी अन्य अंग के समान विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता होती है; यह मार्क्स और मार्क्सवाद का एक सुस्थापित विचार है, जिसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कोई नया विद्यार्थी भी अच्छी तरह से जानता है। लेकिन हम फिर भी मार्क्स व एंगेल्स आदि के विचारों को पेश करेंगे, जिससे कि श्यामसुन्दर को समझ में आ जाये कि जातिगत विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता की बात करके हम ऐतिहासिक व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की जड़ नहीं खोद रहे हैं, बल्कि विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्ता से इंकार करके वह ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस बुनियादी शिक्षा के प्रति अपनी राजनीतिक रतौंधी का प्रदर्शन कर रहे हैं। श्यामसुन्दर को लगता है कि यदि विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता की बात की जाती है, तो उसके वर्ग चरित्र का खण्डन होता है। यह भी उनकी मार्क्सवाद की समझदारी को निपट नंगा कर देता है। आइये देखते हैं कि मार्क्स व एंगेल्स विचारधारा के बारे में क्या कहते हैं। 'जर्मन विचारधारा' के निम्न उद्धरण पर ग़ौर करें:

"If *in all ideology* men and their circumstances appear upside-down as in a *camera obscura*, this phenomenon arises just as much from their historical life-process as the inversion of objects on the retina does from their physical life-process." (Marx-Engels, *German Ideology*)

यहां मार्क्स व एंगेल्स क्या कह रहे हैं? वे कह रहे हैं कि सभी विचारधारात्मक रूपों में मनुष्यों और उनकी ठोस परिस्थितियों की तस्वीर हूबहू प्रकट नहीं होती है, बल्कि एक विपरिवर्तन (inversion) और विकृतिकरण (distortion) के साथ पेश होती है। वास्तव में, विचारधारा के मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिए विपरिवर्तन और विकृतिकरण का पहलू केन्द्रीय पहलू है। इसी प्रकार 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' में मार्क्स विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता को और स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं:

"In considering such transformations it is always necessary to distinguish between the material transformation of the economic conditions of production, which can be determined with the precision of natural science, and the legal, political, religious, artistic or philosophic, in short, *ideological, forms in which men become conscious of this conflict and fight it out.*" (Marx, *Preface to A Contribution to the Critique of Political Economy)*

मार्क्स बेहद स्पष्ट शब्दों में ऊपर विचारधारात्मक रूपों की आर्थिक आधार से सापेक्षिक स्वायत्तता को समझाते हैं और साथ ही विचारधारा के चरित्र को भी स्पष्ट करते हैं। एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' में इसे और विस्तार से समझाया है:

"And when such an *ideologist* constructs morality and law from the concept, or the so-called simplest elements of "society", instead of from the real social relations of the people round him, what material is then available for this construction? Material clearly of two kinds: first, the meagre residue of real content which may possibly survive in the abstractions from which he starts and, secondly, the content which our *ideologist* once more introduces *from his own consciousness.* And what does he find in his consciousness? For the most part, moral and juridical notions which are a more or less accurate expression (positive or negative, corroborative or antagonistic) of the social and political relations amidst which he lives; perhaps also ideas drawn from the literature on the subject; and, as a final possibility, some personal idiosyncrasies. Our ideologist may turn and twist as he likes, but the historical reality which he cast out at the door comes in again at the window, and while he thinks he is framing a doctrine of morals and law for all times and for all worlds, he is in fact only fashioning an image of the conservative or revolutionary tendencies of his day – ***an image which is distorted because it has been torn from its real basis and, like a reflection in a concave mirror, is standing on its head."*** (Engels, *Anti-Duhring, emphasis ours*)

जैसा कि हम देख सकते हैं कि एंगेल्स ने विस्तार से स्पष्ट किया है कि कानून, नैतिकता से लेकर धर्म तक, सभी विचारधारात्मक रूप कभी भी उस वर्ग समाज के मूलाधार को हूबहू अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं, जिसकी वह सेवा करते हैं। विचारधारा का कार्य ही होता है आर्थिक आधार के शोषणकारी चरित्र को एक आदर्शीकृत रूप में विकृत और विपरिवर्तित करके पेश करना, अन्यथा इसे विचारधारा कहा ही नहीं जा सकता है। कॉनरैड श्मिट को लिखे अपने पत्र में एंगेल्स बताते हैं कि न सिर्फ विचारधारात्मक रूप बल्कि अधिरचना के अंग के तौर पर स्वयं राज्यसत्ता और उसके विचारकों की एक सापेक्षिक स्वायत्ता होती है:

"…Society gives rise to certain common functions which it cannot dispense with. The persons selected for these functions form a new branch of the division of labour *within society.* This gives them particular interests, *distinct too* from the interests of those who gave them their office; ***they make themselves independent of the latter and – the state is in being.*** And now the development is the same as it was with commodity trade and later with money trade; the new independent power, while having in the main to follow the movement of production, also, owing to its inward independence (the ***relative independence*** originally transferred to it and gradually further developed) reacts in its turn upon the conditions and course of production. It is

the interaction of two unequal forces: on one hand the economic movement, on the other the new political power, which strives for as much independence as possible, and which, having once been established, is ***also endowed with a movement of its own.*** On the whole, the economic movement gets its way, but it has also to suffer reactions from the political movement which it established and ***endowed with relative independence*** itself, from the movement of the state power on the one hand and of the opposition simultaneously engendered on the other. Just as the movement of the industrial market is, in the main and with the reservations already indicated, reflected in the money market and, of course, ***in inverted form***, so the struggle between the classes already existing and already in conflict with one another is reflected in the struggle between government and opposition, ***but also in inverted form***, no longer directly but indirectly, not as a class struggle but as a fight for political principles, and so distorted that it has taken us thousands of years to get behind it again." (Engels's letter to Conrad Schmidt, 27 October, 1890, *emphasis ours*)

इसी पत्र में एंगेल्स बताते हैं कि किस प्रकार बुर्जुआ कानून का भी एक विचारधारात्मक चरित्र होता है और वह कभी भी आर्थिक सम्बन्धों को विधिक रूप देते हुए भी, उन्हें हूबहू प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में वह उनकी एक आदर्शीकृत विकृत व विपरिवर्तित छवि पेश करता है:

"The reflection of economic relations as legal principles is necessarily also a topsyturvy one: it happens without the person who is acting being conscious of it; the jurist imagines he is operating with *a priori* principles, whereas they are really only economic reflexes; ***so everything is upside down. And it seems to me obvious that this inversion, which, so long as it remains unrecognised, forms what we call ideological conception, reacts in its turn upon the economic basis and may, within certain limits, modify it."*** -(ibid, ज़ोर हमारा)

इसी पत्र में एंगेल्स बताते हैं कि अन्तिम विश्लेषण में सभी अधिरचनात्मक क्षेत्र आर्थिक आधार से निर्धारित होते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अधिरचना मात्र आर्थिक आधार का एक ग़ैर-आर्थिक अनुवाद है। एंगेल्स लिखते हैं:

"If therefore Barth supposes that we deny any and every reaction of the political, etc., reflexes of the economic movement upon the movement itself, he is simply tilting at

windmills. He has only got to look at Marx's *Eighteenth Brumaire,* which deals almost exclusively with the *particular* part played by political struggles and events; of course, within their general dependence upon economic conditions. Or *Capital,* the section on the working day, for instance, where legislation, which is surely a political act, has such a trenchant effect. Or the section on the history of the bourgeoisie. (Chapter XXIV.) Or why do we fight for the political dictatorship of the proletariat if political power is economically impotent? Force (that is state power) is also an economic power." (ibid.)

एंगेल्स द्वारा निम्न शब्द मानो श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों के लिए ही लिखे गये हों:

"What these gentlemen all lack is dialectic. They never see anything but here cause and there effect. That this is a hollow abstraction, that such metaphysical polar opposites only exist in the real world during crises, while the whole vast process proceeds in the form of interaction (though of very unequal forces, the economic movement being by far the strongest, most elemental and most decisive) and that here everything is relative and nothing is absolute – this they never begin to see. Hegel has never existed for them." (ibid.)

कॉनरैड श्मिट को ही लिखे गये इस पत्र में एक स्थान पर एंगेल्स बताते हैं कि आधुनिक पूंजीवादी राज्य की कानूनी व्यवस्था की एक खास बात यह है कि वह कभी भी आर्थिक सम्बन्धों को हूबहू पेश नहीं कर सकता क्योंकि वह आदर्शीकृत तौर पर यह दावा करता है कि वह प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है; जैसे ही कानून और कानूनी पेशा संस्थाबद्ध रूप में पूंजीवादी समाज में स्थापित होते हैं, वैसे ही वे पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों और पूंजीपति वर्ग के हितों से एक सापेक्षिक स्वायत्तता हासिल कर लेते हैं ताकि पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को एक आदर्शीकृत विकृत व विपरिवर्तित अभिव्यक्ति दे सकें। यही कारण है कि कानूनी व्यवस्था का एक सबसे बड़ा अन्तरविरोध होता है, जिसे कि वह लगातार हल करने में प्रयासरत रहती है, कि पूंजीवादी आर्थिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते हुए भी अपने आदर्शीकृत रूप या विचारधारात्मक रूप को कैसे बनाये रखा जाय। एंगेल्स लिखते हैं:

"[in] a modern state not only must the law correspond to the general economic situation and be its expression, ***it must of itself constitute a coherent expression that does not, by reason of internal contradictions, give itself the lie. And to achieve this, the fidelity with which economic conditions are reflected is increasingly thrown to the winds.*** All the more so for the rarity with which a statute book is the harsh, unmitigated, unadulterated expression of the domination of one class: this of itself would be contrary

to the 'concept of law'...***the course of the 'law's development' has largely consisted ...[in] the attempt to eliminate the contradictions arising from the direct translation of economic conditions into legal principles and to establish an harmonious legal system and, secondly, the fact that the influence and pressure of further economic developments repeatedly disrupt that system, involving it in fresh contradictions."*** (*ibid.* ज़ोर हमारा)

आप देख सकते हैं कि एंगेल्स कितनी स्पष्टता से कानूनी विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता को स्पष्ट करते हैं।

अब एंगेल्स द्वारा फ्रांज़ मेहरिंग को लिखे गये पत्र में लिखी गयीं निम्न पंक्तियां विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता की मार्क्सवादी समझदारी के विषय में हर प्रकार के सन्देह के पर्दे को हटा देती है:

“Hanging together with this too **is the *fatuous notion of the ideologists* that because we deny *an independent historical development to the various ideological spheres*** which play a part in history we also deny them any effect upon history. The basis of this is the common undialectical conception of cause and effect as rigidly opposite poles, the total disregarding of interaction; these gentlemen often almost deliberately forget that once an historic element has been brought into the world by other elements, ultimately by economic facts, *it also reacts in its turn and may react on its environment and even on its own causes.*” (Engels’s letter to Franz Mehring, 14 July, 1893, *emphasis ours*)

एंगेल्स जोसेफ ब्लॉक को लिखे गये पत्र में भी विचारधारा समेत समस्त अधिरचनात्मक क्षेत्रों की सापेक्षिक स्वायत्तता के विषय में द्वन्द्वात्मक समझदारी को पेश करते हैं।

“According to the materialist conception of history, the *ultimately* determining element in history is the production and reproduction of real life. Other than this neither Marx nor I have ever asserted. Hence if somebody twists this into saying that the economic element is the *only* determining one, he transforms that proposition into a meaningless, abstract, senseless phrase. The economic situation is the basis, but the various elements of the superstructure — political forms of the class struggle and its results, to wit: constitutions established by the victorious class after a successful battle, etc., juridical forms, and even the reflexes of all these actual struggles in the brains of

the participants, political, juristic, philosophical theories, religious views and their further development into systems of dogmas — also exercise their influence upon the course of the historical struggles and in many cases preponderate in determining their *form*. There is an interaction of all these elements in which, amid all the endless host of accidents (that is, of things and events whose inner interconnection is so remote or so impossible of proof that we can regard it as non-existent, as negligible), the economic movement finally asserts itself as necessary. Otherwise the application of the theory to any period of history would be easier than the solution of a simple equation of the first degree." (Engel's letter to J.Bloch, 21 September, 1890)

एक बहुत ही शानदार उद्धरण में मार्क्स धार्मिक विचारधारा की तुलना माल अन्धभक्ति से करते हुए उसके *फ़ेटिश* चरित्र को दिखलाते हैं और यहां तक कि उसके लिए "स्वतन्त्र" शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे श्यामसुन्दर प्राणान्तक आतंक में घिर गये होते। मार्क्स लिखते हैं:

"To find an analogy, we must enter the nebulous world of religion. In that world, the products of the human mind become *independent* shapes endowed with lives of their own, and able to enter into relations with men and women. The products of the human hand do the same thing in the world of commodities."

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं से ऐसे दर्जनों अन्य उद्धरण पेश किये जा सकते हैं, जो कि बताते हैं कि समस्त विचारधारात्मक रूप चाहे वह कानून हो, धर्म हो, बुर्जुआ शिक्षा हो; आर्थिक आधार से *एक सापेक्षिक स्वायत्तता* रखते हैं और कई मौकों पर पलटकर आर्थिक आधार के रूपों को निर्धारित कर सकते हैं, हालांकि जब आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच मौजूद अन्तरविरोध असमाधेय हो जाता है, तो पहले राजनीतिक अधिरचना बलपूर्वक बदली जाती है और फिर आर्थिक आधार का क्रांतिकारी रूपान्तरण प्रारम्भ होता है; और इसके बाद नया आर्थिक आधार एक दीर्घकालिक प्रक्रिया में नयी अधिरचना को जन्म देता है, हालांकि यह प्रक्रिया बेहद जटिल रूप में सम्पन्न होती है। **जो विचारधारात्मक रूपों की स्वायत्ता को नहीं मानता, वह वास्तव में आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच सतत् मौजूद अन्तरविरोध के मार्क्सवादी सिद्धान्त का नकार करता है; ऐसा व्यक्ति वास्तव में विचारधारा की मार्क्सवादी अवधारणा से ही अनभिज्ञ है। यही कारण है श्यामसुन्दर ने इतनी मेहनत करके विषय-सूची से छांट-छांटकर यह साबित करने के लिए उद्धरण छांटें हैं कि विचारों का वर्ग चरित्र होता है! कठमुल्लावादी मूर्ख इसी प्रकार दीवार को धक्का देकर सोचते हैं कि उन्होंने कितना काम किया! ज़ाहिर है, न तो श्यामसुन्दर विचार और विचारधारा का फर्क समझते हैं, न सापेक्षिक स्वायत्तता का अर्थ समझते हैं (मार्क्स और एंगेल्स ने तो कई स्थानों पर इसके लिए "स्वतन्त्र" शब्द का प्रयोग भी किया है) और न ही यह समझते हैं कि सापेक्षिक स्वायत्तता की बात करने का अर्थ किसी विचारधारा के वर्ग चरित्र को नकारना नहीं है। यह मार्क्सवाद की बुनियादी बातें हैं, जो मार्क्सवाद को जड़सूत्रों के रूप में देखने वाले (वह भी मूर्खतापूर्ण तरीके से!) श्यामसुन्दर जैसे लोगों के सिर के ऊपर से बाउंसर के समान निकल जाती**

हैं। इसीलिए वह समझते हैं कि जब हम विचारधारा की स्वायत्तता की बात करते हैं तो हम उसके वर्ग चरित्र को नकार रहे हैं। देखें कि श्यामसुन्दर क्या लिखते हैं: "यानी अभिनव सिन्हा भी यहां स्पष्ट तौर पर स्वीकारते हैं कि शुद्धता/प्रदूषण पर आधारित ब्राह्मणवादी विचारधारा को गढ़ने और बनाने का काम शासक वर्ग के अंग और विचारकों के तौर पर ब्राह्मणों ने किया। यानी ब्राह्मणवादी विचारधारा जिसे हम जाति व्यवस्था की विचारधारा कहकर पुकारते हैं, असल में शासक वर्ग की ही विचारधारा थी जिसको गढ़ने का काम शासक वर्ग के अंग ब्राह्मण चिंतकों एवं विचारकों ने किया। इसका अर्थ इसके अलावा और कुछ नहीं कि ब्राह्मणवादी विचारधारा एक दौर के शासक वर्ग की विचारधारा थी तथा यह वर्ग विचारधारा ही जाति विचारधारा थी। ऊपर दिये गये मार्क्स-एंगेल्स के उद्धरणों से इतना जरूर पूर्णत: स्पष्ट है कि किसी भी वर्ग विभाजित समाज में सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा सत्ताधारी वर्ग की वर्ग विचारधारा होती है। न तो सत्ताधारी वर्ग द्वारा सत्ताधारी विचारधारा कहीं बाहर से प्राप्त की जाती है और न ही वह वर्गों से स्वायत्त होती है।"

यह उद्धरण श्यामसुन्दर की भोथरी, कठमुल्लावादी और मूर्खतापूर्ण समझ को अनावृत्त कर देने के लिए पर्याप्त है। जैसा कि आप देख सकते हैं, इन जनाब को विचार और विचारधारा के बीच, विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता और पूर्ण स्वतन्त्रता के बीच, सापेक्षिक स्वायत्ता के बावजूद वर्ग चरित्र होने के बारे में कुछ नहीं पता है। इसीलिए इन्होंने ऐसे जुमलों का भी इस्तेमाल किया है: "विचारधारा बाहर से नहीं आती"; अरे, तो कौन कह रहा है कि बाहर से आती है!? जब कोई तर्क नहीं बचता और श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के जुनून में बह जाते हैं, तो ऐसी ही हवा-हवाई बातें करने लगते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि हम पर इन्होंने अपनी मूर्खता आरोपित कर दी है: हमने 'निश्चित अर्थों में स्वायत्त' या 'सापेक्षिक तौर पर स्वायत्त' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे इन्होंने 'स्वायत्त' बना दिया है। यानी कि मूर्ख से मूर्ख आदमी अपनी बुद्धि के अनुसार सयानापन दिखलाने की कोशिश करता ही है! लेकिन आखिर है तो वह जड़बुद्धि, इसलिए हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे सयानों के बारे में हिन्दी में जो कहावत है, उसे पाठकगण याद कर लें, हम उसे लिखेंगे नहीं, वरना फिर कोमल भावनाओं वाले साथियों को ठेस पहुंच जायेगी!

इसके बाद देखें कि श्यामसुन्दर क्या लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा ने यह कह कर कि जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है, ऐतिहासिक भौतिकवाद को ध्वस्त कर दिया है। प्रश्न यह है कि क्या सत्ताधारी वर्गों की विचारधारा सत्ताधारी वर्गों के बाहर से आती है?" **फिर "बाहर से"! यह "अन्दर से" इतनी मूर्खतापूर्ण बात है कि क्या कहें! मतलब, यदि कोई कहता है कि जाति व्यवस्था और जातिगत विचारधारा अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के दौर में, उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग सम्बन्धों से संगति के सम्बन्ध के कारण, बदलते रूपों में अलग-अलग शासक वर्गों द्वारा सहयोजित की गयी है, तो क्या इसका अर्थ यह है यह बाहर से आती है? मतलब, कौन-सी भाषा में इसका यह अर्थ निकलता है?** आगे अपनी इस मूर्खता को श्यामसुन्दर और विस्तार देते हैं: "यानी जो विचारधारा सत्ताधारी वर्गों के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए एक उपयोगी विचारधारा का काम करती है वह विचारधारा वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त भी रहती है। यानी सत्ताधारी वर्ग के शासन को बनाए रखने और उसे बल देने वाली विचारधारा सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा न होकर सत्ताधारी वर्ग से स्वायत्त विचारधारा होती है।" **अब हम इन महोदय को 'मूर्ख' और 'अज्ञानी' बोलेगा, तो बोलोगे कि बोलता है! लेकिन आहत कोमल भावनाओं वाले लोग ही बताएं कि किस विशेषण का प्रयोग किया जाय; यह तो कोई ग़लत सिद्धान्त नहीं है, जिसके लिए महज़ ठोस राजनीतिक विशेषण दिया जाय (हालांकि, विशिष्ट सन्दर्भों में 'मूर्ख'**

भी एक राजनीतिक विशेषण हो सकता है); यह महाशय तो कोई ग़लत सिद्धान्त रचने लायक बुद्धि भी नहीं रखते; तो इन्हें क्या कहें?

श्यामसुन्दर का मानना है कि यदि हम जातिगत विचारधारा को कई ऐतिहासिक दौरों में अलग-अलग शासक वर्गों के लिए एक उपयोगी विचारधारा मानते हैं, तो हमने ऐतिहासिक भौतिकवाद को ध्वस्त कर दिया है। नहीं, गुरुवर! हममें इतनी क्षमता कहां है? यह महती जिम्मेदारी तो इतिहास ने श्यामसुन्दर के कठमुल्ला कन्धों पर रखी है! **पूरे विश्व के इतिहास में कई ऐसे विचारधारात्मक रूप रहे हैं, जो कि बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ सहयोजित और समायोजित हुए हैं (जैसा कि जाति विचारधारा के बारे में हमने अपने इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर में सोदाहरण और सप्रमाण दिखलाया है) और अलग-अलग शासक वर्गों की सेवा करते रहे हैं। मिसाल के तौर पर, ईसाई धर्म दो हज़ार वर्षों से भी पहले पैदा हुआ था। क्या इसने मध्यकालीन सामन्ती वर्गों की सेवा नहीं की थी? क्या इसने अपने प्रोटेस्टेंट व रिफॉर्म्ड कैथलिक अवतार में पूंजीवाद की सेवा नहीं की?** देखिये, मार्क्स इसके बारे में क्या लिखते हैं:

"For a society of this type [society that is based on commodity production], Christianity, with its cult of the abstract human being, is the must suitable religion -- ***above all, Christianity in its bourgeois phases of development, such as Protestantism, Deism, and the like."*** (Marx, *Capital, Vol-I*)

यहां मार्क्स स्पष्ट रूप में बता रहे हैं कि एक धार्मिक विचारधारा के तौर पर ईसाई धर्म स्थैतिक नहीं रहा है, बल्कि बदलते ऐतिहासिक दौरों में बदलता रहा है। इसीलिए मार्क्स ईसाई धर्म के विकास के एक "बुर्जुआ चरण' की बात करते हैं और बताते हैं कि प्रोटेस्टेण्टवाद और डेइज्म ईसाई धर्म के विकास की वे मंजिलें हैं। श्यामसुन्दर ने अगर यह उद्धरण पढ़ा होता तो कहते की मार्क्स ने तो ऐतिहासिक भौतिकवाद की जड़ें खोद दीं, उसे ध्वस्त कर दिया, उस पर कुल्हाड़ी चला दी, और न जाने क्या-क्या! मार्क्स इसके जवाब में सम्भवत: इतना ही कहते: "अज्ञान एक राक्षसी शक्ति है।"

नस्लवाद को ही ले लें। क्या नस्लवाद ने ऐतिहासिक तौर पर अलग-अलग शासक वर्गों की सेवा नहीं की है? पितृसत्तात्मक विचारधारा को लें। क्या पितृसत्तात्मक विचारधारा वही है, जो वह ग्रीको-रोमन प्राचीनता, या मध्यकाल में थी? क्या पितृसत्तात्मक विचारधारा, जो कि आदिम युग के अन्त होने पर निजी सम्पत्ति, वर्गों और राज्यसत्ता के उद्भव के साथ पैदा हुई, बदलते ऐतिहासिक दौरों में अलग-अलग शासक वर्गों की सेवा नहीं करती रही है? **लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार, यदि कोई विचारधारा सहयोजित, समायोजित या कहें कि उत्सादित (sublated) रूप में अलग-अलग युगों में अलग-अलग शासक वर्गों की अलग-अलग तरीके से सेवा करती है, तो इसका अर्थ होगा कि वह वर्ग से स्वतन्त्र हो गयी है और "बाहर से" आती है! आप ही बताएं कि ऐसी अनैतिहासिक समझदारी या कहें कि इतिहास के विषय में पूर्ण अज्ञान के बारे में क्या कहा जाय?**

श्यामसुन्दर का विचित्र दावा: 'यदि जाति व्यवस्था उत्पादन पद्धति नहीं थी, तो फिर कोई जातिगत विचारधारा भी नहीं हो सकती!'

श्यामसुन्दर पूछते हैं, "अब प्रश्न यह है कि जब जाति व्यवस्था अभिनव सिन्हा के अनुसार कभी कोई उत्पादन पद्धति ही नहीं थी और जाति स्वयं कभी वर्ग नहीं थी, तो जाति व्यवस्था की विचारधारा कहां से आई? जाति व्यवस्था की विचारधारा की पैदाइश के लिए क्या जाति वर्ग होने की आवश्यकता नहीं है? ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्ग विभाजित समाज में कोई भी सामाजिक विचार अथवा विचारधारा वर्ग विचारधारा होने के लिए बाध्य है, क्योंकि इसके अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती। पर अभिनव सिन्हा ने अपने 'शोध कार्य' से जो निष्कर्ष निकाला है वह यह है कि जाति व्यवस्था की विचारधारा वर्गों से स्वायत्त है और यह वर्ग विभाजन का प्रतिबिंबन भी नहीं करती क्योंकि यदि यह ऐसा करेगी तो इसकी दिव्यता और प्रभा-मण्डल नष्ट हो जाएगा।" जैसा कि आप देख सकते हैं, श्यामसुन्दर ने पहले तो हमारी अवस्थिति को विकृत किया है और फिर अपनी मूर्खता को नंगा कर दिया है।

पहली बात तो यह है कि जातिगत विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता का अर्थ यह नहीं कि वह किसी वर्ग की सेवा नहीं करती और इस रूप में अलग-अलग युगों में उसका कोई वर्ग चरित्र नहीं रहा है। दूसरी बात यह कि जाति के वर्ग हुए बिना भी एक जातिगत विचारधारा हो सकती है; अगर श्यामसुन्दर के तर्क से चलें तो अगर ईसाई लोग एक वर्ग का निर्माण नहीं करते तो कोई ईसाई धार्मिक विचारधारा नहीं हो सकती; अगर काले लोग एक वर्ग का निर्माण नहीं करते तो फिर नस्लवादी विचारधारा नहीं हो सकती; अगर औरतें एक वर्ग नहीं तो पितृसत्तात्मक विचारधारा नहीं हो सकती; अगर वकील/न्यायाधीश व अपराधी वर्ग नहीं हैं, तो कानूनी विचारधारा नहीं हो सकती, वगैरह। कैसा बेवकूफी भरा तर्क है यह? ये सभी विचारधाराएं हैं और अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों में इन्होंने बदलती उत्पादन पद्धति के अनुसार, अपने आपको ढाला है और अलग-अलग शासक वर्गों की सेवा की है। यह सीधी-सी बात समझने में श्यामसुन्दर क्यों असफल हैं? इसलिए कि उन्होंने बचा-खुचा दिमाग "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" में खर्च कर दिया है।

और जब आदमी ऐसे अभियान में व्यस्त रहता है, तो वह लापरवाह भी हो जाता है और ऐसी बातें कहता है जिसका मार्क्सवाद से कोई लेना-देना नहीं है। या ऐसा भी हो सकता है कि श्यामसुन्दर ने यह बात शुद्धत: मूर्खता के कारण की हो। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "और समाज की भौतिक प्रक्रिया उसकी उत्पादन क्रिया होती है और उत्पादन क्रिया की कोई विशिष्ट उत्पादन पद्धति होती है और किसी वर्ग विभाजित समाज व्यवस्था में उत्पादन पद्धति एक वर्ग संरचना पर टिकी होती है।" **ग़लत। उत्पादन पद्धति एक वर्ग संरचना पर नहीं टिकी होती है, बल्कि वर्ग संरचना एक उत्पादन पद्धति से पैदा होती है और उस पर आधारित होती है। वर्ग विभाजन उत्पादन सम्बन्धों की ही सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति होता है। उत्पादन प्रणाली और इसीलिए उत्पादन सम्बन्ध भी, उत्पादक शक्तियों के विकास के चरण से निर्धारित होते हैं। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद की बुनियादी शिक्षा है। देखें मार्क्स इसके विषय में क्या लिखते हैं:**

"***Incidentally, if the bourgeoisie is politically, that is, by its state power, 'maintaining injustice in property relations', it is not creating it.*** The 'injustice in property relations' which is determined by the modern division of labour, the modern form of exchange, competition, concentration, etc., by no means arises from the political rule of

the bourgeois class, but vice versa, ***the political rule of the bourgeois class arises from these modern relations of production*** which bourgeois economists proclaim to be necessary and eternal laws." (Karl Marx, “Moralising Criticism and Critical Morality. A Contribution to German Cultural History. Contra Karl Heinzen”, Karl Marx and Frederick Engels, *Collected Works, Vol. 6* (Moscow: Progress Publishers, 1976) p. 319-20)

लेकिन हमारे श्यामसुन्दर उर्फ दोन किहोते, जो कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की रक्षा का बीड़ा उठा कर हम पर पिल पड़े हैं, इतना भी नहीं जानते हैं कि उत्पादन पद्धति किसी वर्ग संरचना और किसी वर्ग के शासन पर नहीं टिकी होती है, बल्कि वर्ग संरचना और किसी वर्ग का शासन निश्चित प्रकार की उत्पादन पद्धति और उससे पैदा होने वाले उत्पादन सम्बन्धों से पैदा होता है! ऐसे में यह सन्देह विश्वास में बदल जाता है कि कुरुक्षेत्र के हमारे इस दोन किहोते ने मार्क्सवाद की बुनियादी पुस्तकों का भी आद्योपान्त अध्ययन नहीं किया है। इसीलिए हमने पहले भी कहा और अब भी कहते हैं कि इन महोदय को पहले ***किसी की सहायता से और मार्क्सवाद की कुछ अच्छी बुनियादी पाठ्यपुस्तकों से*** मार्क्सवाद का अध्ययन करना चाहिए।

ऐसी ही मूर्खतापूर्ण बातें श्यामसुन्दर ने अगले कुछ पृष्ठों में जारी रखी हैं (श्यामसुन्दर के जवाब के पृष्ठ 18, 19, 20)। इसमें श्यामसुन्दर यह साबित करने पर पिले पड़े हैं और इसके लिए उद्धरण दे-देकर बेहाल हैं कि विचारों और विचाराधारा (जिनमें फर्क उनकी समझ में नहीं आता है) का वर्ग चरित्र होता है, जबकि इस बात का खण्डन कोई कर ही नहीं रहा है; यह आरोप हम पर मढ़ रहे हैं कि हमने जातिगत विचारधारा को वर्ग से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बताया है, जबकि हमने मार्क्स और एंगेल्स का अनुसरण करते हुए ही, सभी विचारधाराओं के समान महज़ इसकी सापेक्षिक स्वायत्तता को प्रदर्शित किया है; श्यामसुन्दर दुहरा रहे हैं कि यदि जातिगत विचारधारा है तो इसका अर्थ अनिवार्य रूप से यह है कि जाति वर्ग है या कभी वर्ग थी; हमने दिखलाया कि यह अनिवार्य नहीं है; वास्तव में, अधिकांश विचारधाराएं वर्ग विशेषण के साथ नहीं आती हैं, हालांकि वास्तव में उनका वर्ग चरित्र होता है और साथ ही वे और उन्हें गढ़ने वाले उनके वर्ग चरित्र के प्रति अनिवार्यत: सचेत नहीं होतीं; मिसाल के तौर पर, पूंजीवादी संविधान या कानून यह नहीं कहता कि वह पूंजीवादी संविधान और कानून है और पूंजीपति वर्ग की सेवा करता है; उल्टे वे कानून के समक्ष आणविकीकृत नागरिकों की समानता को एक आदर्शीकृत (idealized) सिद्धान्त के रूप में पेश करता है; इसी में विचारधारा की स्वायत्तता निहित होती है।

बिना समझे मार्क्स व एंगेल्स को उद्धृत करना श्यामसुन्दर की असुधारणीय आदत है। उन्होंने कम्युनिस्ट घोषणापत्र और 'जर्मन विचारधारा' से मार्क्स व एंगेल्स के उद्धरण पेश करके यह साबित करने की कोशिश की है कि विचारों (और विचारधारा) का भौतिक उत्पादन से स्वतन्त्र कोई इतिहास नहीं होता। इससे भी किसी ने इंकार नहीं किया। हमने तो अपने पेपर और अपने जवाब में ठीक यही दिखलाया है कि जाति व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था में संगति (correspondence) का सम्बन्ध है और जाति व्यवस्था और जातिगत विचारधारा में आये बदलावों को उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग व्यवस्था में आए बदलावों के बिना नहीं समझा जा सकता है। देखें कि हमने अपने पिछले ही जवाब में क्या लिखा है: "इसलिए जाति व्यवस्था में 1000 ईसवी पूर्व से लेकर अब तक के लगभग 3000 साल के इतिहास में बहुत से परिवर्तन आये हैं; प्रश्न यह है कि प्राक्-सामन्ती दौर (जिसमें आरंभिक वर्ग समाज से लेकर मौर्य काल की दासत्व की प्रथा तक शामिल है) से होते हुए सामन्ती दौर तक वर्ण-जाति व्यवस्था में जो परिवर्तन आये उसका कारण क्या था? जैसा कि उपरोक्त इतिहासकारों ने

दिखलाया है, इन परिवर्तनों का कारण था उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग सम्बन्धों में आये परिवर्तन। जाति और वर्ग में उत्तर-वैदिक काल से ही एक संगति का सम्बन्ध रहा है और बदलते वर्ग सम्बन्धों और उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार जाति व्यवस्था में भी बेहद महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे हैं।" ***(हमारा पिछला जवाब)*** **क्या हम यह कह रहे हैं कि जाति व्यवस्था वर्ग सम्बन्धों से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है? क्या हम जाति व्यवस्था और उसकी विचारधारा की वर्गों की व्यवस्था से सापेक्षिक स्वायत्तता के बावजूद ठीक यही नहीं दिखला रहे हैं कि उनमें एक संगति का सम्बन्ध है (सापेक्षिक स्वायत्तता के कारण ऐसा ही हो ही सकता है)? लेकिन श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के चक्कर में राजनीतिक मोतियाबिन्द और बेईमानी की प्रवृत्ति के इस कदर शिकार हो गये हैं कि उसे शब्दों में नहीं बताया जा सकता है।**

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अब क्योंकि अभिनव सिन्हा के अनुसार जाति व्यवस्था स्वयं कभी कोई वर्ग व्यवस्था यानी उत्पादन पद्धति ही नहीं रही तो फिर जाति व्यवस्था स्वयं कोई विचारधारा भी कैसे पैदा कर सकती है क्योंकि विचारों का उत्पादन तो भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होता है।" यह कठमुल्लावाद की इन्तहां नहीं तो और क्या है? मतलब कि यदि ईसाई धार्मिक विचारधारा जैसी कोई चीज़ है, तो फिर किसी दौर में ईसाई उत्पादन पद्धति और ईसाई वर्ग भी रहा होगा! यह है श्यामसुन्दर की समझदारी! मार्क्स और एंगेल्स जब हेगेल की इस अवधारणा का खण्डन कर रहे थे कि विचारों का भौतिक जगत से स्वतन्त्र एक इतिहास होता है, तो उन्होंने सोचा भी नहीं होगा कि डेढ़ सौ साल बाद कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो उनके इस खण्डन से यह नतीजा निकाल लेगा! हम श्यामसुन्दर के इस कठमुल्लावादी विचार का ऊपर ही खण्डन कर चुके हैं और विचारधारा के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पेश कर चुके हैं।

श्यामसुन्दर पूछते हैं: "क्या जात-पांत वाली आनुवांशिक श्रम-विभाजन पर आधारित प्राचीन और मध्यकालीन भारत की आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की व्यवस्था में कभी ब्राह्मण जाति भी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक तौर पर शोषण-उत्पीड़न का शिकार रही है?" **इस कथन में यह अन्तर्निहित है कि ब्राह्मण आबादी में कभी कोई ऐसा संस्तर नहीं था जो कि शोषण व उत्पीड़न का शिकार रहा हो, या शासक वर्ग का हिस्सा न रहा हो। दूसरे अर्थों में ब्राह्मण जाति एक वर्ग अविभाजित जाति रही है, कम-से-कम मध्यकाल तक। हमने अपने पिछले जवाब और साथ ही इतिहास-लेखन सम्बन्धी शोध पत्र में दिखलाया है (और प्राचीन और मध्यकालीन भारत के इतिहासकारों में यह स्थापित तथ्य है) कि ब्राह्मणों के गुप्त काल से शुरू हुए दौर में मूलत: और मुख्यत: भूस्वामी जाति के रूप में उभरने के साथ, ब्राह्मण जाति का वह हिस्सा जो कि भूस्वामी नहीं बन पाया, वह आर्थिक पदानुक्रम में भी नीचे चला गया। कुछ क्षेत्रों में तो अस्पृश्य ब्राह्मण जातियां भी पैदा हुईं।** हमने लिखा है: "दूसरी बात जो आप इन शोध कार्यों के अध्ययन से समझ सकते हैं, वह यह है कि वर्ण-जाति व्यवस्था (जैसा कि सुवीरा जायसवाल इसे कहती हैं, और ठीक ही कहती हैं) बदलते उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार बदलती गयी है; यह कालिक (temporal) व स्थानिक (spatial) तौर पर स्थैतिक (static) नहीं रही है। इसलिए अगर आप डेक्लान क्विगली के प्रसिद्ध शोध 'दि इण्टरप्रेटेशन ऑफ कास्ट' को पढ़ें तो आप पाते हैं कि जब ब्राह्मण वर्ण गुप्त काल से, यानी सामन्ती व्यवस्था के प्रादुर्भाव के साथ, एक भूस्वामी वर्ग के तौर पर परिवर्तित हुआ, तो वे ब्राह्मण जो कि भूस्वामी नहीं बने और पुरोहिती और भिक्षा पर आधारित रहे, वे कर्मकाण्डीय व धार्मिक पदानुक्रम में भी नीचे चले गये। क्विगली ने एक क्षेत्र में एक ऐसी ब्राह्मण जाति का उदाहरण रखा है, जो कि इस पदानुक्रम में नीचे जाते-जाते स्वयं अस्पृश्य मानी जाने लगी, यानी कि 'अस्पृश्य ब्राह्मण'! ज्ञात हो कि मूल वैदिक स्रोतों के अनुसार ब्राह्मण केवल और केवल वस्तुओं की दान-दक्षिणा ले सकता है और भूमि का अनुदान या दक्षिणा लेना उसके लिए वर्जित था। लेकिन जब सामन्ती दौर आया, विमौद्रीकरण और विनगरीकरण के साथ अर्थव्यवस्था का स्थानीयकरण और ग्राम्यकरण हुआ, तो भूमि तथा खेती की भूमिका एक

नये अर्थों में केन्द्रीय बन गयी; व्यापार व वाणिज्य के पतन और विमौद्रीकरण के कारण राजाओं ने भुगतान का माध्यम भूमि अनुदानों को बनाया और इसके साथ ही ब्राह्मणों का उदय भूस्वामियों व सामन्तों के तौर पर हुआ। हम देख सकते हैं कि उत्पादन पद्धति और वर्ग संरचना में परिवर्तन के साथ वर्ण-जाति व्यवस्था में भी उसके साथ संगति रखने वाले परिवर्तन हुए; नये शास्त्र और ग्रन्थ रच दिये गये, जो कई पुराने नियमों को खारिज करते थे।" ***(हमारा पिछला जवाब)***

हमने सन्दर्भ और प्रमाण-समेत पहले ही श्यामसुन्दर के इस प्रश्न का उत्तर दे दिया था। लेकिन जब हमारे दोन किहोते कठदलीली करके अपने सांचो पांजाओं के समक्ष अपने सम्मान की रक्षा में अपनी लिल्ली घोड़ी, गत्ते की तलवार और जंग लगे जिरह-बख्तर के साथ उतरे हुए हैं, तो उनसे यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वे हमारी अवस्थिति पढ़कर अपना खर्रा लिखते!

मूर्खतापूर्ण प्रश्नों को गूढ़ प्रश्नों के रूप में पेश करना भी श्यामसुन्दर की एक आदत है। देखिये वह तर्जनी उठाकर हमसे क्या पूछ रहे हैं: "अभिनव सिन्हा से यदि कोई पूछे कि अगर जाति व्यवस्था कभी स्वयं वर्ग व्यवस्था और उत्पादन पद्धति ही नहीं थी तो क्या जाति-उत्पीड़न सम्भव होता? क्या मानव द्वारा मानव का शोषण और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन-उत्पीड़न केवल और केवल वर्गों पर आधारित किसी विशिष्ट शोषणमूलक उत्पादन पद्धति के जरिये ही सम्भव नहीं होता है?" **मतलब कि यदि आज काले लोगों का नस्लवादी उत्पीड़न होता है, तो काले लोग अवश्य कभी न कभी कोई वर्ग रहे होंगे और उनके आधार पर कोई काली उत्पादन पद्धति रही होगी! यदि औरतों का पितृसत्तात्मक उत्पीड़न होता है, तो निश्चित ही औरतें कभी न कभी वर्ग रही होंगी और पितृसत्ता नाम की कोई उत्पादन पद्धति रही होगी (ग़ौर करें, लेनिन व मार्क्स ने जहां पितृसत्तात्मक समाजों या पितृसत्तात्मक उत्पादन की बात की है, वहां वे पितृसत्तात्मक उत्पादन प्रणाली की या औरतों के एक वर्ग के रूप में बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि प्राक्-पूंजीवादी प्राकृतिक अर्थव्यवस्थाओं का जिक्र कर रहे हैं)। यहां यह भी देखा जा सकता है कि श्यामसुन्दर को उत्पीड़न (oppression) और शोषण (exploitation) की आर्थिक श्रेणी के बीच का अन्तर नहीं पता है।** निश्चित तौर पर, हर प्रकार का सामाजिक उत्पीड़न किसी वर्ग व्यवस्था के आधार पर ही पैदा होता है; लेकिन इसका यह अर्थ कोई राजनीतिक रूप से निरक्षर व्यक्ति ही लगा सकता है कि शोषण और उत्पीड़न एक ही चीज़ है, या वर्गगत शोषण और जातिगत उत्पीड़न एक ही चीज़ है। वास्तविक सामाजिक परिघटना में शोषण और उत्पीड़न हमेशा एक दूसरे को आंशिक रूप से अतिच्छादित करते हैं, एक-दूसरे के साथ तन्तुबद्धीकृत होते हैं और एक दूसरे को इण्टरसेक्ट करते हैं; लेकिन मार्क्सवादियों के लिए ये कभी एक चीज़ नहीं रहे हैं। दूसरी बात, इनके बीच के आंशिक अतिच्छादन और तन्तुबद्धीकरण का स्वरूप बदली वर्ग व्यवस्थाओं के साथ बदलता रहता है। मिसाल के तौर पर, औरतों, काले लोगों और दलितों का उत्पीड़न भी समाज की वर्ग व्यवस्थाओं के साथ अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूप में तन्तुबद्धीकृत हुआ है। लेकिन हम श्यामसुन्दर जैसे लोगों से इस सामान्य-सी बात को समझने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "ग्राम समुदायों वाली इस उत्पादन पद्धति के समूचे काल में सभी पेशे जातियों के आधार पर और जन्मजात थे, जो कि जातियों के बीच स्थायी उत्पादन सम्बन्ध थे।" **पहली बात, प्राचीन काल से मध्यकाल तक की ग्रामीण अर्थव्यवस्था कोई स्थैतिक चीज़ नहीं थी और उसमें लगातार बदलाव आये; आरंभिक मध्यकाल में ग्रामीण अर्थव्यवस्था और साथ ही शहरी अर्थव्यवस्था में होने वाले गुणात्मक परिवर्तनों पर बहुत काम हुआ है, जैसे कि रामशरण शर्मा का आरंभिक मध्यकाल में नगरों के पतन और सामन्तवाद के विकास पर कार्य, बी.एन.एस. यादव का शोध, डी. एन. झा का कार्य, बी. डी. चट्टोपाध्याय का कार्य; साथ ही,**

स्वयं भारत के प्राचीन काल में ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था में दूसरी सदी ईसा पूर्व से तीसरी सदी ईसवी के बीच हुए परिवर्तनों पर बहुत से शोध कार्य हुए हैं। लेकिन श्यामसुन्दर भारत के मार्क्सवादी इतिहास-लेखन से सर्वथा अनभिज्ञ है; यही कारण है कि अब तक इस बहस में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें कहीं भी जाति व्यवस्था, सामन्तवाद, भारत में उत्पादन प्रणालियों के विकास आदि पर किसी मार्क्सवादी इतिहासकार का कोई सन्दर्भ नहीं दिया है। पढ़ा होगा तभी तो देंगे! इसी वजह से उनके समझ में नहीं आता कि जातियों के बीच का आनुवांशिक श्रम विभाजन भारत के इतिहास में लगातार बदलता रहा है, जिस बदलाव का कारण वर्ग संरचना और उत्पादन पद्धति में आने वाले बदलाव थे। जो शूद्र कभी राज्यसत्ता पर काबिज़ नहीं हो सकते थे, पूरे दक्षिण भारत में वे शासक वर्ग के तौर पर उभरे और जातिगत विचारधारा में उनके शासन के वैधीकरण के लिए नये सिद्धान्त रचे गये, कुछ पुराने सिद्धान्तों व मूल्यों को तिलांजलि दे दी गयी; जो वैश्य मूलत: खेतिहर जाति थे, वे व्यापारी बनकर उभरे; जो ब्राह्मण केवल दान-दक्षिणा लेते थे और शासक वर्ग के विचारक की भूमिका में थे, वे भूस्वामियों के रूप में उभरे। श्यामसुन्दर के अनुसार प्राचीन काल से औपनिवेशिक काल तक आनुवांशिक श्रम विभाजन की एक अपरिवर्तनीय व्यवस्था थी, जिसे अंग्रेज़ों ने "बाहर से" आकर तोड़ा (इसे कहते हैं "बाहर से" का सही इस्तेमाल!); सच है कि स्वयं मार्क्स के 1870 से पहले के लेखन में यह गैर-मार्क्सवादी अवधारणा मौजूद थी। लेकिन हम दिखला चुके हैं कि इसका कारण क्या था और 1870 के बाद मार्क्स इस अवधारणा का परित्याग कर रहे थे। दूसरी बात यह कि भारत के इतिहास का मार्क्सवादी अध्ययन करना मार्क्स का काम नहीं था; यह भारत के मार्क्सवादियों का काम है। भारत के संजीदा मार्क्सवादियों ने ऐसा किया भी है। भला हो कि भारत में केवल श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्ले नहीं हैं, बल्कि संजीदा मार्क्सवादी इतिहासकार और सिद्धान्तकार भी रहे हैं। अन्यथा, मार्क्स पर ऐसे कठमुल्लों ने यह जिम्मेदारी थोप दी होती कि वे सारी दुनिया के सभी देशों के प्राचीनकाल से आधुनिककाल तक का ऐतिहासिक व द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इतिहास लिखें! मार्क्स ने एक अप्रोच और पद्धति दी है, जिसके आधार पर मार्क्सवादियों का यह कार्य है कि वे अपने-अपने देश में इस काम को अंजाम दें और अलग-अलग देशों में मार्क्सवादियों ने इस दिशा में गम्भीर और सराहनीय प्रयास किया भी है। **लेकिन श्यामसुन्दर न तो पढ़ते हैं, न ही समझते हैं। वह सिर्फ बोलते हैं और इसीलिए मूर्खतापूर्ण बोलते हैं।**

पृष्ठ 20 पर श्यामसुन्दर फिर से बिना समझे मार्क्स से उद्धृत करते हैं और यह बताते हैं कि सत्ताधारी वर्गों से स्वतन्त्र सत्ताधारी विचार नहीं हो सकते। इसे कहते हैं, पुतला खड़ा करके तीर चलाना। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि मार्क्स हेगेलीय इतिहास की अवधारणा का खण्डन करते हुए विचारों को वर्ग मूल से काट दिये जाने का खण्डन कर रहे हैं, जिसका यह मतलब नहीं है कि मार्क्स विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता से इंकार कर रहे हैं। लेकिन हम मार्क्स की उसी रचना (जर्मन विचारधारा) से उद्धृत करके दिखला चुके हैं कि मार्क्स विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता के सिद्धान्त को न सिर्फ मानते थे, बल्कि उसके रचयिता वही हैं। आगे श्यामसुन्दर ने सीधे लिख दिया है कि विचारों और विचारधारा का अन्तर उनके पल्ले नहीं पड़ता और विचारधारा की मार्क्सवादी अवधारणा वह समझते ही नहीं हैं: "भाववादी लोग *विचारों अथवा विचारधारा* को सत्ताधारी वर्ग और एक निश्चित मंजिल पर पैदा हुई उत्पादन पद्धति से पृथक कर देते हैं"। **इससे साफ शब्दों में हमारे दोन किहोते अपनी मूर्खता का बयान नहीं कर सकते थे! पृष्ठ 20 पर श्यामसुन्दर अपनी इस अहमकाना बात को ही अलग-अलग शब्दों में दुहराते गये हैं, जिनका खण्डन हम ऊपर ही कर चुके हैं और दुबारा उनका खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

पृष्ठ 21 पर श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि हमने यह कहा है कि शासक वर्ग की अन्य विचारधाराओं में निरंतरता का तत्व नहीं रहा है। इसके लिए उन्होंने हमारा जो उद्धरण पेश किया है उसमें यह लिखा है: "...जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में अलग-अलग शासक वर्गों के वर्चस्व को बनाए रखने वाली एक

उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है। इस रूप में, जाति व्यवस्था की विशिष्टता को स्वीकारा जाना चाहिए क्योंकि अन्य समाजों के इतिहास में शासक वर्गों के प्रभुत्व और वर्चस्व को वैधीकरण (लेजिटिमेशन) प्रदान करने वाली विचारधाराओं में ***इस प्रकार की*** निरंतरता का तत्व मौजूद नहीं रहा है। नये शासक वर्गों के आने के साथ आम तौर पर अन्य समाजों में शासक वर्ग के शासन को वैधीकरण देने वाली नयी विचारधाओं में परिवर्तन का पहलू *प्रधान रहा है।* लेकिन भारतीय सामाजिक संरचना के इतिहास में जाति की विचारधारा में *तमाम बुनियादी बदलावों के बावजूद* उसका मूलभूत तत्व (कोर एलिमेण्ट) जो कि इसे निर्धारित और निरूपित करता है, वह समान रहा है।" इसका श्यामसुन्दर ने यह मतलब निकाला है: "अभिनव सिन्हा की यह बात कतई सही नहीं है कि जाति व्यवस्था की तरह अन्य समाजों की विचारधारा में निरन्तरता का तत्व मौजूद नहीं रहा है। पहली बात तो यहां यही ग़लत है कि भारत में शासक वर्गों ने अपने शासन के वैधीकरण के लिए वर्गों से बाहर की किसी स्वायत्त व्यवस्था से विचारधारा हासिल की हो और किसी भी वर्ग विभाजित समाज में ऐसा हो ही नहीं सकता।" **बाद के दोनों वाक्य, कि हम जाति व्यवस्था को वर्ग व्यवस्था से स्वायत्त मानते हैं, हमारी अवस्थिति को जानबूझकर तोड़ना-मरोड़ना है, जो कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। पहली पंक्ति, जिसमें यह कहा गया है कि हम मानते हैं कि केवल जातिगत विचारधारा में ही निरंतरता का तत्व मौजूद रहा है, अन्य शासक वर्ग की विचारधाराओं में नहीं, फिर से हमारी अवस्थिति को गलत तरीके से पेश किया जाना है, जैसा कि आप स्वयं उस उद्धरण में देख सकते हैं, जिसे श्यामसुन्दर ने उद्धृत किया है। हमारे शब्द हैं 'इस प्रकार की निरंतरता' और 'निरंतरता का पहलू प्रधान' होना। ऐसा हमने इसलिए कहा है क्योंकि जातिगत विचारधारा का कोर तत्व (यानी शुद्धता और प्रदूषण की अवधारणा) बनी रही है। इसका यह अर्थ कैसे निकलता है कि हम केवल जातिगत विचारधारा को ही एक ऐसी विचारधारा मानते हैं जिसमें निरंतरता का तत्व है? हमने इस निरंतरता को विशेष प्रकार का बताया है और निरंतरता के पहलू को प्रधान बताया है और इस रूप में अन्य शासक वर्ग की विचारधाराओं से फर्क किया है। लेकिन यहां भी आलोचना का कोई वास्तविक आधार न मिलने के कारण श्यामसुन्दर हमें मिस्कोट, मिसरेप्रज़ेण्ट करने को बाध्य है। जब आदमी अपनी आत्मरक्षा पर किसी भी कीमत पर आमादा हो, तो अन्त में जो चीज़ बरबाद होती है वह है उस व्यक्ति की बौद्धिक ईमानदारी। इसी वजह से हमने श्यामसुन्दर को बौद्धिक तौर पर बेईमान कहा है।** हम समझ सकते हैं कि संगठन चलाने वाले व्यक्ति के लिए अपनी आत्मरक्षा का क्या महत्व होता है, मगर इस कदर झूठ और फरेब पर भी आमादा नहीं हो जाना चाहिए; जब राजनीतिक ईमानदारी ही नहीं बचेगी, तो संगठन बचकर क्या करेगा? कचरा ही करेगा।

इसके बाद श्यामसुन्दर एक बार फिर अपने कुतर्कों के ऊन के गोले में उलझ गये हैं। देखिये, इस बार उन्होंने क्या गुल खिलाए हैं। वह लिखते हैं : "वर्तमान पूंजीवादी समाज में जाति व्यवस्था की विचारधारा की निरंतरता समाज की अधिरचना में इसलिए विद्यमान है कि जाति व्यवस्था अतीत में एक शोषण-उत्पीड़न पर आधारित उत्पादन पद्धति थी और वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था भी एक भिन्न प्रकार के शोषण-उत्पीड़न पर आधारित एक उत्पादन पद्धति है।" **माने कि, किसी विचारधारा को बदले हुए शासक वर्ग अपने शासन के विचारधारात्मक प्राधिकार के अंग के रूप में सहयोजित कर सकते हैं! तो भाई दोन किहोते, इस बात पर आप इतना हल्ला क्यों मचा रहे थे कि 'ऐतिहासिक भौतिकवाद पर कुल्हाड़ा चला दिया रे, कोई जान बचाओ!' जब हमने कहा कि जातिगत विचारधारा, और उसी प्रकार अन्य उत्पीड़न की विचारधाराओं को अलग-अलग वर्ग व्यवस्थाएं अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित कर सकती हैं? दूसरी बात, उपरोक्त कथन से स्वत: ही निकलता है कि विचारधारा की सापेक्षिक स्वायत्तता होती है; लेकिन यही कहने के लिए तो हम पर कुरुक्षेत्र के दोन किहोते गत्ते की तलवार भांजते हुए कूद पड़ थे!** श्यामसुन्दर के तर्क के अनुसार तो चूंकि जाति व्यवस्था और जातिगत विचारधारा पूंजीपति वर्ग की विचारधारा नहीं है, इसलिए पूंजीवाद के आविर्भाव के साथ उसे समाप्त हो जाना चाहिए! अपने समर्थन में श्यामसुन्दर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' से जो उद्धरण देते हैं, वह उनकी

बजाय हमारे तर्क को सुदृढ़ करता है। जब आप बिना समझे "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" चलाते हैं, तो ऐसा ही होता है।

इसके बाद, श्यामसुन्दर एक बार फिर से अधिरचना (जिसमें कि राजनीतिक अधिरचना, यानी कि राज्यसत्ता भी शामिल है) की सापेक्षिक स्वायत्तता के सिद्धान्त को समझने में अपनी पूर्ण असफलता प्रदर्शित करते हैं: "जिस प्रकार यह कहा जाना कि 'राज्य वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहता है तथा किसी वर्ग का प्रतिबिंबन नहीं करता है', ऐतिहासिक भौतिकवाद पर कुठाराघात है ठीक उसी प्रकार यह कथन भी ऐतिहासिक भौतिकवाद पर कुठाराघात है कि जाति-विचारधारा वर्ग व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है और वर्गों का प्रतिबिंबन भी नहीं करती है। क्योंकि ऐसा कहने से 'राज्य' और 'विचारधारा' का वर्ग चरित्र ही गायब हो जाता है।" **और यह पंक्तियां पढ़कर किसी भी मार्क्सवादी व्यक्ति के होश ग़ायब हो जाते हैं! मार्क्स और एंगेल्स ने बार-बार बताया है कि पूंजीवादी राज्यसत्ता का कार्य होता है कि वह समूचे पूंजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों की सेवा करे; इसीलिए वह कभी भी विशिष्ट (particular) पूंजीवादी हितों के साथ अभिज्ञानित (identify) नहीं होती और जब भी होती है, तो वह बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व को कमज़ोर करता है।** ठीक इसीलिए कि राज्यसत्ता सामूहिक बुर्जुआ वर्ग हितों की सेवा कर सके, बुर्जुआ राज्यसत्ता के लिए यह बाध्यताकारी होता है कि वह पूंजीवादी वर्ग के हितों को "सामान्य हितों" (general good), "राष्ट्रीय हितों" (national interests) आदि के तौर पर पेश करे और विशिष्ट पूंजीवादी वर्ग हितों से अपने आपको सापेक्षिक रूप से स्वायत्त रखे और स्वतन्त्र दिखाए। हमने बुर्जुआ कानून, जो कि बुर्जुआ राज्यसत्ता और राजनीतिक अधिरचना का ही एक अंग है, के विषय में ऊपर एंगेल्स का जो उद्धरण पेश किया है, वह यही दिखलाता है। यही कारण है कि बुर्जुआ राज्यसत्ता अपने सामाजिक करारनामे (social contract), विनिमय की समानता और कानून के समक्ष औपचारिक समानता, नागरिकता के सिद्धान्त आदि के ज़रिये अपने असली वर्ग चरित्र को प्रच्छन्न बनाती है, लेकिन इसी प्रक्रिया में उसके आर्थिक आधार और वर्ग हितों से अन्तरविरोध भी पैदा होते हैं, जिन्हें उसे सतत् हल करना होता है। इसी वजह से अधिरचना आर्थिक आधार से सापेक्षिक रूप से स्वायत्त रहती है। क्या इसका यह अर्थ है कि मार्क्स और एंगेल्स कह रहे थे कि राज्य का कोई वर्ग चरित्र नहीं होता? हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते ही ऐसा मतलब निकाल सकते हैं। और ऐसे मूर्खतापूर्ण मतलब को निकाल कर वह अपने इस कठमुल्लावादी कीचड़ में लेनिन को भी घसीट लाते हैं (देखें श्यामसुन्दर के जवाब का पृष्ठ 23, पहला और दूसरा पैराग्राफ)। ऐसे ही "मार्क्सवादियों" से आज मार्क्सवाद को बचाने की ज़रूरत है क्योंकि ऐसे कठमुल्लों के जड़सूत्रवाद को देखकर तमाम संजीदा नौजवान मार्क्सवाद के बारे में ही एक छवि बना लेते हैं।** हम यह जवाब भी एक बहुत ही बोझिल कर्तव्यबोध से लिख रहे हैं क्योंकि अपने इस खर्रे में श्यामसुन्दर ने जो भी कहा है, उसका जवाब हमारे पिछले जवाब में ही मौजूद है।

6. सार-संग्रहवाद और द्वन्द्ववाद के विषय में श्यामसुन्दर के बहके-बहके विचार

दुर्गम पहाड़ों में
वनचरों के साथ साथ
घूमना अच्छा.
पर बैठना अच्छा नहीं
मूर्खों के साथ साथ
इन्द्र-भवन में भी

- भर्तृहरि

सबसे पहले तो सारसंग्रहवाद का अर्थ समझ लेना चाहिए, क्योंकि श्यामसुन्दर अपनी पुरानी आदत के अनुसार किसी भी चीज़ को कोई भी नाम देने की आदत पर आमादा हैं। सार-संग्रहवाद का अर्थ होता है किसी भी प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, विचारधारात्मक परिघटना के पीछे किसी भी निश्चित चरण में सक्रिय प्रमुख कारक/अन्तरविरोध की पहचान न करके उसे एक साथ कई कारकों/अन्तरविरोधों का परिणाम बताना, और उस चरण में मौजूद प्रधान कारक/अन्तरविरोध की पहचान न करना। अब देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने इस अवधारणा को कैसे समझा है और किस तरह से फिर से हमारे यह दोन किहोते अपने गत्ते की तलवार लेकर हम पर टूट पड़े हैं।

श्यामसुन्दर हमें उद्धृत करके बताते हैं कि हमने जाति व्यवस्था के तीन पहलुओं की बात की है और ऐसी बात करके हमने द्वन्द्ववाद के एकोद्भव के सिद्धान्त को खारिज कर दिया है। श्यामसुन्दर हमसे पूछते हैं: "असल में अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के इस मूल सिद्धान्त को नहीं समझते कि किसी समाज व्यवस्था को 'तीन मूल आयामों' के आधार पर परिभाषित करना ही सारसंग्रहवाद होता है। जाति व्यवस्था के ये 'तीन आयाम' क्या समानान्तर दीवारें हैं जिन पर जाति व्यवस्था खड़ी है? द्वन्द्ववाद समानान्तर आयामों की अवधारणों को ही रद्द करता है, क्योंकि यह अधिभूतवादी और सार-संग्रहवादी अवधारणा है।" इसके बाद श्यामसुन्दर स्तालिन को उद्धृत करके साबित करते हैं कि समाज में किसी भी परिघटना के पीछे कारकों का कोई आकस्मिक संग्रह नहीं होता। इससे पहले कि श्यामसुन्दर की बौद्धिक बेईमानी और मूर्खता को हम पूरी तरह बेनक़ाब करें, पहले देख लेते हैं कि क्या हमने यह कहा है कि जाति व्यवस्था के ये तीन आयाम "समानान्तर दीवारें" हैं, या क्या ये जाति व्यवस्था के एक साथ पैदा हुए और एक साथ मौजूद रहे आयाम हैं? हमने अपने पिछले जवाब में लिखा है:

"जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसके *ऐतिहासिक तौर पर* तीन बुनियादी आयाम हैं, *जो कि इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अस्तित्व में आये, विकसित हुए और उनमें से कुछ आयाम बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ ही खत्म हुए या खत्म होने की ओर अग्रसर हुए*; ये तीन आयाम हैं आनुवांशिक श्रम विभाजन, सजातीय विवाह की परम्परा और अस्पृश्यता।"

यही बात हमने अपने इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर में और पिछले जवाब में बार-बार कही है। जाति व्यवस्था के तीनों आयाम *ऐतिहासिक तौर पर* अलग-अलग दौरों में उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले बदलावों के

साथ ही पैदा हुए और उसके दो आयाम (आनुवांशिक श्रम विभाजन और अस्पृश्यता) उत्पादन सम्बन्धों में होने वाले बदलावों के कारण ही कमज़ोर पड़ गये। हमने लिखा है:

"हमने अपने पूर्ववर्ती शोध-पत्रों में यह स्पष्ट तौर पर लिखा है जाति व्यवस्था के दो आयाम, यानी अस्पृश्यता और आनुवांशिक श्रम विभाजन, पूंजीवादी विकास के साथ कमज़ोर होंगे; लेकिन सजातीय विवाह की प्रथा बरकरार रहेगी, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से इसका कोई बुनियादी अन्तरविरोध नहीं है..."

हमने एकदम साफ शब्दों में लिखा है कि ये तीन आयाम ऐतिहासिक तौर पर अलग-अलग दौरों में पैदा हुए और इनमें से कोई एक आयाम ही एक युग में प्रभावी भूमिका में था। अलग-अलग युगों में कौन-सा आयाम प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका निभा रहा था, यह उस दौर की उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों से निर्धारित होता रहा है। क्या इसका यह अर्थ निकलता है कि हमने इन तीनों आयामों को "समानान्तर दीवारों" या हर दौर में बराबर महत्व के साथ मौजूद पहलू के रूप में देखा है? ऐसा अर्थ तो "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" में व्यस्त हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते ही लगा सकते हैं!

यदि सिर्फ तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं की बात करने से आतंकित होकर श्यामसुन्दर द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की रक्षा के दायित्वबोध से उत्पीड़ित होकर द्वन्द्वयुद्ध पर आमादा हो गये हैं, तो हम कहेंगे कि "ठाण्ड रखिये!" श्यामसुन्दर एकवाद (monism) का अर्थ समझने में दयनीय रूप से नाकाम रहे हैं। क्या एकवाद का अर्थ है कि किसी भी समय किसी प्रक्रिया में एक ही अन्तरविरोध सक्रिय होता है? नहीं। इसका अर्थ यह होता है कि किसी भी समय किसी भी प्रक्रिया में कई अन्तरविरोध सक्रिय होते हैं, मगर कोई एक प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका निभाता है। साथ ही, यह भी समझने की बात है कि हर समय में कोई एक अन्तरविरोध ही प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका नहीं निभाता है; अगर प्रधान अन्तरविरोध और प्रधान अन्तरविरोध का प्रधान पहलू सतत् और परस्पर परिवर्तनीय नहीं होंगे, तो इसका अर्थ होगा कि वह प्रक्रिया विकसित हो ही नहीं रही है। किसी भी गतिमान वस्तु या प्रक्रिया की गति निर्धारित ही इस बात से होती है कि उसमें अन्तरविरोधों की क्या गति है और किस प्रकार प्रधान अन्तरविरोध गौण बन जाता है और गौण प्रधान बन जाता है। **लेकिन श्यामसुन्दर 'दो', 'तीन', 'पांच' आदि संख्या सुनते ही चीख उठते हैं, 'हाय! द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद को मार डाला!' और तुरन्त अपने मरियल रोसिनान्ते पर सवार होते हैं, अपने सांचो पांजाओं को जुटाते हैं और जंग लगी शमशीर भांजते हुए और जंग लगे जिरह-बख्तर खड़खड़ाते हुए पवनचक्की पर टूट पड़ते हैं। और आप जानते ही होंगे कि पवनचक्कियों को दानव समझकर मांचा के दोन किहोते की क्या गत बनी थी!**

श्यामसुन्दर के तर्क से चलें तो लेनिन को साम्राज्यवाद की पांच चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं का जिक्र नहीं करना चाहिए था। अगर श्यामसुन्दर लेनिन के युग में पैदा हुए होते (हालांकि बौद्धिक तौर पर तो वे लेनिन भी नहीं, बल्कि फायरबाख़ के युग के प्रतीत होते हैं!) तो लेनिन को पांच चारित्रिक आभिलाक्षिकताओं का जिक्र करना बड़ा भारी पड़ा होता? क्यों भारी पड़ा होता? क्योंकि फिर उन्हें श्यामसुन्दर की आलोचना का जवाब लिखना पड़ता; और मूर्खता से बहुत देर तक निपटने की त्रासदी क्या होती है, यह कोई हमसे पूछे! लेनिन ने पांच आभिलाक्षणिकताओं की बात करके क्या सार-संग्रहवाद का प्रदर्शन किया? नहीं। उन्होंने एक परिघटना के सभी आयामों को चिन्हित किया और बताया कि कौन-से आयाम कब प्रभावी बने। साम्राज्यवाद का अस्तित्व-रूप (mode of existence) लेनिन के दौर में उपनिवेश व अर्द्धउपनिवेश थे। लेकिन आज ऐसा नहीं है, क्योंकि

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और विशेष तौर पर 1970 के दशक के मध्य से साम्राज्यवाद ने नवउदारवाद के दौर में प्रवेश किया, जिसमें कि यह अस्तित्व-रूप कायम रखना मुश्किल था। **किसी भी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिघटना के साथ ऐसा ही होता है; एक दौर से दूसरे दौर में विकास के साथ उसके कुछ पहलू *बदले हुए रूप में* बचते हैं, कुछ समाप्त होते हैं, और कुछ नये पहलू पैदा होते हैं और हर दौर में कोई एक पहलू प्रमुख भूमिका निभाता है और अन्य पहलुओं को आम तौर पर निर्धारित करता है।**

श्यामसुन्दर माओ को उद्धृत करके दावा करते हैं कि किसी भी परिघटना में कई अन्तरविरोध होते हैं लेकिन उनमें से एक ही प्रधान अन्तरविरोध होता है जो कि अन्य अन्तरविरोधों को निर्धारित करता है। निश्चित तौर पर ऐसा ही होता है। लेकिन श्यामसुन्दर की एक समस्या यह भी है कि वह मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ की कोई भी रचना पूरी नहीं पढ़ते हैं। यही कारण है कि पहले वह पूरी बात समझते नहीं हैं और बाद में उन्हें अपने सांचो पांजाओं के सामने "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" चलाना पड़ता है। आइये देखते हैं कि माओ ने अन्तरविरोधों, प्रधान अन्तरविरोध और प्रधान अन्तरविरोध के प्रधान पहलू के बारे में क्या लिखा है:

"In a semi-colonial country such as China, the relationship between the principal contradiction and the non-principal contradictions presents a complicated picture.

"When imperialism launches a war of aggression against such a country, all its various classes, except for some traitors, can temporarily unite in a national war against imperialism. At such a time, the contradiction between imperialism and the country concerned becomes the principal contradiction, while all the contradictions among the various classes within the country (including what was the principal contradiction, between the feudal system and the great masses of the people) are temporarily relegated to a secondary and subordinate position. So it was in China in the Opium War of 1840, the Sino-Japanese War of 1894 and the Yi Ho Tuan War of 1900, and so it is now in the present Sino-Japanese War.

"*But in another situation, the contradictions change position.* When imperialism carries on its oppression not by war, but by milder means--political, economic and cultural--the ruling classes in semi-colonial countries capitulate to imperialism, and the two form an alliance for the joint oppression of the masses of the people. At such a time, the masses often resort to civil war against the alliance of imperialism and the feudal classes, while imperialism often employs indirect methods rather than direct action in helping the reactionaries in the semi-colonial countries to oppress the people, and thus the internal contradictions become particularly sharp. This is what happened in

China in the Revolutionary War of 1911, the Revolutionary War of 1924-27, and the ten years of Agrarian Revolutionary War after 1927. Wars among the various reactionary ruling groups in the semi-colonial countries, e.g., the wars among the warlords in China, fall into the same category.

"When a revolutionary civil war develops to the point of threatening the very existence of imperialism and its running dogs, the domestic reactionaries, imperialism often adopts other methods in order to maintain its rule; it either tries to split the revolutionary front from within or sends armed forces to help the domestic reactionaries directly. At such a time, foreign imperialism and domestic reaction stand quite openly at one pole while the masses of the people stand at the other pole, thus forming the principal contradiction which determines or influences the development of the other contradictions. The assistance given by various capitalist countries to the Russian reactionaries after the October Revolution is an example of armed intervention. Chiang Kai-shek's betrayal in 1927 is an example of splitting the revolutionary front.

"But whatever happens, there is no doubt at all that at every stage in the development of a process, there is only one principal contradiction which plays the leading role." (Mao, *On Contradiction*)

हमने यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि आप देख सकें कि श्यामसुन्दर का कठमुल्लापन किस स्तर का है। **उनके अनुसार, किसी भी प्रक्रिया में जो अन्तरविरोध प्रधान अन्तरविरोध होता है, वह हमेशा प्रधान अन्तरविरोध बना रहता है। यदि ऐसा होगा तो किसी प्रक्रिया का चरित्र ही नहीं बदलेगा क्योंकि हर प्रक्रिया का चरित्र वास्तव में उसके विशिष्ट अन्तरविरोध से ही तय होता है। *इसलिए यह समझना अनिवार्य है कि प्रधान और ग़ैर-प्रधान अन्तरविरोध एक-दूसरे में बदल जाते हैं और यह द्वन्द्ववाद का आम नियम है।* लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर कोई भी रचना पूरी तरह नहीं पढ़ते इसलिए आप स्वयं ही देख सकते हैं कि वह अक्सर कैसी बेढब स्थिति में पाए जाते हैं, ठीक दोन किहोते की तरह! पाठक समझ रहे होंगे कि हमने इन महोदय को 'दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र' नाम क्यों दिया है!**

आगे श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि हमने जाति व्यवस्था के तीन आयामों का जिक्र करके मार्क्सवाद के एकोद्भव के सिद्धान्त को खारिज कर दिया है, क्योंकि श्यामसुन्दर के अनुसार, हमारे द्वारा जाति व्यवस्था के तीन आयामों के बारे में बात करने का अर्थ है कि हमने यह माना है कि जाति व्यवस्था का उद्भव एक साथ तीन स्रोतों से हुआ है। हम ऊपर अपने जवाब और पेपर से उद्धृत करके दिखला चुके हैं कि हमने ऐसा कुछ कहा ही नहीं। हमने बहुत विस्तार से अपने इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर में और अपने जवाब में भी दिखलाया है कि वर्ण-जाति व्यवस्था का उद्भव ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में एक ऐसे समाज में हो रहे श्रम विभाजन और वर्गों

के उद्भव की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पैदा हुआ था, जो कि खानाबदोश चरवाहे समाज की मंजिल से खेतिहर समाज में संक्रमण की अवस्था में था। वास्तव में, अपने जन्म मूल के बिन्दु पर वर्ण ही वर्ग था; लेकिन इस प्रारंभिक समाज में हुए वर्ग विभाजन को धार्मिक-कर्मकाण्डीय तौर पर अश्मीभूत करने के कारण ही वर्ण व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था के बीच का अतिच्छादन एक संगति के सम्बन्ध में बदल गया; आगे बदलते उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग संरचनाओं के कारण वर्ण-जाति व्यवस्था की संरचना में उथल-पुथल होती थी, उसमें परिवर्तन आते थे, और उसके अनुरूप जाति विचारधारा में भी परिवर्तन आते थे, जिसे हमने अपने उपरोक्त पेपर में सोदाहरण व सप्रमाण तथा सन्दर्भों के साथ विस्तार से दिखलाया है। उत्पादन सम्बन्धों में हो रहे इन्हीं परिवर्तनों की प्रक्रिया में जाति व्यवस्था के अन्य दो आयाम पैदा हुए और इतिहास के बदलते दौरों में कभी एक ने तो कभी दूसरे ने जाति व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाई। **अब किस प्रकार की चिन्तन क्षमता रखने वाला व्यक्ति यह कहेगा कि हम जाति व्यवस्था के उद्भव के तीन स्रोत बता रहे हैं? श्यामसुन्दर की तर्क पद्धति को हास्यास्पद न कहा जाय, तो क्या कहा जाय?** इसके बाद, जबकि श्यामसुन्दर पुतला खड़ा करके तीर चलाने की अपनी पुरानी आदत का प्रदर्शन कर लेते हैं, तो वे फिर से बेकार की उद्धरणबाजी करते हैं। जैसे कि एंगेल्स का एक उद्धरण यह साबित करने के लिए पेश किया जाता है कि मार्क्स ने इतिहास की समझदारी को भाववाद से मुक्त किया; तो इससे इंकार किसने किया था? **मुझे लगता है कि इतना कुतर्क करने की प्रक्रिया में श्यामसुन्दर भूल जाते हैं कि वे अपने सांचो पांजाओं की क्लास नहीं ले रहे हैं! या ऐसा भी हो सकता है कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के अंग के तौर पर वह हमारा जवाब कम दे रहे हैं और अपने सांचो पांजाओं के समक्ष व्यर्थ वितण्डा कर अपने पाण्डित्यदम्भ का प्रदर्शन ज्यादा कर रहे हैं।** जो भी स्थिति हो, श्यामसुन्दर की पूरी स्थिति इस बहस में दयनीय रूप से हास्यास्पद बन गयी है।

पृष्ठ 28 और 29 पर श्यामसुन्दर बेकार की उद्धरणबाज़ी के इसी मज़ाकिया उपक्रम में व्यस्त हैं और यह साबित करने का प्रयास कर रहे हैं कि हमने जाति व्यवस्था के तीन आयामों की बात करके हेगेल और मार्क्स पर हमला बोल दिया है। महान जर्मन कवि गोएठे ने कहा था: "When ideas fail, words come in very handy." श्यामसुन्दर यहां यही कर रहे हैं। जो कहा ही नहीं गया उसे खण्डित करने के लिए पन्ने काले कर रहे हैं। या फिर जो कहा गया है, उसे श्यामसुन्दर समझ ही नहीं पाए हैं और खण्डन-मण्डन की रणभूमि में अपनी मूर्खता की गदा लेकर उतर गये हैं। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "यानी किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था अथवा किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग को भौतिकवादी और द्वन्द्ववादी नजरिये से समझने के लिए उस विशिष्ट व्यवस्था अथवा युग के विभिन्न आयामों अथवा पहलुओं का योग नहीं, कि फलां तीन पहलू अथवा फलां चार पहलू, बल्कि उस आधारभूत पहलू का पता लगाना अनिवार्य होता है जिस पर अन्यों की निर्भरता होती है।" **पहली बात हमने अपने किसी भी लेखन में यह नहीं लिखा कि जाति व्यवस्था अपने तीन पहलुओं का योग है; दूसरी बात, हमने अपने इतिहास लेखन-सम्बन्धी पेपर और अपने पिछले जवाब में यह भी दिखलाया है कि जाति व्यवस्था का हर युग में एक प्रमुख पहलू रहा है, लेकिन यह परिवर्तनशील रहा है और द्वन्द्ववादी समझदारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि यही नैसर्गिक भी है। तीसरी बात, तीन पहलू या चार पहलू की बात करने से कोई द्वन्द्ववाद-विरोधी नहीं हो जाता, क्योंकि फिर तो लेनिन ने साम्राज्यवाद के पांच पहलुओं की बात की है। श्यामसुन्दर बिना मतलब तीन-पांच कर रहे हैं और अपनी मूर्खता को छिपाने के लिए हम पर बोगस आरोप लगाकर उसे सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। इसी को हमने बौद्धिक बेईमानी कहा है।**

द्वन्द्ववाद के बारे में दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र के सनसनीखेज खुलासे

चलते-चलते श्यामसुन्दर ने द्वन्द्ववाद पर ज्ञान झाड़ने की व्यर्थ कोशिश की है और जब भी बिना ज़रूरत बकबक की जाती है, तो मुंह से कुछ मूर्खतापूर्ण बात निकल ही जाती है। आइये देखें कि द्वन्द्ववाद के तीन नियमों के बीच श्यामसुन्दर किस प्रकार का सम्बन्ध देखते हैं: "पूरी तरह स्पष्ट है कि द्वन्द्ववाद के तीन मुख्य नियम भी अन्तर्संबंधित हैं और अन्तरनिर्भर हैं जिनमें से एक नियम यानी विपरीतों की एकता का नियम आधारभूत है जिस पर अन्य दो नियम यानी मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और विपरीत क्रम में भी तथा निषेध का निषेध पूरी तरह आश्रित हैं एवं अपनी बारी में विपरीत की एकता और संघर्ष को प्रभावित करते हैं और आगे बढ़ाते हैं। विपरीतों की एकता और संघर्ष के नियम के बिना न तो दूसरे दो नियम अपने बलबूते खड़े रह सकते हैं और न ही पूरा का पूरा द्वन्द्ववाद।" वाह! श्यामसुन्दर ने तो यहां द्वन्द्ववाद के क्षेत्र में नया ही अनुसंधान कर दिया है। मज़ेदार बात यह है कि अपनी बात के समर्थन में माओ का जो उद्धरण हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते पेश कर रहे हैं, वह द्वन्द्ववाद के अन्य नियमों और विपरीत तत्वों की एकता के नियम के बीच के सम्बन्ध के बारे में कुछ नहीं कहता। जिस प्रकार का सम्बन्ध श्यामसुन्दर उनमें दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं, वैसा कोई सम्बन्ध उनमें है भी नहीं। **श्यामसुन्दर के अनुसार, विपरीत तत्वों का नियम बुनियादी अन्तरविरोध के समान अन्य दो गौण अन्तरविरोधों, यानी द्वन्द्ववाद के अन्य दो नियमों को प्रभावित करता है, और ये अन्य दो नियम गौण अन्तरविरोध के समान, प्रधान अन्तरविरोध यानी कि विपरीत तत्वों की एकता के सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हैं। समझ में नहीं आता कि हमारे दोन किहोते ने द्वन्द्ववाद की कहां से शिक्षा ली है! मतलब कि किसी प्राकृतिक या सामाजिक-आर्थिक परिघटना के समान द्वन्द्ववाद के भी कई पहलू हैं और उनमें से एक प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका निभाता है!**

पहली बात तो यह है कि माओ का मानना था कि द्वन्द्ववाद का एक ही मूल नियम होता है, 'विपरीत तत्वों की एकता' और अन्य दो नियमों में से मात्रात्मक विकास से गुणात्मक छलांग का नियम विपरीत तत्वों की एकता की ही एक अभिव्यक्ति है; और 'निषेध का निषेध' का नियम ग़ैर-ज़रूरी है, माओ के अनुसार, निषेध और अभिपुष्टि (affirmation) की एक श्रृंखला होती है, और चूंकि निषेध अभिपुष्टि का विपरीत है, इसलिए यह भी वास्तव में विपरीत तत्वों की एकता का ही नियम है। मार्क्सवादियों और लेनिनवादियों में इस बात को लेकर लम्बी बहस रही है कि माओ की यह अवस्थिति सही है या नहीं क्योंकि हर अभिपुष्टि भी निषेध होती है और हर निषेध भी अभिपुष्टि होता है, जैसा कि स्पिनोज़ा ने सदियों पहले ही स्पष्ट किया था; वस्तुत: स्वयं माओ 'निषेध का निषेध' के नियम का इस्तेमाल 1960 के दशक में भी कर रहे थे और जिस स्रोत में माओ ने निषेध का निषेध के नियम को खारिज किया था, वह स्रोत भी विश्वस्नीय नहीं है और माओ द्वारा एक अनौपचारिक बातचीत पर आधारित है; इतना स्पष्ट है कि माओ निषेध का निषेध के नियम को विपरीत तत्वों की एकता के नियम की ही एक अभिव्यक्ति या विस्तार मानते थे। अभी हम उस बहस के विस्तार में नहीं जा सकते कि माओ ने जब एक अनौपचारिक बातचीत में निषेध का निषेध का खारिज किया था, तो उसका क्या अर्थ था या उस स्रोत को विश्वस्नीय माना जाय या नहीं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर माओ को उद्धृत तो कर रहे हैं, लेकिन उन्होंने माओ का दार्शनिक चिन्तन पढ़ा ही नहीं है। अब आते हैं लेनिन के विचारों पर चूंकि श्यामसुन्दर अपने मूर्खता के कीचड़ में किसी को भी घसीटने से बाज़ नहीं आते हैं।

लेनिन 'निषेध का निषेध' के नियम को विपरीत तत्वों की एकता व संघर्ष के नियम (या अन्तरविरोध) के नियम के ही विस्तार और प्रभाव के तौर पर देखते हैं। लेनिन के अनुसार, किसी भी वस्तु में विपरीत तत्वों की एकता व संघर्ष या उसमें मौजूद अन्तरविरोध उस वस्तु को विकास की एक नयी मंज़िल में ले जाता है; यह नयी मंजिल पिछली मंजिल के विपरीत नहीं होती है। लेनिन के बाद के दौर में, सोवियत संघ में बोल्शेविक

पार्टी के निर्देशन में दर्शन की जो पाठ्यपुस्तक तैयार की गयी, उसमें भी इसी दृष्टिकोण को रखा गया है। लेनिन लिखते हैं:

"The result of the negation of the negation, this third term is "not a quiescent third term, but, as this unity" (of contradictions), "is self-mediating movement and activity...." (Lenin, *Philosophical Notebooks*, **Collected Works**, Vol-38, p. 229)

1931 में मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान, मॉस्को द्वारा प्रकाशित पाठ्यपुस्तक अपनी कुछ छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद विपरीत तत्वों में एकता और निषेध का निषेध के बीच के सम्बन्ध को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में रखती है, जो कि लेनिन की ही समझदारी पर आधारित था:

"***The law of the negation of the negation is concrete form of the law of unity of opposites, that is, the law of the struggle of opposites and the resolution of their contradiction.*** Engels also saw in this the essence of the law of the negation of the negation. He wrote: "The true, natural, historical, and dialectical negation is (formally) the moving source of all development--the division into opposites, their struggle and resolution, and what is more, on the basis of experience gained, the original point is achieved again (partly in history, fully in thought), but at a higher stage." Thus the essence of the law of the negation of the negation, the essence of thesis, antithesis, and synthesis is the division of unity, in the struggle of opposites and in the resolution of this contradiction, that is, in the origin of new developmental tendencies. "Processes," Engels wrote in *Anti-Duhring,* "which have an antagonistic nature contain a contradiction inside them. The transformation of one extreme into its opposites, *and, finally, as the basis of everything, the negation of the negation."* (Shirokov, Aizenberg, et al, A Textbook of Marxist Philosophy, Marxism-Leninism Institute, Moscow)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मामला वैसा बिल्कुल नहीं है, जैसा कि श्यामसुन्दर समझ रहे हैं। द्वन्द्ववाद के ये नियम वास्तव में विपरीत तत्वों की एकता के नियम के ही विस्तार हैं; निषेध का निषेध इसीलिए होता है क्योंकि हर वस्तु में परस्पर दो विपरीत पहलू होते हैं; दूसरे शब्दों में, कोई भी वस्तु दो विपरीत पहलुओं की एकता व संघर्ष से ही निर्मित होते हैं; मिसाल के तौर पर, पूंजी और उजरती श्रम वे दो विपरीत पहलू हैं जो कि पूंजीवादी समाज को संघटित करते हैं; इनके टकराव के कारण उजरती श्रम की शक्ति पूंजी की शक्ति का निषेध करती है (पहला निषेध) और फिर वह अपना निषेध भी करती है (निषेध का निषेध, या, दूसरा निषेध), जिसके फलस्वरूप समाजवादी समाज और फिर साम्यवादी समाज में संक्रमण होता है; लेकिन क्या समाजवादी समाज, पूंजीवादी समाज का विपरीत है? नहीं। यदि हम ऐसा मानते हैं, तो हमें मानना पड़ेगा कि समाजवाद भी अपने विपरीत में बदलेगा, जो कि हमारी पहली प्रस्थापना के अनुसार पूंजीवाद है। समाज के विकास की

एक मंजिल से दूसरी मंजिल में संक्रमण का कारण हरेक मंजिल में मौजूद प्रधान अन्तरविरोध होता है, मगर इस अन्तरविरोध का समाधान एक *नयी* मंजिल में ले जाता है, न कि पिछली मंजिल के विपरीत में। विपरीत पैदा नहीं होते हैं, बल्कि *अविपरीत* के दूसरे ध्रुवीय छोर के तौर पर मौजूद रहते हैं; अगर एक मौजूद नहीं होगा तो दूसरा मौजूद हो ही नहीं सकता है; क्योंकि इन दोनों की विपरीतता (या ध्रुवीयता) में ही उस वस्तु का अस्तित्व होता है, जिसकी कि हम बात कर रहे हैं। लेकिन इनके बीच का अन्तरविरोध एक नयी वस्तु में संक्रमण को जन्म देता है, न कि पहली वस्तु के विपरीत वस्तु को।

श्यामसुन्दर को लगता है कि द्वन्द्ववाद में 'विपरीत तत्वों की एकता' प्रधान अन्तरविरोध है और वह अन्य अन्तरविरोधों को निर्धारित करता है! लेकिन तब से एकवाद (monism) का झण्डा लिये बदहवास भाग रहे हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते को पता ही नहीं है कि एकवाद का अर्थ क्या होता है! **विपरीत तत्वों की एकता ही बुनियादी नियम है, जो कि परिवर्तन के पीछे का मूल कारण है; लेकिन परिवर्तन के फलस्वरूप नये चरण का उदय होता है और यह नया चरण इतिहास के कुण्डलाकार विकास में एक नयी मंजिल होती है, और इसीलिए यह पिछली मंजिल की विपरीत नहीं होती। इसी रूप में निषेध का निषेध होता है; और इसी रूप में निषेध का निषेध का नियम वस्तुत: विपरीत तत्वों की एकता के नियम का ही एक विस्तार है और उसका ही परिणाम है। ऐसा नहीं है कि इनमें से एक प्रधान अन्तरविरोध है और दूसरा गौण अन्तरविरोध, जैसा कि हमारे दोन किहोते को लगता है। श्यामसुन्दर के पत्र का केवल यह हिस्सा ही बता देता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे में इन महोदय को कुछ नहीं पता है।**

आज की जाति व्यवस्था, सजातीय विवाह और पूंजीवादी व्यवस्था के विषय में श्यामसुन्दर का मूर्खतापूर्ण बौद्धिक चर्वण

आगे श्यामसुन्दर ने हमारी इस बात का, कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास के साथ उसका जो पहलू आज प्रमुखता के साथ मौजूद है, वह है सजातीय विवाह, यह अर्थ निकाला है कि हमने यह नहीं बताया कि वह कौन-सा आधारभूत पहलू है, जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी है! यह पढ़कर क्या हमारा पिछले जवाब में यह कहना जायज़ नहीं था कि इन महाशय को हिन्दी व्याकरण और भाषा भी समझ में नहीं आती है? जब हम यह कहते हैं कि आज पूंजीवादी जाति व्यवस्था का जो पहलू सर्वाधिक प्रभावी बना हुआ है, वह सजातीय विवाह की व्यवस्था है, तो इसका क्या अर्थ है? श्यामसुन्दर के अनुसार, चूंकि हमने जाति व्यवस्था के तीन आयाम बताये हैं (ऐतिहासिक तौर पर तीन आयाम बताए हैं, लेकिन श्यामसुन्दर 'ऐतिहासिक तौर पर' को खा जाते हैं!) इसलिए हम आधारभूत पहलू नहीं बता पा रहे हैं। ऐसी बेहूदा बात पर सिर्फ हंसा जा सकता है। कोई भी व्यक्ति जिसने जाति प्रश्न पर मेरा लेखन पढ़ा है, वह जानता है कि हम स्पष्ट तौर पर ठीक यही बता रहे हैं कि जाति की ऐतिहासिक तौर पर पैदा हुई तीन पंजिकाओं में से दो पूंजीवादी व्यवस्था के प्रादुर्भाव और विकास के साथ धूमिल हुई हैं (समाप्त नहीं) और जो पंजिका अपने प्रभाव को बनाये रखे है और अब सबसे प्रमुख पंजिका है, वह है सजातीय विवाह की व्यवस्था। और तो और हमारी इस बात को भी श्यामसुन्दर विकृत करके इस रूप में पेश करते हैं, "जैसे कि उनके अनुसार वर्तमान 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' अब महज़ 'एक मूल आयाम' पर ही खड़ी है और वह मूल आयाम है सजातीय विवाह की परंपरा।' आगे श्यामसुन्दर हमारी अवस्थिति को फिर से विकृत करते हुए लिखते हैं: "यहां भी अभिनव सिन्हा ने यह तो पूरी तरह मान लिया कि जाति पर आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ मूलत: और मुख्यत: टूट चुका है और सजातीय विवाह का पहलू अभी भी बना हुआ है लेकिन यहां भी यह नहीं बताया गया कि जाति

व्यवस्था का वह कौन सा पहलू है जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी है और जिसके टूट जाने से जाति व्यवस्था, जाति व्यवस्था ही नहीं रहेगी, बल्कि जो बचेगा वह उसका अवशेष मात्र होगा।"

अब आप हमारे उस उद्धरण को पढ़ें जिससे श्यामसुन्दर के कठमुल्लावादी मस्तिष्क ने यह अर्थ निकाला है: "जाति व्यवस्था का अर्थ केवल आनुवांशिक श्रम विभाजन ही नहीं है, बल्कि सजातीय विवाह की व्यवस्था, अस्पृश्यता और साथ ही संस्तरीबद्ध असमानता की व्यवस्था भी है। जाति पर आधारित आनुवांशिक श्रम विभाजन पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ *मूलत: और मुख्यत:* टूट चुका है, और यह स्वाभाविक ही है। पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के साथ जाति व्यवस्था का जो आयाम मेल नहीं खायेगा या उसके साथ अन्तरविरोध में होगा, उसका मूलत: और मुख्यत: समाप्त हो जाना लाजिमी है।" अब पाठक ही बताएं कि इसका क्या अर्थ है? हमने इस उद्धरण में और इसके ठीक पहले के उस उद्धरण में जिसे श्यामसुन्दर ने अपने खर्रे के पृष्ठ 30 पर उद्धृत किया है, ठीक यही बताया है कि आज जाति व्यवस्था को जो मूल पहलू प्रभावी है, वह सजातीय विवाह की व्यवस्था है।

दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर को 'मूलत: और मुख्यत:' जैसे शब्दों का अर्थ नहीं पता है। तीसरी बात यह कि वह "अभिनव सिन्हा ने यह तो पूरी तरह मान लिया" जैसे वाक्य का ऐसे प्रयोग करते हैं, मानो मूल तौर पर हमारी यह अवस्थिति रही हो कि जाति व्यवस्था का आनुवांशिक श्रम विभाजन कायम है, और ऐसा हमने श्यामसुन्दर के कहने पर मान लिया हो कि अब यह आनुवांशिक श्रम विभाजन कमज़ोर पड़ गया है! **जिन्होंने भी सरवान्तीस की युगान्तरकारी रचना *दोन किहोते* पढ़ी होगी उन्हें पता होगा कि दोन किहोते को भी ऐसे विभ्रम होते रहते थे और वे यह भी समझ गये होंगे कि हमने श्यामसुन्दर को 'कुरुक्षेत्र का दोन किहोते' (दोन किहोने दी ला कुरुक्षेत्र!) क्यों कहा है!** किसी भी बहस की मूल नैतिकता का यह बुनियादी प्रश्न है कि हम अपने विरोधी की अवस्थिति को पेश करने में बेईमानी न करें। लेकिन जब व्यक्ति तर्क-वितर्क को जीत-हार और "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" का प्रश्न बना लेता है, और इसीलिए उसे हार का भय सताने लगता है, तो उसका आखिरी औज़ार होता है कि वह अपने विरोधी की अवस्थिति को जानबूझकर विकृत करता है, ताकि फिर अपने सांचो पांजाओं के बीच अपनी इज्जत बचा सके। लेकिन ऐसा करने पर आदमी किस प्रकार दयनीय रूप से त्रासद स्थिति में पहुंच जाता है, इसे समझने के लिए श्यामसुन्दर के 120 पेज के खर्रे को पढ़ना काफी है! यह बौखलाहट और बदहवासी में की गयी बौद्धिक बेईमानी, मूर्खता, और ऊबा देने वाले दुहराव (ताकि हमारे "65-पृष्ठीय" जवाब के जवाब में 120-पृष्ठीय जवाब लिखा जा सके!) का जीता-जागता नमूना है।

इसके बाद, श्यामसुन्दर ने बिना वजह मार्क्स और लेनिन के दो उद्धरण पेश किये हैं, यह साबित करने के लिए कि हर चीज़ में एक अन्तरविरोध प्रधान होता है। मार्क्स यहां कहते हैं कि जाति व्यवस्था का आधार पुश्तैनी श्रम विभाजन की व्यवस्था है। ठीक ही कहते हैं! उनके समय में ऐसा ही था! लेकिन 1850 के दशक और आज के दौर में फर्क है। लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार, मार्क्स ने जो कुछ विशिष्ट (particular) टिप्पणियां और प्रेक्षण किये हैं, वे सभी आज भी वैध हैं; मार्क्स ने अगर यह सुना होता, तो निश्चित तौर पर अपना सिर पकड़ लिया होता! दूसरी बात यह है कि यदि श्यामसुन्दर ने हमारा इतिहास-लेखन सम्बन्धी शोध पत्र और हमारे पिछले जवाब को ठीक से पढ़ा होता (हालांकि ठीक से पढ़ने पर भी *समझने* की उनकी क्षमता पर हमारे गम्भीर सन्देह है) तो उन्हें पता होता कि हमने जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास के हर चरण की विशिष्टताओं की चर्चा की है और "तीन आयामों" को, जिनके बीच में श्यामसुन्दर रस्से की तरह खिंच गये हैं, एक साथ तीन, एक बराबर अहम आधारों के रूप में पेश नहीं किया है, बल्कि यह सप्रमाण बताया है किस युग में जाति व्यवस्था की

ऐतिहासिक तौर पर अस्तित्व में आयी इन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं में कौन-सी आभिलाक्षणिकता प्रमुख थी। **लेकिन श्यामसुन्दर "तीन" शब्द सुनते ही बौरा जाते हैं और "तीन? तीन? द्वन्द्ववाद में तो एक होता है, द्वन्द्ववाद में तो एक होता है" कह-कहकर उछलने लगते हैं; यह है कुरुक्षेत्र के हमारे दोन किहोते की समझदारी। इस पर क्या कहा जाय?**

एक और बात जो कि श्यामसुन्दर के समझ में नहीं आती है वह यह है कि जब वर्ण व्यवस्था महज़ श्रम विभाजन के तौर पर मौजूद थी, तो उसे वर्ण-जाति व्यवस्था कहा ही नहीं जा सकता है; जब तक कि इस श्रम विभाजन का धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण नहीं हुआ, तब तक वह वर्ग व्यवस्था का ही पर्याय थी। यह धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण विकसित होने की प्रक्रिया में ही यह श्रम विभाजन आनुवांशिक बना, सजातीय विवाह को एक धार्मिक-सामाजिक नियम के तौर पर ब्राह्मणों ने शासक वर्ग के हितों में स्थापित किया; अस्पृश्यता की प्रथा भी एक नये दौर में बदले हुए उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार, धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण का एक नया चरण था। हमने अपने पेपर में उदाहरण भी पेश किया था जिसमें हमने बताया था कि कई जातियां जो कि अस्पृश्य नहीं थीं, वे अस्पृश्य बना दी गयीं (जैसे कि चमार और चाण्डाल) जबकि कई जातियां जातिगत पदानुक्रम में ऊपर भी चढ़ीं। जाति व्यवस्था में हो रहे इन भौतिक और विचारधारात्मक परिवर्तनों के पीछे समाज की वर्ग गतिकी थी।

अपने खर्रे के पृष्ठ 31 और 32 पर श्यामसुन्दर ने और कुछ नहीं किया है बस कुछ ग़ैर-ज़रूरी उद्धरण पेश किये हैं यह साबित करने के लिए कि हर वस्तु का उद्भव किसी एक प्रधान अन्तरविरोध से होता है और यह कि हम ऐसा नहीं मानते हैं, क्योंकि हमने जाति व्यवस्था के "तीन आयामों" की बात की है; सभी लोग जो हमारा लेखन पढ़ चुके हैं, वह समझ सकते हैं कि श्यामसुन्दर झूठ बोल रहे हैं; हमने तीन आयामों को जाति व्यवस्था के उद्गम का स्रोत नहीं बताया है, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक तौर पर पैदा हुई चारित्रिक आभिलाक्षणिकता बताया है; लेनिन ने पूंजी के संकेन्द्रण और संघनन (centralization and concentration) की प्रवृत्ति को साम्राज्यवाद के उदय का स्रोत बताया, लेकिन ऐतिहासिक तौर पर पैदा हुई उसकी पांच चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं की बात की; हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते का बस चलता तो वह लेनिन पर भी द्वन्द्ववाद को न समझने और एकोद्भव के सिद्धान्त की "जड़ों पर कुल्हाड़ी चलाने" का आरोप लगा देते! **मज़ेदार बात यह है कि श्यामसुन्दर ने यह साबित करने के लिए कि हमने जाति व्यवस्था के उद्भव के तीन स्रोत बताए हैं, हमारा यह उद्धरण छांटा है (इससे भी पता चलता है कि श्यामसुन्दर ने अपनी बरसाती में कभी कोई किराएदार नहीं रखा है!): "जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है, जिसके ऐतिहासिक तौर पर तीन बुनियादी आयाम हैं, जोकि *इतिहास के अलग-अलग दौरों में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अस्तित्व में आये, विकसित हुए और उनमें से कुछ आयाम बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ ही खत्म हुए या खत्म होने की ओर अग्रसर हुए*..." क्या इस उद्धरण के आधार पर कोई स्वस्थ दिमाग़ वाला व्यक्ति वह नतीजा निकाल सकता है, जो कि हमारे दोन किहोते दी ला कुरुक्षेत्र ने निकाला है? ऐसी बेतुकी बातों के कारण ही हम स्पष्ट तौर पर मानते हैं कि मूर्खों से बहुत देर तक *इंगेज* करना न सिर्फ व्यर्थ होता है, बल्कि ख़तरनाक भी हो सकता है और इसीलिए हमने ऊपर बताया है कि यह इस बहस में हमारा आखिरी जवाब है।**

7. उत्पादन सम्बन्ध, उत्पादक शक्ति, उत्पादन प्रणाली, आर्थिक आधार और अधिरचना के बारे में श्यामसुन्दर के विचार: पुरानी मूर्खताओं का नये स्तर पर दुहराव

सच्चा विवेक मूर्खता के समान दिखावटी नहीं होता। विवेकवान व्यक्ति अक्सर सन्देह करता है और अपना मन बदलता है; मूर्ख जिद्दी होता है, और सन्देह नहीं करता; वह हर चीज़ जानता है सिवाय अपनी मूर्खता के।
- आखेनातोन (फराओ, चौदहवीं सदी ईसा पूर्व)

हमने अपने पिछले जवाब में ही उत्पादन सम्बन्ध, आर्थिक आधार और सामाजिक संरचना के विषय में श्यामसुन्दर के विचारों के बेतुकेपन को दिखलाया था। उसके जवाब में श्यामसुन्दर ने "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के मातहत आत्मरक्षा में जो कुतर्क पेश किये हैं, वह बेतुकेपन की नयी ऊंचाइयों पर पहुंच गये हैं। श्यामसुन्दर पहले तो मार्क्स के उस उद्धरण की कोई व्याख्या नहीं कर पाए हैं जिसमें मार्क्स ने बताया है कि समाज के आर्थिक आधार में कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध मौजूद होते हैं, जिनमें से एक प्रभुत्वशाली होता है और अन्य उत्पादन सम्बन्धों के स्थान को निर्धारित करता है। श्यामसुन्दर बोलते हैं कि मार्क्स की यह बात सही है लेकिन फिर श्यामसुन्दर ने इस उद्धरण की ऐसी व्याख्या की है, जिसे सुनकर आपको हंसते-हंसते बल पड़ सकते हैं। **यहां श्यामसुन्दर ने दावा किया है कि उत्पादन और उत्पादन सम्बन्ध अलग अस्तित्वमान होते हैं और पिछड़ा हुआ उत्पादन तो रहता है, मगर पिछड़े हुए उत्पादन सम्बन्ध नहीं रहते; और यह जो पिछड़ा हुआ उत्पादन होता है, यह समाज के आर्थिक आधार से बाहर कहीं अस्तित्वमान रहता है!** हमने पिछली बार कहा था कि अगर समाज में कुछ उत्पादन सम्बन्ध हैं (चाहें वे अधीनस्थ स्थिति में ही क्यों न हों) और श्यामसुन्दर के अनुसार वे आर्थिक आधार का अंग भी नहीं हैं, तो इसका अर्थ है कि वे श्यामसुन्दर के वज्र-मूढ़ मस्तिष्क में विद्यमान हैं; इस बार श्यामसुन्दर ने बता दिया है कि उस वज्र मूढ़ मस्तिष्क में क्या है! आगे आप भी देखेंगे कि वह गज़ब की चीज़ क्या है।

श्यामसुन्दर का यह विचार कि समाज का कोई उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार में मौजूद नहीं है, एक अर्थहीन बात है; दूसरी बात, जो श्यामसुन्दर के समझ में नहीं आयी है कि पिछड़ी उत्पादन पद्धतियों से पैदा होने वाले बचे हुए उत्पादन सम्बन्ध हूबहू नहीं बने रहते, बल्कि नयी उत्पादन प्रणाली द्वारा सहयोजित और समायोजित कर लिये जाते हैं; आगे हम दिखाएंगे कि सहयोजित और समायोजित करने का मतलब श्यामसुन्दर के सिर के ऊपर से निकल गया है। तीसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर का दावा है कि उत्पादन सम्बन्ध अपने दौर की उत्पादक शक्तियों के अनुरूप होते हैं और इसीलिए समाज में उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग यानी आर्थिक आधार में केवल एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं; यहां श्यामसुन्दर ने दिखलाया है कि वह उत्पादन सम्बन्धों की सम्पूर्णता (totality) की अवधारणा को ही नहीं समझते हैं; वास्तव में, मार्क्स के लिए totality शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है और वह है एक प्रकार का तन्तुबद्धीकरण (articulation) जिसमें एक तत्व की प्रधानता के साथ कई तत्वों की तन्तुबद्धीकृत उपस्थिति होती है। दिलचस्प बात यह है कि एक स्थान पर इन महोदय ने मार्क्स का एक उद्धरण पेश किया है, जिसमें मार्क्स ने ठीक इसी totality का जिक्र किया है, जिसे इन्होंने 'समाहार' के तौर पर समझा है (सम्भव है कि जो अनुवाद उपलब्ध है, उसमें इसी शब्द का प्रयोग किया गया हो; मगर फिर भी प्रश्न शब्द के अर्थ को नहीं अवधारणा को समझने का है)।

पृष्ठ 33 पर श्यामसुन्दर मार्क्स के उस उद्धरण को दुबारा पेश करते हैं, जिसे अपने पिछले पत्र में उन्होंने एंगेल्स का उद्धरण समझ लिया था, और उसके आधार पर दावा करते हैं कि किसी भी समाज का आर्थिक आधार उस समाज में उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास के स्तर से तय होता है। और इसीलिए इस आर्थिक आधार का अंग वे उत्पादन सम्बन्ध नहीं हो सकते हैं, जो कि पिछड़े हुए हों। और चूंकि श्यामसुन्दर के अनुसार, जाति बीते ज़माने का उत्पादन सम्बन्ध है, इसलिए वह आज के पूंजीवादी आर्थिक आधार का अंग नहीं हो सकता है। **जैसा कि आप देख सकते हैं, श्यामसुन्दर कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं और वही बातें दुहरा रहे हैं जिनका हम अपने पिछले जवाब में ही खण्डन कर चुके हैं।**

पहली बात तो यह है कि जाति स्वयं अपने आप में कोई उत्पादन सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों का एक अंग है; यह आज के आर्थिक आधार (उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग) के साथ तन्तुबद्धीकृत है; दूसरी बात यह है कि इतिहास में तमाम ऐसी सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं व परिघटनाएं पैदा हुई हैं, जिन्होंने बदलती उत्पादन पद्धति के साथ अपने रूप को बदला है और नयी उत्पादन पद्धति के साथ सहयोजित और समायोजित हो गयी हैं। मिसाल के तौर पर, लैंगिक श्रम विभाजन की व्यवस्था जिसके आधार पर आगे पितृसत्ता विकसित हुई, नस्ल, अस्तवन्त्र श्रम के तमाम रूप जिसमें कि दास श्रम भी शामिल हैं; ये तमाम आर्थिक श्रेणियां हैं जिन्होंने बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ अपने रूप को परिवर्तित किया और नयी उत्पादन पद्धति में तन्तुबद्धीकृत हो गयीं। हमें शक़ है कि श्यामसुन्दर तन्तुबद्धीकरण (articulation) का अर्थ भी नहीं समझते हैं; तन्तुबद्धीकरण का अर्थ साधारण योग नहीं है, बल्कि एक जैविक अन्तर्गुंथन होता है, जिसमें कि पुरानी संरचना अपने हूबहू पुराने रूप में नयी उत्पादन पद्धति में "जुड़" नहीं जाती है, बल्कि अपने रूप को नयी उत्पादन की स्थितियों के अनुसार परिवर्तित करती है और उसके साथ अन्तर्गुंथित होती हैं। यदि आप आधुनिक पूंजीवादी विश्व में दास प्रथा के विषय में मार्क्स के उस उद्धरण को देखें, जो कि हमने ऊपर पेश किया है, तो आप स्पष्ट तौर पर समझ सकते हैं कि हम यहां क्या कह रहे हैं। हमने अपने पेपर और अपने पिछले जवाब में स्पष्ट तौर पर दिखलाया है कि जाति व्यवस्था अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों में किस प्रकार अपने स्वरूप को बदलती रही है और नयी उत्पादन पद्धतियों के साथ समायोजित होती रही है। लेकिन जो व्यक्ति मार्क्सवाद को एक जीवन्त विज्ञान की बजाय मृत सूत्रों के समुच्चय के रूप में देखता है, उसे यह समझाना, या फिर यह समझाना कि मार्क्स ने दास प्रथा की दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका की पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूदगी को किस प्रकार देखा, विभिन्न प्रकार के अस्वतन्त्र श्रम रूपों के पूंजीवादी व्यवस्था में सहयोजन को किस प्रकार देखा (वास्तव में, इस पर एक बहुत प्रसिद्ध मार्क्सवादी बहस भी हुई है, टॉम ब्रास और जयरस बानाजी के बीच में, लेकिन क्या आप उम्मीद कर सकते हैं कि हमारे दोन किहोते को इसके बारे में पता होगा या उसने यह बहस पढ़ी होगी?!)। श्यामसुन्दर जैसे लोग परिभाषावादी और कठमुल्लावादी तरीके से कहीं यह पढ़ लेंगे कि पूंजीवाद में तो केवल मुक्त श्रम ही हो सकता है; और फिर अपने कठमुल्लावादी सूत्रों से यथार्थ का सृजन कर देंगे; इसीलिए हमने श्यामसुन्दर को 'दोन किहोते दी ला कुरुक्षेत्र' की उपाधि से नवाज़ा है, यूं ही नहीं नवाज़ा है!

इसलिए श्यामसुन्दर के दिमाग़ की छकड़ा गाड़ी इस वाक्य पर अटक गयी है: -- "समाज की एक निश्चित मंजिल का आर्थिक ढांचा उस मंजिल के अनुरूप यानी उस मंजिल की उत्पादक शक्तियों से मेल खाने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग से ही निर्मित होता है, उस मंजिल से बेमेल उत्पादन संबंध उस मंजिल के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं होते" तो फिर संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी हिस्से में गृहयुद्ध से पहले दास श्रम क्या था? **इस पर श्यामसुन्दर यह कहते हैं कि यह था तो एक आर्थिक संबंध लेकिन यह उत्पादन सम्बन्ध नहीं था;** यह भी श्यामसुन्दर की एक नयी खोज है जिस पर हम आगे आएंगे। इसी को हमने

पिछले पत्र में द्रविड़ प्राणायाम करने की संज्ञा दी थी। अब राजनीतिक तौर पर ऊल-जुलूल बातें तो श्यामसुन्दर के मुंह से अपने पहले पत्र में ही निकल गयीं थीं, पर दोन किहोते अपने सांचो पांजाओं के सामने कैसे बोले कि मैंने पवनचक्की को राक्षस समझ लिया था! इसलिए एक कुतर्क को ढंकने के लिए श्यामसुन्दर कैसे दर्जनों कुतर्क गढ़ते हैं, यह हम आपको आगे दिखलाएंगे।

पूर्णता (totality) की अवधारणा को समझने में नाकाम श्यामसुन्दर का अपूर्ण मस्तिष्क

श्यामसुन्दर को यह तक नहीं पता है कि 1956 के बाद सोवियत संघ में जो भी राजनीतिक साहित्य छप रहा था, वह क्रांतिकारी मार्क्सवादियों के लिए संदेह के घेरे में आता है। यही कारण है कि आप कभी भी मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों को इस साहित्य से उद्धरण पेश कर अपने आपको वैध ठहराने का प्रयास करते हुए नहीं देखेंगे। न तो भारत में क्रांतिकारी कम्युनिस्ट 'राजनीतिक अर्थशास्त्र का शब्दकोश' और 'दर्शनकोश' आदि जैसी पुस्तकों को उद्धृत करते हैं, जो कि 1956 के बाद संशोधनवादी विकृतिकरण के साथ छपी थीं, और न ही भारत से बाहर क्रांतिकारी कम्युनिस्ट इन पुस्तकों को उद्धृत करते हैं। **लेकिन हमारे दोन किहोते को यह पता ही नहीं है और वह अपने वैधीकरण के लिए धड़ल्ले से संशोधनवाद के दौर में छपे 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के शब्दकोश' को उद्धृत करते हैं। लेकिन उससे भी मज़ेदार बात यह है कि इस उद्धरण की भी श्यामसुन्दर को कोई समझ नहीं है।** यह उद्धरण यह है: 'Each historically distinct mode of production has ***its own totality*** of production relations forming a single, integral system." जैसा कि हमने ऊपर बताया था, श्यामसुन्दर को मार्क्स द्वारा totality शब्द के प्रयोग का अर्थ नहीं समझ में आया है; एक उदाहरण पेश कर देते हैं, जिससे हमारे दोन किहोते को तस्वीर कुछ साफ दिखलायी दे :

"The ***totality of heterogeneous use-values*** *or physical commodities* reflects a *totality of similarly heterogeneous forms of useful labour*, which differ in order; genus, species and variety : in short, a social division of labour." (Marx, *Capital, Vol-I,* Penguin Edition, p. 132)

एक अन्य उदाहरण भी देखें:

"The general circulation comprises as much ***the intertwining of the circuits of the various independent fractions of social capital, i.e., the totality of the individual capitals***, as the circulation of those values which are not thrown on the market as capital but enter into individual consumption." (Marx, *Capital, Vol-II)*

एक आखिरी उदाहरण:

"The movement of the social capital consists of ***the totality of the movements of its individualised fractional parts***, the turnovers of the individual capitals." (Marx, *Capital, Vol-II)*

जिस भी व्यक्ति को भाषा की रत्ती भर भी समझ और तमीज़ है, वह समझ जायेगा कि totality की अवधारणा एक अमूर्तन/सामान्यीकरण (abstraction/generalization) है, जो कि विविध प्रकार के तत्वों का ही हो सकता है। यह अवधारणा ही एक तन्तुबद्धीकरण की अवधारणा है। लेकिन जड़सूत्रों में फंसा हुआ कठमुल्लावादी दिमाग़ इसे समझ ही नहीं सकता है। **इसीलिए श्यामसुन्दर ने इसका यह अर्थ निकाला है कि उत्पादन सम्बन्धों की विशिष्ट totality का अर्थ यह है उसमें एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध हो सकते हैं; जबकि इसका वास्तविक अर्थ ठीक यह है कि इसमें किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशाली स्थिति में हैं और अन्य प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध उसके मातहत होते हैं, उसके साथ तन्तुबद्धीकृत होते हैं और समायोजित होते हैं; ठीक इसीलिए यह एक विशिष्ट (specific) प्रकार की totality है।** इतनी वज्रमूढ़ता प्रदर्शित करने के बाद भी यह हास्यास्पद रूप से मूर्खतापूर्ण धृष्टता ही कही जायेगी कि हमारे दोन किहोते लिखते हैं: "लेकिन 'बिगुल' वाले मार्क्स द्वारा कही गयी इतनी स्पष्ट बात को भी उलझा देने पर तुले हुए हैं।" और फिर बौद्धिक बेईमानी का उदाहरण पेश करते हुए श्यामसुन्दर हमारी अवस्थिति को तोड़-मरोड़कर पेश करने का अपना कार्यक्रम भी जारी रखते हैं: "उनका (बिगुल वालों का) कहना है कि किसी समाज व्यवस्था की समूची भौतिक प्रक्रिया में जो भी उत्पादन संबंध मौजूद हैं चाहें वे अतीत के हों चाहें वर्तमान के, सभी संबंध मिलकर किसी समाज के मूलाधार यानी आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं चाहें वे उत्पादन संबंध उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के यानी उस व्यवस्था की उत्पादन शक्तियों के अनुकूल हों या न हों।"

पहली बात तो यह कि हमारे तर्क से अगर यह बात ग़ायब कर दी जाय कि किसी भी मूलाधार में किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशील हैं, जो कि अन्य उत्पादन सम्बन्धों के स्थान और महत्व को निर्धारित करते हैं, तो पूरी बात ही विकृत हो जाती है। चूंकि श्यामसुन्दर के पास कोई तर्क नहीं बचा है, इसलिए अब वह बहस में विरोधी के तर्क को सटीक तरीके से पेश करने की बौद्धिक नैतिकता को तिलांजलि दे चुके हैं। इससे पता चलता है कि मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी अपनी बुद्धि भर सयानापन दिखलाने की कोशिश तो करता ही है। देखें मार्क्स क्या लिखते हैं, जिसे कि श्यामसुन्दर ने हमारे जवाब से ही उद्धृत किया है: "हर प्रकार के समाज में यह निर्धारक उत्पादन और उसके सम्बन्ध होते हैं, जो *अन्य सभी उत्पादनों और उनसे पैदा होने वाले सम्बन्धों* का स्थान और उनका महत्व नियत करते हैं।" जैसा कि इस उद्धरण से एकदम साफ तौर पर स्पष्ट होता है, मार्क्स समाज के आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की प्रभुत्वशीलता के मातहत अन्य प्रकार के उत्पादनों और उत्पादन सम्बन्धों के निर्धारण की बात करते हैं। ठीक यही बात हमने भी लिखी है। यही वह उद्धरण है जो श्यामसुन्दर का *एकीलीस हील* है; मार्क्स की इसी अवस्थिति से निपट पाना श्यामसुन्दर के लिए टेढ़ी खीर है। इसलिए अब वह उस द्रविड़ प्राणायाम को अंजाम देते हैं, जिसका हमने ऊपर जिक्र किया है। आइये देखते हैं कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के कार्यभारों को पूर्ण करने के लिए श्यामसुन्दर किस प्रकार मार्क्स की अवस्थिति को तोड़ते-मरोड़ते हैं। इसके बाद हम सप्रमाण और सोदाहरण यह भी दिखलाएंगे कि केवल उपरोक्त उद्धरण में ही नहीं मार्क्स ने कई स्थानों पर आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की प्रभुत्वशीलता के अन्तर्गत कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की उपस्थिति और उनके अन्तर्गुंथन और तन्तुबद्धीकरण की बात की है। लेकिन पहले अपने कुरुक्षेत्र के दोन किहोते के उस द्रविड़ प्राणायाम को देख लेते

हैं, जिसमें कि अपने नये जवाब में पेश सबसे अनोखी मूर्खताओं में से एक मूर्खता को वह पूरे आत्मविश्वास के साथ पेश करते हैं।

समाज के दो आधारों का श्यामसुन्दरीय सिद्धान्त: कठदलीली और मूर्खता का नया कीर्तिमान

पहले तो श्यामसुन्दर यह लिखने को बाध्य होते हैं: "जिसे (मार्क्स के उपरोक्त उद्धरण को) हम भी सही मानते हैं।" लेकिन अब जबकि हमारा बिल्ला अपने ही ऊन के गोले फंस चुका है, तो हम ये उद्गार सुनते हैं: "मार्क्स ने तो यहां किसी अर्थव्यवस्था में मौजूद तमाम उत्पादन संबंधों और उत्पादनों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। पहले भाग में किसी समाज व्यवस्था का निर्धारक उत्पादन और उसके संबंध रखे हैं तथा दूसरे भाग में वे उत्पादन और उनके उत्पादन संबंध रखे हैं जिनके स्थान और महत्व को पहले भाग वाले उत्पादन संबंध निर्धारित करते हैं।" **यह अपने कुतर्क को बचाने के लिए की गयी लफ्फाज़ी नहीं तो और क्या है? मार्क्स ने यहां दो प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन को दो भागों में नहीं बांटा है; मार्क्स ठीक यही बता रहे हैं कि समाज के आर्थिक आधार में निर्धारक या प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्ध उन उत्पादन सम्बन्धों के स्थान और महत्व को निर्धारित करते हैं, जो कि उनके मातहत हैं। दो भागों में बांटने का तो कहीं जिक्र ही नहीं है। देखा जा सकता है कि श्यामसुन्दर किस प्रकार मार्क्स के कथन को तोड़-मरोड़कर अपना बचाव करने का प्रयास कर रहे हैं।**

अपनी लफ्फाज़ी को आगे बढ़ाते हुए श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अर्थात् किसी समाज व्यवस्था में मौजूद सभी उत्पादन संबंधों का बराबर का दर्जा नहीं है। कुछ उत्पादन सम्बन्ध हैं जो प्राथमिक हैं, निर्धारक हैं और कुछ दूसरे हैं जो गौण हैं जो निर्धारक उत्पादन संबंधों से निर्धारित होते हैं। प्राथमिक अथवा निर्धारक उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग ही किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के आर्थिक मूलाधार की रचना करते हैं क्योंकि वे उत्पादन संबंध ही उस समाज व्यवस्था की उत्पादन शक्तियों की निश्चित मंजिल के अनुकूल हैं, बाकी बचे सभी अतीत की अर्थव्यवस्थाओं के उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादन विधियां क्योंकि उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के अनुकूल नहीं रह गये हैं **इसलिए *वे उत्पादन संबंध उस विशिष्ट समाज व्यवस्था के मूलाधार का हिस्सा तो नहीं रहते पर समाज की समूची उत्पादन प्रक्रिया के भीतर हैं।*** उदाहरण के तौर पर वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था उत्पादन संबंधों के जिस कुल योग पर आधारित है वह कुल योग खुद पूंजी और श्रम के अन्तरविरोध पर आधारित है और इस कुल योग में आदिवासी उत्पादन और उसके उत्पादन सम्बन्ध शरीक नहीं हो सकते।" **एक पैराग्राफ में कोई इतनी बेवकूफियां कैसे भर सकता है? आइन्स्टीन का कथन सही ही है, मूर्खता की कोई सीमा नहीं होती।** देखें कि श्यामसुन्दर ने यहां क्या जबर्दस्त बन्दरकुद्दी मारी है।

पहली बात तो यह है कि कभी किसी ने यह नहीं कहा कि सभी उत्पादन सम्बन्धों का दर्जा आर्थिक आधार में एक समान है। इसी को हमने पुतला खड़ा करके तीर चलाने की संज्ञा दी है। **दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर के अनुसार निर्धारक उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार का अंग होते हैं, जबकि निर्धारित उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार के बाहर होते हैं और वे 'समाज की समूची उत्पादन प्रक्रिया के आधार के भीतर' होते हैं। यह तो ग़ज़ब है! मतलब कि आर्थिक उत्पादन सम्बन्ध होते हुए भी कुछ उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार में न**

होकर 'समाज की समूची उत्पादन प्रक्रिया' में होते हैं; यानी कि समूची उत्पादन प्रक्रिया का कुछ ही हिस्सा समाज के आर्थिक आधार का हिस्सा होता है और कुछ हिस्सा उसके बाहर होता है; तो फिर समाज की बाकी बची उत्पादन प्रक्रिया कहां होती है? श्यामसुन्दर के आंगन में! तीसरी बात, भारत में आदिवासी उत्पादन व उससे जनित उत्पादन सम्बन्ध (जारवा कबीले जैसे कुछ संरक्षित कबीलों को छोड़ दिया जाय, जिन्हें अभ्यारण्य जैसे स्थानों पर संरक्षित कर दिया गया है) पूंजी की सर्किट से बाहर किसी चयानोवीय स्पेस में नहीं हैं (चयानोव एक रूसी राजनीतिक अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने एक ऐसे आर्थिक स्पेस का सिद्धान्त दिया था जो कि पूंजी की सर्किट से बाहर होते हैं); वास्तव में, आदिवासी क्षेत्रों में आज जो उत्पादन हो रहा है, वह पूंजी के सर्किट के भीतर ही है; साथ ही, आदिम संचय की जो प्रक्रिया आज भारत में जारी है, उसके निशाने पर यह मध्य भारत और पूर्वी मध्य भारत का क्षेत्र ही है, जिसमें आदिवासी आबादी रहती है। निश्चित तौर पर, यहां उत्पादन के विविधतापूर्ण रूप मौजूद हैं, जिनमें हथकरघा से लेकर, छोटा माल उत्पादन, आदि शामिल हैं; लेकिन जैसा कि लेनिन ने 'रूस में पूंजीवाद का विकास' में बताया था, किसी भी समाज में कारखाना उत्पादन का विकास होने के बाद भी ये उत्पादन के क्षेत्र समाप्त नहीं हो जाते और अपने रूप को बदलकर आधुनिक उद्योग के 'आउटसाइड डिपार्टमेण्ट' की भूमिका में आ जाते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि आदिवासी उत्पादन किसी चयानोवीय स्पेस में हो रहा है और उससे जनित उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार का अंग नहीं हैं! **वैसे तो यह बात ही भयंकर मज़ाकिया है कि कुछ उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार के बाहर कहीं अस्तित्वमान होते हैं। लगता है कि बचपन में हमारे दोन किहोते की कोई ट्रेन छूट गयी थी, जिसका उसके बाल मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था!**

इसके बाद श्यामसुन्दर बिना वजह अपने खर्रे के पेज बढ़ाने के लिए माओ का वह उद्धरण देते हैं जिसमें माओ बताते हैं कि हर वस्तु में तमाम अन्तरविरोध होते हैं और उनमें से एक प्रधान अन्तरविरोध होता है जो कि अन्य अन्तरविरोधों को निर्धारित करता है। यही तो हम भी कह रहे हैं! आर्थिक आधार में तमाम किस्म के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, जिनमें से एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका में होते हैं और अन्य उत्पादन सम्बन्धों की गति और स्थान को निर्धारित करते हैं। जब आप ग़ैर-ज़रूरी तौर पर उद्धरणबाज़ी करते हैं तो इसी प्रकार फंस जाते हैं।

इसके आगे श्यामसुन्दर ने फिर से एक ग़ैर-ज़रूरी उद्धरणबाज़ी करते हुए 'उजरती श्रम और पूंजी' की 1891 के संस्करण की एंगेल्स की भूमिका से उद्धृत किया है, जिसमें एंगेल्स बता रहे हैं कि पूंजीवादी समाज में किसी भी माल के समान श्रम-शक्ति भी एक माल होती है और इस श्रम-शक्ति के शोषण के सम्बन्ध ही आज के समाज के आर्थिक ढांचे को निर्धारित करते हैं। **लेकिन यहां भी श्यामसुन्दर एंगेल्स को इरादतन मिस्कोट करते हैं और उनके कथन के ग़लत अनुवाद को भी पेश करते हैं (जो बेशक पहले से उपलब्ध हो सकता है, लेकिन भारत का कोई भी संजीदा मार्क्सवादी जानता है कि मूल अंग्रेज़ी या जिनके पास क्षमता हो मूल जर्मन टेक्स्ट से मिलान के बग़ैर, इन अनुवादों पर भरोसा नहीं किया जा सकता है; वैसे भी कोई संजीदा मार्क्सवादी अनुवाद को पढ़ते समय भांप भी लेता है कि किस जगह अनुवाद ग़लत है; लेकिन क्या आप हमारे दोन किहोते से यह उम्मीद कर सकते हैं?)। श्यामसुन्दर *डॉट्स* का इस्तेमाल करके एंगेल्स को इस प्रकार मिस्कोट करते हैं: "उत्पादन की वर्तमान अवस्था में मानव श्रम-शक्ति दिन भर में न केवल स्वयं अपने मूल्य तथा अपनी लागत से अधिक मूल्य पैदा कर देती है; बल्कि....और आजकल के हमारे पूरे समाज का यही आर्थिक ढांचा है: सभी प्रकार का मूल्य केवल मज़दूर वर्ग ही उत्पन्न करता है। कारण, मूल्य श्रम का ही दूसरा नाम है..." अब हम एंगेल्स का मूल उद्धरण अंग्रेज़ी में आपको दिखलाते हैं:**

"The rock upon which the best economists were stranded, as long as they started out from the value of labour, vanishes as soon as we make our starting-point the value of *labour-power*. Labour-power is, in our present-day capitalist society, a commodity like every other commodity, but yet a very peculiar commodity. It has, namely, the peculiarity of being a value-creating force, the source of value, and, moreover, when properly treated, the source of more value than it possesses itself. In the present state of production, human labour-power not only produces in a day a greater value than it itself possesses and costs; but with each new scientific discovery, with each new technical invention, there also rises the surplus of its daily production over its daily cost, while as a consequence there diminishes that part of the working-day in which the labourer produces the equivalent of his day's wages, and, on the other hand, lengthens that part of the working-day in which he must present labour gratis to the capitalist.

"And this is ***the economic constitution of our entire modern society***. The working class alone produces all values. For value is only another expression for labour, that expression, namely, by which is designated, in our capitalist society of today, the amount of socially necessary labour embodied in a particular commodity. But, these values produced by the workers do not belong to the workers. They belong to the owners of the raw materials, machines, tools, and money, which enable them to buy the labour-power of the working class. Hence, the working class gets back only a part of the entire mass of products produced by it. And, as we have just seen, the other portion, which the capitalist class retains, and which it has to share, at most, only with the landlord class, is increasing with every new discovery and invention, while the share which falls to the working class (per capita) rises but little and very slowly, or not at all, and under certain conditions it may even fall." (Engels, *Introduction, Marx's 'Wage Labour and Capital',* 1891)

श्यामसुन्दर के द्वारा टुकड़ों में पेश किये गये उद्धरण की मूल अंग्रेज़ी के उद्धरण से मिलान कीजिये। श्यामसुन्दर ने गलत उद्धृत करने के बाद ग़लत मतलब भी निकाला है। श्यामसुन्दर कहते हैं: "एंगेल्स ने कितने संक्षेप और सारगर्भित ढंग से लिखा कि आजकल के हमारे पूरे समाज का यानी पूंजीवादी समाज का *आर्थिक ढांचा* श्रमशक्ति नामक वह माल है जिसका विशिष्ट गुण यह है कि वह अपने मूल्य से अधिक मूल्य पैदा करता

है।" **पहली बात तो यह है कि एंगेल्स ने श्रमशक्ति को आर्थिक ढांचा नहीं कहा है और वैसे भी श्रमशक्ति एक उत्पादक शक्ति होती है, जिसके आधार पर विशिष्ट प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की रचना होती है, जो कि उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग यानी कि आर्थिक आधार में प्रभुत्वशील भूमिका निभाते हैं। दूसरी बात, एंगेल्स ने आर्थिक संघटन (economic constitution) शब्द का इस्तेमाल किया है, न कि आर्थिक ढांचे का। जैसा कि आप देख सकते हैं कि हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते के *मूर्खतापूर्ण सयानेपन* में पहले चरण में सयानेपन ने प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका निभाई है, जब उसने एंगेल्स को मिस्कोट किया है; और फिर अगले चरण में उसके *मूर्खतापूर्ण सयानेपन* में मूर्खता ने प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका निभाई है, जबकि गलत उद्धृत करके भी वह उद्धरण का मतलब नहीं समझ पाया है। इसे श्यामसुन्दर की मूर्खतापूर्ण बेईमानी का नाम हमने इसीलिए दिया है।**

ख़ैर, इसके बाद श्यामसुन्दर यह नतीजा निकालते हैं: "यही (यानी श्रमशक्ति) पूंजीवादी समाज का प्रधान अन्तरविरोध है क्योंकि पूंजी श्रमशक्ति के इसी विशिष्ट गुण का लाभ उठाते हुए आगे बढ़ती है। इसी प्रधान अन्तरविरोध यानी श्रम और पूंजी के अन्तरविरोध से पैदा होने वाले उत्पादन संबंधों का कुल योग पूंजीवादी समाज के मूलाधार यानी आर्थिक ढांचे का निर्माण करता है जो ढांचा अतीत की व्यवस्थाओं के बचे अवशेषों की नियति को निर्धारित करता है।" **और अगर ये अवशेष उत्पादन सम्बन्धों के धरातल पर होते हैं, तो वे कहां होते हैं? श्यामसुन्दर के अनुसार, वह समाज की 'समूची उत्पादन प्रक्रिया' में होते हैं! और ये 'समूची उत्पादन प्रक्रिया' कहां होती है? कुछ आर्थिक आधार में होती है, और कुछ श्यामसुन्दर के बक्से में! यह है इन महाशय की तर्क-पद्धति! क्या ऐसी अर्द्धपागलपन वाली बातें करने वाले व्यक्ति को कोई गम्भीरता से ले सकता है?** यही कारण है कि हम अपने इस जवाब के बाद इस प्रचण्ड मूर्खता से इंगेज करने का कोई इरादा नहीं रखते हैं। लेकिन पिक्चर अभी बाकी है मेरे दोस्त!

शासक वर्ग और आर्थिक आधार के बीच के सम्बन्ध के बारे में श्यामसुन्दर के "विचित्र किन्तु सत्य" विचार

आगे श्यामसुन्दर जो लिखते हैं, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति यही कह सकता है: "विचित्र किन्तु सत्य!" आप स्वयं देखें: "वैसे भी, **पूंजीपति वर्ग ही क्योंकि पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा यानी पूंजीवादी समाज की नींव तैयार करता है** इसलिए यह संभव ही नहीं है कि वह पूंजीवादी समाज की नींव में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के इलावा अतीत की किसी अन्य समाज व्यवस्था की नींव के उत्पादन संबंधों को शामिल करे।" **मतलब कि पहले पूंजीपति वर्ग कहीं से आता है और फिर पूंजीवादी आर्थिक आधार का निर्माण सामन्ती आर्थिक आधार के भीतर करता है और इसके लिए वह चुन-चुनकर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध छांटता है और सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को बीन-बीनकर बाहर कर देता है; लेकिन यह पूंजीपति वर्ग किस गुफा में बैठा हुआ था, जिससे एक दिन सुबह अंगड़ाई लेते हुए वह निकलता है और फिर छांट-छांटकर पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध इकट्ठा करता है और फिर पूंजीवादी आर्थिक आधार को बनाना शुरू करता है? श्यामसुन्दर की गुफा के पड़ोस वाली गुफा में!** आगे श्यामसुन्दर कहते हैं कि जब सामन्ती मूलाधार के भीतर पूंजीवादी मूलाधार अधिक शक्तिशाली होता है, तो वह सामन्ती मूलाधार को ध्वस्त कर देता है। यह साबित करने के लिए वह एक बार फिर से एंगेल्स को मिस्कोट करते हैं; यह दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र तो फ्रेडरिक एंगेल्स के एकदम पीछे ही पड़ गया है! इस मिस्कोटिंग पर हम बाद में आते हैं, लेकिन पहले श्यामसुन्दर के उपरोक्त उद्धरण पर ही थोड़ी और बात कर

लेते हैं। यह पूरी समझदारी एक मूर्खतापूर्ण युवा हेगेलीय मनोगतवादी समझदारी का भी अतिमूर्खतापूर्ण संस्करण है। अब देखते हैं कि उत्पादन सम्बन्धों, आर्थिक आधार और वर्ग के पैदा होने की प्रक्रिया के बारे में मार्क्सवादी समझदारी क्या है:

"***Incidentally, if the bourgeoisie is politically, that is, by its state power, 'maintaining injustice in property relations', it is not creating it.*** The 'injustice in property relations' which is determined by the modern division of labour, the modern form of exchange, competition, concentration, etc., by no means arises from the political rule of the bourgeois class, but vice versa, ***the political rule of the bourgeois class arises from these modern relations of production*** which bourgeois economists proclaim to be necessary and eternal laws. If therefore the proletariat overthrows the political rule of the bourgeoisie, its victory will only be temporary, only an element in the service of the bourgeois revolution itself, as in the year 1794...Men build a new world for themselves, not from the "treasures of this earth"...but from the historical achievements of their declining world. In the course of their development they first have to produce the material conditions of a new society itself, and no exertion of mind or will can free them from this fate." (Karl Marx, "Moralising Criticism and Critical Morality. A Contribution to German Cultural History. Contra Karl Heinzen", Karl Marx and Frederick Engels, *Collected Works, Vol. 6* (Moscow: Progress Publishers, 1976) p. 319-20)

बड़ी विडम्बना की बात है कि मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी बताना पड़ रहा है। शासक वर्ग आकर आर्थिक आधार का निर्माण नहीं करता है, बल्कि वह स्वयं उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध की गति से पैदा होने वाले नये आर्थिक आधार से स्वयं पैदा होता है, अपने ध्रुवीय विपरीत के साथ, यानी शासित वर्ग या वर्गों के साथ। श्यामसुन्दर का आर्थिक आधार के निर्माण का सिद्धान्त वैसा ही सिद्धान्त है जो कि जाति के उद्भव के बारे में अम्बेडकर ने दिया था: ब्राह्मणों ने जाति व्यवस्था को अपनी सजातीय विवाह की प्रथा से जन्म दिया; लेकिन फिर सवाल उठता है कि ब्राह्मणों को किसने पैदा किया; उसी प्रकार, श्यामसुन्दर कहते हैं कि पूंजीपति वर्ग ने पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा बनाया; लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि पूंजीपति वर्ग को किसने बनाया! आप देख सकते हैं कि किस प्रकार हमारा बिल्ला एक बार फिर से अपने ही ऊन के गोले में उलझ कर रह गया है।

अब देखते हैं कि श्यामसुन्दर ने एक बार फिर एंगेल्स को किस प्रकार मिस्कोट किया है। यह है श्यामसुन्दर द्वारा पेश उद्धरण: "अब इस बात को प्राय: सभी मानने लगे हैं कि समाज का मौजूदा ढांचा आज के शासक वर्ग, पूंजीपति वर्ग ने ही तैयार किया है। जो उत्पादन प्रणाली पूंजीपति वर्ग के लिए विशिष्ट है, जो मार्क्स के समय से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के नाम से जानी जाती है, वह सामंती व्यवस्था से मेल नहीं खाती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों, पूरी सामाजिक श्रेणियों तथा स्थानीय निगमों को दिए जाने वाले जिन

विशेषाधिकारों, और ऊंच-नीच के जिन जन्मजात संबंधों से सामन्ती समाज का ढांचा बनता था, उनसे पूंजीवादी-उत्पादन प्रणाली का कोई सामंजस्य न था। इसलिए पूंजीपति वर्ग ने सामंती व्यवस्था को ढहा दिया और उसके खंडहरों पर पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया..." इसका श्यसामसुन्दर ने क्या मतलब निकाला है? श्यामसुन्दर के अनुसार, एंगेल्स ने यह कहा है कि पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा पूंजीपति वर्ग ने तैयार किया है! क्यों? **क्योंकि श्यामसुन्दर ने गलत अनुवाद पेश किया है और अंग्रेज़ी मूल नहीं देखा है।** अंग्रेज़ी में जिस शब्द को यहां 'समाज का मौजूदा ढांचा' कहा है वह है: existing social order. पूरा उद्धरण एक बार अंग्रेज़ी में देख लेते हैं:

"It is now pretty generally conceded that ***the existing social order*** is the creation of the ruling class of today, of the bourgeoisie. The mode of production peculiar to the bourgeoisie, which since Marx has been called the capitalist mode of production, was incompatible with the local privileges and the privileges of estate as well as with the reciprocal personal ties of the feudal system. The bourgeoisie shattered the feudal system and on its ruins built the *bourgeois social order*, the realm of free competition, of freedom of movement, of equal rights for commodity owners and all the glories of capitalism. The capitalist mode of production could now develop freely."

क्या social order का अर्थ economic base है, या उत्पादन पद्धति अथवा उत्पादन सम्बन्ध है? नहीं। यह समाज के वर्गों के पदानुक्रम की सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द है, जैसा कि इस उद्धरण में ही एंगेल्स स्वयं स्पष्ट करते हैं, जहां वे पुरानी सामन्ती विशेषाधिकारों और जागीरों पर आधारित विशेषाधिकारों की व्यवस्था को बुर्जुआ वर्ग द्वारा नष्ट किये जाने की बात करते हैं। स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर ग़लत अनुवाद पेश करने की अपनी बेईमानी का फिर से प्रदर्शन कर रहे हैं। एंगेल्स का इसी रचना से निम्न उद्धरण देखें:

"The materialist conception of history starts from ***the principle that production and, next to production, the exchange of things produced, is the basis of every social order;*** that in every society that has appeared in history, the distribution of wealth and with it the division of society into classes or estates are dependent upon what is produced, how it is produced, and how the products are exchanged. Accordingly, the ultimate causes of all social changes and political revolutions are to be sought, not in men's brains, not in their growing insight into eternal truth and justice, but in changes in the modes of production and exchange. They are to be sought, not in the *philosophy*, but in the *economics* of each particular epoch. **The growing recognition that existing social institutions are irrational and unjust, that reason has become unreason, and**

kindness a scourge, is only a sign that ***changes in the modes of production and exchange have silently been taking place with which the social order adapted to earlier economic conditions is no longer in keeping.***"

जैसा कि आप उद्धरण को पढ़कर ही समझ सकते हैं, सामाजिक व्यवस्था (social order) से एंगेल्स का अर्थ है समूची सामाजिक वर्ग व्यवस्था जो कि आर्थिक आधार और उत्पादन पद्धति में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप ही बदलती है। **एक तो श्यामसुन्दर पूरी रचना पढ़ते नहीं, ऊपर से विषय-सूची से छांटकर जो पढ़ते हैं वह समझते नहीं और उसके भी ऊपर से तुर्रा यह कि हमेशा तर्जनी उठाकर ओसामा बिना लादेन के समान उपदेश देते रहते हैं!** देखिये वह उपरोक्त मूर्खता करने के बाद क्या नसीहत दे रहे हैं: "अ़डियल रवैये से मुक्त कोई भी व्यक्ति एंगेल्स के इस उद्धरण से भली भांति समझ सकता है कि सामंती समाज का ढांचा जो ऊंच-नीच वाले जन्मजात संबंधों पर आधारित होता है उसका पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से कोई सामंजस्य नहीं रहता है इसलिए पूंजीपति वर्ग सामंती उत्पादन व्यवस्था को ढहाकर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को स्थापित करता है।" **देखिये, अब इन्होंने सामाजिक व्यवस्था को उत्पादन प्रणाली के साथ गड्डु-मड्डु कर दिया है! पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को नहीं पैदा करता है महोदय, वह स्वयं इससे पैदा होता है और फिर ऐसे सामाजिक ढांचे का निर्माण करता है जो कि इस आर्थिक आधार की हिफ़ाज़त करता है, उसके उत्तरोत्तर विकास को त्वरण देता है और उसके अनुरूप होता है।** श्यामसुन्दर फिर से वही अहमकाना सवाल पूछते हैं कि पूंजीपति वर्ग सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को उस मूलाधार का अंग क्यों बनायेगा जिसकी वह रचना करता है: "जब पूंजीपति वर्ग सामंती उत्पादन संबंधों पर आधारित सामंती समाज को नष्ट ही इस कारण से करता है कि सामंती उत्पादन संबंध पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुकूल नहीं है तो फिर ऐसे सामंती उत्पादन संबंधों को वह अपनी विशिष्ट शोषण की उत्पादन प्रणाली के मूलाधार यानी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा कैसे बना सकता है?" किस प्रकार का मूर्खतापूर्ण प्रश्न है यह? खैर, इस मूर्खता का हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं।

अब देखते हैं कि किस प्रकार श्यामसुन्दर को यह समझ नहीं आया है कि सहयोजन (co-option) और समायोजन (adjustment) का क्या अर्थ है। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "यह बात दूसरी है कि यदि किसी पूंजीवादी व्यवस्था में शासक पूंजीपति वर्ग के समझौतावादी होने के कारण सामंती व्यवस्था के अवशेष बचे रह जाएं तो ज़रूर ही वह उनका उपयोग अपने हितों के लिए करेगा, चाहे आप इसे अवशेषों का समायोजित करना कहा, चाहे सहयोजित करना कहो, चाहे तंतुबद्धीकरण करना कहो, ये अवशेष, अवशेष ही कहलाएंगे क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली इन सामंती अवशेषों पर आधारित हो ही नहीं सकती।" **जैसा कि आप देख सकते हैं, श्यामसुन्दर किसी भी द्वन्द्वात्मक अवधारणा को समझने की क्षमता से अन्तर्निहित तौर पर वंचित व्यक्ति हैं। कठमुल्लावाद से पोढ़ा चुके उनके दिमाग़ में सूत्रों के अतिरिक्त कुछ नहीं जाता। जैसा कि हम जानते हैं सूत्रों और श्रेणियों के प्रति आग्रह और उनके अनुसार यथार्थ का सृजन करने के प्रयास के लिए मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' में प्रूधों की खिल्ली उड़ाई थी। समायोजित, सहयोजित और तंतुबद्धीकरण करने की अवधारणा एक द्वन्द्वात्मक अवधारणा है, जिसका अर्थ साधारण योग करना नहीं है। यह बताता है कि किस प्रकार नयी उत्पादन व्यवस्थाएं पुराने आर्थिक रूपों, परिघटनाओं व कारकों (जो कि उत्पादन सम्बन्ध का अंग ही होते हैं, न कि किसी श्यामसुन्दरीय ईथरजगत में मौजूद होते हैं) को *अपने अनुसार* समायोजित और सहयोजित करते हैं।** उन्नत पूंजीवादी देशों में भी विविध प्रकार के अस्वतन्त्र श्रम रूपों की आज तक मौजूदगी, 1860 से पहले

संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में पूंजीवादी दास श्रम की उपस्थिति यही दिखलाती है। लेकिन श्यामसुन्दर कहेंगे कि ये श्रम रूप आर्थिक आधार का अंग नहीं हैं, बल्कि उनके 'समूचे भौतिक उत्पादन' के ईथर जगत में विचरण कर रहे हैं! क्या प्रचण्ड मूर्खता है?

दो आधारों के श्यामसुन्दरीय सिद्धान्त को साबित करने के लिए एंगेल्स के विचारों के साथ श्यामसुन्दर की बदसलूकी

आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं: "वह (अभिनव सिन्हा, यानी, मैं) सभी आर्थिक संबंधों और कारकों को निश्चित मंजिल वाली किसी विशिष्ट अर्थव्यवस्था के आर्थिक आधार का ही अंग बना देते हैं। *वे इस बात में कोई भेद नहीं करते कि **उत्पादन की समूची प्रक्रिया** के आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों का दायरा किसी निश्चित समाज व्यवस्था के **आर्थिक ढांचे** यानी उसके अनुरूप उत्पादन संबंधों के कुल योग का दायरा, दो अलग-अलग चीज़ें हैं। सामाजिक उत्पादन की समूची प्रक्रिया जिन आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों पर टिकी है, उनका दायरा बहुत ही व्यापक है और किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का दायरा उसकी तुलना में छोटा और सीमित है तथा उस व्यापक दायरे के भीतर है।*" **मतलब एक दायरा समस्त आर्थिक संबंधों का है और उसके भीतर एक छोटा सा और सीमित दायरा आर्थिक आधार का है! क्या इसके बारे में कुछ और कहने की ज़रूरत है? मतलब, अब मार्क्सवाद में श्यामसुन्दर ने एक इज़ाफ़ा कर दिया है: समूची सामाजिक-आर्थिक परिघटना के मार्क्स व एंगेल्स ने दो अंग बताये थे: एक आर्थिक आधार, जो कि समस्त मानवीय जीवन के उत्पादन और पुनरात्पादन की प्रक्रिया में बनने वाले सम्बन्धों से बनता है, जो कि स्वयं उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुसार और उत्पादन पद्धति के अनुसार बनते हैं; दूसरा है इस आर्थिक आधार पर खड़ी राजनीतिक, विचारधारात्मक, सांस्कृतिक अट्टालिका जिसका इस आर्थिक आधार से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है; एक ओर वह इसकी सेवा भी करती है, वहीं उसका इससे अन्तरविरोध भी होता है; *लेकिन श्यामसुन्दर बताते हैं कि समूची सामाजिक-आर्थिक परिघटना को केवल इन दो विश्लेषणात्मक रूपकों से नहीं समझा जा सकता है! एक तीसरा रूपक श्यामसुन्दर देते हैं और वह है 'उत्पादन की समूची भौतिक प्रक्रिया' जो बहुत व्यापक होती है और जिसका केवल एक हिस्सा आर्थिक आधार होता है।* अगर यह नयी खोज नहीं है, तो श्यामसुन्दर को समूचे मार्क्सवादी साहित्य से इसके समर्थन में कम-से-कम एक उद्धरण *ईमानदारी से* पेश करना चाहिए था। लेकिन जब आपको झूठ बोलना हो, तो ईमान वगैरा की बातें बेकार हैं। आगे श्यामसुन्दर ने फिर से एंगेल्स के ऊपर अपनी हताशा का गुस्सा उतार दिया है; मतलब, एक बार फिर से अपनी मिस्कोटिंग और ग़लत अनुवाद पेश करने का निशाना एंगेल्स को बनाया है। वह कहते हैं कि हमने एंगेल्स के जिस पत्र को अपने पिछले जवाब में उद्धृत करते हुए बताया था कि एंगेल्स ने नस्ल को भी एक आर्थिक कारक कहा है, उसी में एंगेल्स ने ऐसे आर्थिक कारक गिनाए हैं, जो कि आर्थिक आधार से बाहर हैं और जिनका दायरा बहुत व्यापक है। इसके लिए उन्होंने एक बार फिर से ग़लत अनुवाद पेश किया है और मिस्कोट किया है। यहां पर वह एंगेल्स के पूरे उद्धरण में जहां कहीं 'economic conditions' शब्द आया है, उसे 'आर्थिक संबंध' के रूप में परिभाषित करते हैं। यह सीधे-सीधे बेईमानी और अनैतिकता नहीं है, तो और क्या है?**

आइये, देखें कि एंगेल्स के पत्र में क्या लिखा है और आर्थिक स्थितियों अथवा conditions of production से उनका और मार्क्स का क्या अर्थ है। पहले तो एंगेल्स के उपरोक्त पत्र के उस हिस्से को ही हम मूल अंग्रेज़ी में देख लेते हैं ताकि समझ सकें कि श्यामसुन्दर ने किस प्रकार economic conditions को 'आर्थिक संबंध' के रूप में पेश करके बौद्धिक बेईमानी का सबूत दिया है:

"What we understand by the ***economic conditions***, which we regard as the determining basis of the history of society, are *the methods by which human beings in a given society produce their means of subsistence and exchange the products* among themselves (in so far as division of labour exists). Thus the *entire technique* of production and transport is here included. According to our conception this technique also determines the method of exchange and, further, the division of products, and with it, after the dissolution of tribal society, the division into classes also and hence the relations of lordship and servitude and with them the state, politics, law, etc. Under ***economic conditions*** are further included the geographical basis on which they operate and those remnants of earlier stages of economic development which have actually been transmitted and have survived – often only through tradition or the force of inertia; also of course the external milieu which surrounds this form of society."

जैसा कि हम देख सकते हैं, एंगेल्स यहां आर्थिक स्थितियों की बात कर रहे हैं, जिसके लिए उन्होंने और मार्क्स ने अपने लेखन में तमाम स्थानों पर 'उत्पादन की स्थितियों' का प्रयोग भी किया है। अब देखते हैं कि मार्क्स का इन शब्दों से क्या अर्थ है। 'पूंजी' के पहले खण्ड में मार्क्स लिखते हैं:

"Here, indeed, the money-form - and the relation between creditor and debtor does have the form of a money-relation - was only the reflection of an antagonism which lay deeper, *at the level of the economic conditions of existence.*" (Marx, *Capital, Vol-I)*

इसी प्रकार 'पूंजी' के दूसरे खण्ड में मार्क्स लिखते हैं:

"The capital relation arises only in the production process because it exists implicitly in the act of circulation, in the basically different *economic conditions* in which buyer and seller confront one another, in their class relation." (Marx, *Capital, Vol-II)*

'पूंजी' के ही तीसरे खण्ड में मार्क्स लिखते हैं:

"Any actual improvement in the raw material, so that not only the required quantity was supplied, but also the required quality, for instance American-quality cotton from India, would necessitate a regular and steady rise in European demand over a long period (quite apart from the *economic conditions* to which Indian production is subject in its own country)." (Marx, *Capital, Vol-III)*

जैसा कि हम देख सकते हैं, मार्क्स और एंगेल्स जब 'आर्थिक स्थितियों' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अर्थ होता है वे आम भौतिक *स्थितियां* जिसमें कि मनुष्य अपने जीवन के उत्पादन व पुनरुत्पादन को अंजाम देते हैं। उत्पादन के साधन इन आर्थिक स्थितियों में से एक हैं और सबसे महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए मार्क्स ने 'पूंजी' और 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' में कई स्थानों पर आम तौर पर उत्पादन के साधनों के लिए 'उत्पादन की स्थितियों' शब्द का प्रयोग भी किया है और साथ ही आम तौर पर 'आर्थिक स्थितियों' के अर्थ में भी 'उत्पादन की स्थितियों' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे कि यह उद्धरण:

"Socially necessary labour-time is the labour-time required to produce any use-value under the *conditions of production* normal for a given society and with the average degree of skill and intensity of labour prevalent in that society." (Marx, *Capital, Vol-I)*

इसी प्रकार, मार्क्स ने 'पूंजी' में दो शब्दों का प्रयोग किया है जिससे कि उन्होंने उत्पादन की प्राकृतिक स्थितियों और सामाजिक स्थितियों को दिखलाया है: natural conditions of production और social conditions of production; ये दोनों ही कुल मिलाकर आम तौर पर 'आर्थिक स्थितियां' या 'उत्पादन की स्थितियां' कहलाती हैं। 'पूंजी' से ही ऐसे और भी कई उद्धरण दिये जा सकते हैं, लेकिन उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अब ज़रा देखिये कि इस शब्द economic conditions का श्यामसुन्दर ने क्या अर्थ निकाला है! उनके अनुसार, इसका अर्थ है 'आर्थिक संबंध'! मतलब, कौन-सी भाषा और कौन-से देश में! और यह ग़लत मतलब निकाल कर आगे श्यामसुन्दर ने कई पन्ने काले कर दिये हैं। इसके लिए भोजपुरी में एक शब्द होता है: 'थेथरई करना'। देखिये यह महोदय एक ग़लत अनुवाद करके, एंगेल्स को मिस्कोट करके और उसका ग़लत अर्थ पेश करके क्या नतीजा निकालते हैं: "एंगेल्स द्वारा ऊपर गिनाये गये *आर्थिक संबंधों व आर्थिक कारकों* का दायरा उत्पादन के संबंधों के दायरे से कितना व्यापक है इसे बड़ी आसानी से कोई भी समझ सकता है। समाज के चारों ओर व्याप्त बाह्य परिवेश का दायरा भी *आर्थिक संबंधों* की श्रेणी में गिनाया गया है लेकिन यह मानव-मानव के बीच उत्पादन संबंध तो नहीं है। इसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियां और नस्ल भी *आर्थिक कारक अथवा आर्थिक संबंध* तो हैं लेकिन उत्पादन के संबंध तो नहीं।" तरस आता है कि हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते को कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं। पहली बात तो बाह्य परिस्थितियों को आर्थिक संबंध नहीं आर्थिक स्थितियां बताया गया है; दूसरी बात, नस्ल यदि मनुष्य और मनुष्य के बीच का सम्बन्ध नहीं है तो अण्डे और डण्डे के बीच का सम्बन्ध है; और यदि यह मनुष्य और मनुष्य के बीच का सम्बन्ध है और एक आर्थिक कारक (economic factor) है, तो फिर यह उत्पादन सम्बन्ध का अंग ही है। एंगेल्स यहां यही स्पष्ट कर रहे हैं। लेकिन अब श्यामसुन्दर जी फंस गये हैं और उन्हें साबित करना है कि आर्थिक आधार के बाहर भी कुछ उत्पादन सम्बन्ध पड़े रह गये हैं, जो कि 'समाज की समूची उत्पादन प्रक्रिया' या 'भौतिक प्रक्रिया' में आते हैं, मगर आर्थिक आधार में नहीं, तो फिर उन्हें कभी सिर के बल खड़ा होना पड़ रहा है, कभी हाथों के बल चलना पड़ रहा है! वाकई तरस आता है कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के लिए एक इतने वरिष्ठ व्यक्ति को क्या-क्या करतब दिखाने पड़ रहे हैं। **लेकिन विज्ञान तो विज्ञान होता है; आप अपनी आत्मरक्षा में उसे तोड़े-मरोड़ेंगे तो वह आपको अच्छी तरह से तोड़-मरोड़ और निचोड़ देगा।**

इसके बाद, इसी ग़लत अनुवाद के आधार पर पूरा पृष्ठ 38 श्यामसुन्दर ने बरबाद कर दिया है, कि "economic conditions=आर्थिक संबंध"! इसी हिस्से में वह लिखते हैं: "बिन्दु (क) में एंगेल्स ने जिन आर्थिक संबंधों की बात की है असल में वे वहीं उत्पादन संबंधों का कुल योग हैं जो उत्पादन की किसी विशिष्ट पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और बिन्दु (ख) में दर्शाया है कि उत्पादों की विनिमय और वितरण पद्धति उत्पादन पद्धति से स्वतन्त्र नहीं बल्कि उसी पर आधारित होती है।" पहली बात तो यह है कि एंगेल्स ने अपने पैराग्राफ को किन्हीं बिन्दुओं में नहीं बांटा है, यह श्यामसुन्दर की कारस्तानी है। दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर ने समझा ही नहीं है जिसे वह बिन्दु (क) और (ख) कह रहे हैं, उसमें एंगेल्स ने क्या लिखा है। यह देखिये: "(क) आर्थिक संबंधों (economic conditions का श्यामसुन्दर द्वारा पेश ग़लत अनुवाद; इसलिए इसे आर्थिक स्थितियां पढ़ें) से, जिन्हें हम समाज के इतिहास का निर्णायक आधार मानते हैं, हमारा अभिप्राय वह विधि है, जिसमें समाज के विशेष लोग अपने जीवन निर्वाह के साधनों को उत्पादित करते हैं और एक दूसरे के साथ उत्पादों का विनिमय करते हैं (जहां तक कि समाज में श्रम-विभाजन का अस्तित्व है)। इस प्रकार उसमें उत्पादन तथा परिवहन की सारी तकनीक शामिल है।" (कृपया इस अनुवाद का मिलान हमारे द्वारा ऊपर अंग्रेजी मूल के उद्धरण से कर लें!)

यहां एंगेल्स उत्पादन के साधनों व आम तौर पर सामाजिक उत्पादक शक्तियों या उत्पादन की सामाजिक स्थितियों की बात कर रहे हैं, लेकिन जैसा कि आप देख सकते हैं श्यामसुन्दर ने इसे उत्पादन संबंधों का कुल योग, यानी, आर्थिक आधार समझ लिया है। अब देखें कि श्यामसुन्दर द्वारा बनाये गये बिन्दु (ख) में एंगेल्स ने क्या लिखा है: "हमारी अवधारणा के अनुसार यही तकनीक विनिमय पद्धति को भी और उत्पादों के वितरण को भी निश्चित करती है।" श्यामसुन्दर को लगता है कि 'तकनीक' ही उत्पादन पद्धति होती है; निश्चित तौर पर, यह तकनीक ही उत्पादन पद्धति के स्वरूप को निर्धारित करती है; लेकिन उत्पादन की तकनीक ही उत्पादन पद्धति नहीं है। इस तरह की सारी मूर्खताओं की बात करें, तो हमारा उत्तर पुस्तक बन जायेगा, लेकिन उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अन्त में, अपने ग़लत अनुवाद, उसकी ग़लत व्याख्या के आधार पर श्यामसुन्दर इस तरह से एक घोषणा करते हैं, मानो अपने कार्यकर्ताओं से कह रहे हों: "देखो! मैंने साबित कर दिया कि मैं सही और बिगुल वाले ग़लत हैं।" यह इतने हड़बोंग और जल्दबाज़ी में की गयी घोषणा है कि इसका वाक्य विन्यास भी ग़लत है, लेकिन अभी हम श्यामसुन्दर की लचर भाषा का जिक्र नहीं करेंगे। ज़रा इस घोषणा पर ग़ौर करें : "अब अभिनव सिन्हा को किसी विशिष्ट उत्पादन पद्धति की उत्पादक शक्तियों के अनुरूप उन उत्पादन संबंधों के कुल योग जो उस विशिष्ट उत्पादन पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और अतीत की अवस्थाओं की उत्पादन पद्धतियों के अवशेष के रूप में बचे उत्पादन सम्बन्धों (जो सामाजिक उत्पादन की समूची भौतिक प्रक्रिया के आधार में तो विद्यमान हैं पर मौजूदा विशिष्ट उत्पादन पद्धति के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का अंग नहीं में अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिए।" यह पूरा नतीजा श्यामसुन्दर द्वारा मिस्कोटिंग, ग़लत अनुवाद, ग़लत व्याख्या और उसका भी ग़लत अर्थ निकाले जाने पर आधारित है, जैसा कि हम मूल अंग्रेज़ी स्रोत ऊपर पेश करके दिखला चुके हैं, लेकिन यहां श्यामसुन्दर ने एक और अनोखा आविष्कार किया है, जो उनकी पुरानी मूर्खताओं का ही और अधिक मूर्खतापूर्ण विस्तार है। **इन महोदय के अनुसार, समाज में दो आधार हैं: एक तो आर्थिक आधार है जिसमें निर्धारक उत्पादन सम्बन्ध हैं और दूसरा 'सामाजिक उत्पादन की समूची भौतिक प्रक्रिया का आधार' है, जिसमें निर्धारित उत्पादन सम्बन्ध रहते हैं। क्या कोई भी मार्क्सवाद पढ़ने वाला संजीदा व्यक्ति इन महाशय को गम्भीरता से ले सकता है? इनकी हास्यास्पदता अब हिमालयन सीमाओं का अतिक्रमण कर रही है। इसीलिए हमने इन्हें 'दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र' कहा है।**

पृष्ठ 39 पर भी श्यामसुन्दर ने अपना यही मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त जारी रखा है कि अधीनस्थ उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार से बाहर होते हैं! वह लिखते हैं: "किसी समाज व्यवस्था के प्रभुत्वशाली उत्पादन संबंधों का कुल योग ही उस व्यवस्था के आर्थिक ढांचे को निर्मित करते हैं और इसका निर्धारण करते हैं कि उस व्यवस्था से बेमेल जो उत्पादन संबंध बचे हुए हैं उनका स्थान और नियति क्या होगी। यदि अधीनस्थ दर्जे के उत्पादन संबंध खुद भी उस विशेष समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा होते तो उन्हें प्रभुत्वशाली उत्पादन संबंधों द्वारा सहयोजित और समायोजित करने की ज़रूरत ही न पड़ती।" **यहां फिर से श्यामसुन्दर ने दिखलाया है कि उन्हें सहयोजन और समायोजन का अर्थ ही नहीं पता है। प्रश्न यह है कि सहयोजित और समायोजित होने के बाद ये अधीनस्थ उत्पादन सम्बन्ध श्यामसुन्दर द्वारा बनाये गये दूसरे आर्थिक आधार (यानी 'समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार') में क्यों रहेंगे**? सहयोजन और समायोजन का अर्थ ही यही है कि पुराने आर्थिक रूपों को नयी उत्पादन पद्धति के अनुसार पुन: ढाला (remould) किया जाय; मार्क्स ने इसी को निर्धारक उत्पादन सम्बन्धों द्वारा निर्धारित उत्पादन सम्बन्धों के स्थान और महत्व को निर्धारित करना कहा है। यदि इन निर्धारित उत्पादन सम्बन्धों को श्यामसुन्दर द्वारा रचे गये दूसरे आधार में निवास करना है, तो फिर सहयोजन और समायोजन या उनके महत्व को निर्धारित किये जाने की कोई प्रासंगिकता और अर्थ ही नहीं है। एक बार फिर से हमारा बिल्ला अपने ऊन के गोले में उलझा हुआ पाया गया है!

आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की प्रभुत्वशीलता के मातहत कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के तन्तुबद्धीकरण के विषय में मार्क्स के कुछ और विचार

इससे पहले कि हम लेनिन के उस उद्धरण पर आएं, जिसमें श्यामसुन्दर बहस के मूल मुद्दे से ही पलायन कर गये हैं, आइये पहले मार्क्स के कुछ उद्धरणों पर ग़ौर करें जिसमें मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में आर्थिक आधार में एक प्रकार एक उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व के मातहत अन्य उत्पादन सम्बन्धों के सहयोजन और आर्थिक आधार द्वारा कई प्रकार के रूप अख्तियार किये जाने की चर्चा की है। 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में योगदान' से मार्क्स का एक उद्धरण हमने पिछले जवाब में ही पेश किया था। लेकिन मार्क्स ने कई स्थानों पर इस बात की ओर इंगित किया है। 'दर्शन की दरिद्रता' में मार्क्स लिखते हैं:

"The production relations of society form *a whole*. M Proudhon considers economic relations as so many social phases engendering one another, resulting one from the other ... The only drawback to this method is that when he comes to examine a single one of these phases, M Proudhon cannot explain it without having recourse to all the other relations of society; which relations he has not yet made his dialectical movement engender." (Marx, *Poverty of Philosophy*)

मार्क्स यहां स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि प्रूधों की गलती यह है कि वह समझते हैं कि समाज विकास का हर चरण मात्र एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के आधार से निर्मित होता है, एक चरण से दूसरा चरण निकलता है और एक चरण को स्पष्ट तौर पर दूसरे चरण से इस आधार पर एक विभाजक रेखा से अलग किया जा सकता है । लेकिन जैसे ही प्रूधों वास्तविक सामाजिक यथार्थ का अध्ययन करने ज़मीन पर उतरते हैं, तो पाते

हैं कि वह मौजूदा समाज के आर्थिक सम्बन्धों या किसी भी समाज के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं, तो वह तमाम प्रकार के अन्य सम्बन्धों को सन्दर्भित किये बिना नहीं समझ सकते। एक अन्य उद्धरण पर ग़ौर करें:

"Bourgeois society is the most advanced and complex historical organisation of production. The categories which express its *relations*, and an understanding of *its structure*, therefore, provide an insight into *the structure and the relations of production* of all formerly existing social formations the ruins and *component elements of which were used in the creation of bourgeois society.* **Some of these unassimilated remains are *still carried on within bourgeois society*, others, however, which previously existed. only in rudimentary form, *have been further developed and have attained their full significance,* etc."** (Marx, *A Contribution to the Critique of Political Economy*)

मार्क्स यहां बता रहे हैं कि पिछली सामाजिक संरचनाओं से कई तत्व पूंजीवादी समाज के उत्पादन सम्बन्धों और उसके आर्थिक आधार में सम्मिलित होते हैं; उनमें से कुछ पूंजीवादी आर्थिक आधार में ज्यों के त्यों बने रहते हैं, और कुछ का पूंजीवादी आधार में विकास होता है और वे अपने पूर्ण महत्व को अर्जित करते हैं। मतलब यह कि पूंजीवादी आर्थिक आधार में पुराने उत्पादन सम्बन्ध महज़ पुराने रूप में और योगात्मक रूप में ही शामिल नहीं होते बल्कि अपने स्वरूप को बदलते हुए जैविक रूप में भी शामिल होते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार, ऐसे उत्पादन सम्बन्धों को तो उस दूसरे "आधार" ("समूचे सामाजिक उत्पादन का आधार") में रहना चाहिए था! और देखें, मार्क्स क्या लिखते हैं:

"Since bourgeois society is, moreover, only a contradictory form of development, it contains relations of earlier societies often merely in very stunted form or even in the form of travesties, e.g., communal ownership. **Thus, although it is true that the categories of bourgeois economy are valid for all other social formations, this has to be taken *cum grano salis*, *for they may contain them in an advanced, stunted, caricatured, etc., form,* that is always with substantial differences."** (ibid)

उपरोक्त उद्धरण की आखिरी पंक्ति विशेष तौर पर ग़ौर करने योग्य है। पुरानी सामाजिक संरचनाओं के उत्पादन सम्बन्ध न सिर्फ पिछड़े, अल्पविकसित रूप में मौजूद हो सकते हैं, बल्कि उन्नत रूप में भी पूंजीवादी आधार में मौजूद हो सकते हैं। इसी प्रकार 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में मार्क्स बताते हैं कि किसी भी युग में प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्ध एक ही प्रकार के होते हैं, जो कि उस विधि से निर्धारित होते हैं, जिससे कि प्रत्यक्ष उत्पादन के अधिशेष उत्पादन को शासक वर्ग हस्तगत करता है; लेकिन वास्तविक दुनिया में आर्थिक आधार बहुत से कारकों से प्रभावित होता है और बहुत से परिवर्तन प्रदर्शित करता है। **मार्क्स इन कारकों में से एक के तौर पर नस्लीय सम्बन्धों को भी गिनाते हैं।** मार्क्स लिखते हैं:

"It is always the direct relationship of the owners of the conditions of production to the direct producers— a relation always naturally corresponding to a definite stage in the development of the methods of labour and thereby its social productivity— which reveals the innermost secret, the hidden basis of the entire social structure and with it the political form of the relation of sovereignty and dependence, in short, the corresponding specific form of the state. ***This does not prevent the same economic basis — the same from the standpoint of its main conditions — due to innumerable different empirical circumstances, natural environment, racial relations, external historical influences, etc. from showing infinite variations and gradations in appearance, which can be ascertained only by analysis of the empirically given circumstances.***" (Marx, *Capital, Vol-III*, ज़ोर हमारा)

ग़ौर करें कि मार्क्स यह नहीं कह रहे कि इन कारकों के प्रभाव में "समूचा सामाजिक उत्पादन" प्रभावित होता है; वह स्पष्ट तौर पर कह रहे हैं कि इन कारकों के कारण उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग, यानी आर्थिक आधार प्रभावित होता है। 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में ही मार्क्स एक स्थान पर लिखते हैं कि हम अक्सर यह कल्पना करते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति हमेशा अपनी शुद्धता में विकसित होती है, मगर वास्तव में वह हमेशा पहले की उत्पादन पद्धतियों के बचे रह गये उत्पादन सम्बन्धों को अपने अन्दर सम्मिलित किये होती है; जहां कहीं पूंजीवाद अत्यधिक विकसित होता है, वहां ऐसे उत्पादन सम्बन्ध कम होते हैं, और जहां उसका विकास कम या बाधित होता है, वहां ऐसे सम्बन्ध अधिक मात्रा में होते हैं। एंगेल्स एक स्थान पर लिखते हैं:

"In order to carry out this critique of bourgeois economy completely, an acquaintance with the capitalist form of production, exchange and distribution did not suffice. *The forms which had preceded it or those which still exist alongside it in less developed countries had also, at least in their main features, to be examined and compared.*" (Engels, *Anti-Duhring*)

हमारे पास यहां स्थान का अभाव है, अन्यथा मार्क्स व एंगेल्स के ऐसे दर्जनों उद्धरण पेश किये जा सकते हैं जो दिखलाते हैं कि निर्धारित उत्पादन सम्बन्ध हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते के काल्पनिक "समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार" में नहीं, बल्कि आर्थिक आधार का ही अंग होते हैं; निश्चित तौर पर, वे आर्थिक आधार में निर्धारित भूमिका में होते हैं।

लेनिन का कई उत्पादन सम्बन्धों के तन्तुबद्धीकरण के बारे में उद्धरण और श्यामसुन्दर का बहस के मूल मुद्दे से पलायन

अब लेनिन के उस उद्धरण पर आते हैं जिसके बारे में श्यामसुन्दर का कहना है कि हमने "बौद्धिक चार सौ बिस्सी" की है! श्यामसुन्दर का कहना है कि 'टैक्स इन काइण्ड' के जिस उद्धरण को हमने पेश किया, जिसमें कि लेनिन 1921 की रूसी अर्थव्यवस्था में कई प्रकार के उत्पादन व उनसे जनित उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदगी की बात कर रहे हैं, उसमें वह समाजवादी आर्थिक आधार की चर्चा नहीं कर रहे हैं, बल्कि किसी और आर्थिक आधार की चर्चा कर रहे हैं। वह आर्थिक आधार क्या है, इसका श्यामसुन्दर कोई ज़िक्र नहीं करते। क्योंकि यदि यह आर्थिक आधार पूंजीवादी है, तो फिर श्यामसुन्दर फंस जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही पृष्ठ 44 पर कहा है: "इतना ही नहीं बल्कि कोई विशिष्ट समाज व्यवस्था उस व्यवस्था के अनुरूप उत्पादन संबंधों के समाहार अर्थात् कुल योग के नाम से भी पुकारी जा सकती है। एंगेल्स ने मार्क्स की रचना *उजरती श्रम और पूंजी* का सन 1891 में खुद संपादन करते हुए जो संस्करण निकाला उसमें दो बातें अति स्पष्ट रूप से मिलती हैं जो उत्पादन संबंधों के कुल योग और समाज व्यवस्था की विशिष्ट मंजिल को पर्यायवाची होने के रूप में दर्शाते हैं।" अब इस फार्मुले के अनुसार तो 1920 में सोवियत समाज एक समाजवादी समाज नहीं था; कौन-सा समाज था, इसका जिक्र करना अपने दोन किहोते के लिए कुछ कठिन है, इसलिए वह इस मामले को ही गोल कर गये हैं। हम इस नुक्ते पर अभी थोड़ी देर में फिर आएंगे कि लेनिन समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण के अपूर्ण होने की बात क्यों कर रहे हैं, लेकिन पहले हम थोड़ी देर, माने कि बस मनोरंजन के लिए, अपने दोन किहोते के साथ कुछ खेल खेलते हैं।

चलिये मान लेते हैं कि 1920 में सोवियत समाज समाजवादी समाज नहीं था, बल्कि एक संक्रमणशील समाज था (वैसे तो समूचा समाजवादी दौर ही संक्रमण का दौर होता है और समाजवाद अपने आपमें कोई स्थायित्वपूर्ण सामाजिक संरचना होती ही नहीं है, जो यह घोषणा करती हो कि वही नैसर्गिक और इसलिए अन्तिम व्यवस्था है)। **लेकिन इतना तो श्यामसुन्दर को मानना ही पड़ेगा कि 1920 में भी समाज का कोई आर्थिक आधार था; अभी हम श्यामसुन्दर को यह पूछ कर नहीं छेड़ेंगे या या तंग नहीं करेंगे कि यह आर्थिक आधार कौन-सा था। हम अभी बस इतना ही कहेंगे कि यह कोई भी आर्थिक आधार रहा हो, लेकिन लेनिन तो ठीक इस बात की चर्चा कर रहे हैं कि इसमें कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध हैं, जो कि भिन्न प्रकार के उत्पादनों से पैदा हो रहे हैं। बहस का मूल बिन्दु तो यह था ही नहीं कि हम केवल समाजवादी आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व में कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदगी की बात कर रहे हैं! बहस का मुद्दा तो यह था कि क्या समाज के आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व के मातहत कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध मौजूद होते हैं या नहीं!** लेकिन श्यामसुन्दर ने जानबूझकर बहस को एक दूसरे बिन्दु पर स्थानान्तरित करने की कोशिश की और फिर एक पेज लम्बा उपदेश दिया है जिसमें वह बताते हैं कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध समाज में पहले से ही नहीं बन जाते हैं बल्कि वे राजनीतिक सत्ता पर कब्ज़े यानी की क्रांति के बाद ही बनते हैं। यह बात सभी जानते हैं और हम बहुत पहले से कहते रहे हैं। देखें कि हमने 2013 में ही 'दिशा सन्धान' में क्या लिखा है:

"एक, अगर सुजीत दास समाजवादी और पूँजीवादी दोनों तत्व की मौजूदगी के कारण इस दौर को न तो समाजवादी कहना चाहते हैं और न ही पूँजीवादी, तो फिर पता नहीं वह किस चीज़ को क्या कहना चाहते हैं! क्योंकि समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर की यह ख़ासियत रहेगी ही कि इसमें पूँजीवादी और समाजवादी तत्वों का मिश्रण होगा और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम होगा। समाजवादी संक्रमण के दौर की ख़ासियत ही यही है कि इस दौर में राज्यसत्ता सर्वहारा वर्ग के हाथ में होती है और साथ में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य जारी रहता है। इस मायने में समाजवादी क्रान्तियाँ बुर्जुआ

क्रान्तियों से भिन्न होती हैं। इस बारे में ग्यॉर्गी लूकाच ने लेनिन की अवस्थिति को बहुत सटीक तरीके से संक्षेप में रखा है। लूकाच कहते हैं:

""क्योंकि समाजवाद कभी 'अपने से' नहीं आ सकता है, और न ही किसी अपरिहार्य प्राकृतिक आर्थिक विकास के तौर पर आ सकता है। पूँजीवाद के प्राकृतिक नियम निश्चित तौर पर उसे उसके अन्तिम संकट की तरफ़ ले जाते हैं, लेकिन इसकी राह के अन्त में समस्त सभ्यता का ध्वंस और एक नयी बर्बरता होगी।

""यही वह चीज़ है जो बुर्जुआ और सर्वहारा क्रान्तियों के बीच सबसे गम्भीर अन्तर का कारण है। बुर्जुआ क्रान्तियों की इतनी शानदार जीवन्तता (ब्रिलियण्ट इलान) के साथ आगे बढ़ने की क्षमता के सामाजिक कारण हैं, और वे इस तथ्य में निहित हैं कि वे एक लगभग पूर्ण हो चुकी आर्थिक और सामाजिक प्रक्रिया के परिणामों को एक ऐसे समाज में आगे बढ़ा रहे हैं, जहाँ पूँजीवाद के सशक्त उभार के कारण सामन्ती और निरंकुश ढाँचा राजनीतिक, शासनात्मक, कानूनी, आदि तौर पर पहले ही गहराई से कमज़ोर हो चुका है। वास्तविक क्रान्तिकारी तत्व यहाँ पर सामन्ती उत्पादन व्यवस्था का पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में रूपान्तरण है और इसलिए सैद्धान्तिक तौर पर इस प्रक्रिया का बिना किसी बुर्जुआ क्रान्ति, बिना क्रान्तिकारी बुर्जुआज़ी द्वारा किसी राजनीतिक उथल-पुथल के द्वारा ही पूरा होना सम्भव होगा। उस सूरत में सामन्ती और निरंकुश अधिरचना के वे हिस्से जो 'ऊपर से हुई क्रान्ति' के ज़रिये ख़त्म नहीं किये गये हैं, वे पूँजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने पर स्वयं ही ढह जायेंगे (जर्मन स्थिति इस पैटर्न में बिल्कुल सटीक बैठती है)।

""निस्सन्देह, किसी सर्वहारा क्रान्ति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, अगर उसके आर्थिक आधार और पूर्वशर्तें पूँजीवादी समाज के गर्भ में ही पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के उद्भव के साथ पोषित न हुई हों। लेकिन इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं के बीच विशाल अन्तर इस तथ्य में निहित है कि पूँजीवाद सामन्तवाद के भीतर पहले ही विकसित हो गया था, जो कि अन्त में इसके विघटन को अवश्यम्भावी बना देता है। इसके विपरीत, यह सोचना एक यूटोपियाई फन्तासी होगा कि समाजवाद की ओर अग्रसर कोई भी चीज़ पूँजीवाद के भीतर पैदा हो सकती है, सिवाय इसके कि इसे एक सम्भावना बनाने वाले वस्तुगत आर्थिक आधार निर्मित हो गये हैं, जो कि समाजवादी उत्पादन व्यवस्था के वास्तविक तत्वों में तभी रूपान्तरित हो सकते हैं, जब पूँजीवाद ढह चुका हो और उसके परिणाम सामने आ चुके हों।" (ग्यार्गी लूकाच, 'क्रिटिकल ऑब्ज़र्वेशंस ऑन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग्स "क्रिटीक ऑफ़ दि रशियन रिवोल्यूशन"', हिस्ट्री एण्ड क्लास कांशसनेस, मर्लिन प्रेस, 1967)।

"स्पष्ट है कि समाजवादी क्रान्ति के इस विशिष्ट चरित्र के कारण समाजवादी संक्रमण कोई सुगम-सरल दौर नहीं होता, जो पूँजीवादी संक्रमण जितना छोटा और अबाधित हो। पूँजीवादी संक्रमण दीर्घकालिक नहीं होता और कलम की नोक से पूँजीवादी राज्यसत्ता इसे बहुत छोटे से दौर में पूर्णता पर पहुँचा देती है। लेकिन समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी रूपान्तरण मानव इतिहास की पहली क्रान्ति है जिसमें एक शोषक वर्ग दूसरे शोषक वर्ग की जगह नहीं लेने वाला है, बल्कि इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, यानी सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने वाला है। समाजवादी निर्माण एक सतत् और सघन संघर्ष की प्रक्रिया है जिसमें सर्वहारा वर्ग को अपने अधिनायकत्व के तहत एक-एक करके बुर्जुआ वर्ग से अर्थजगत

और राजनीति के बुर्ज फतह करने होते हैं। यह दौर हमेशा ही एक ऐसा दौर होगा जिसमें आर्थिक आधार और सम्बन्धों में समाजवाद और पूँजीवाद के तत्व मिश्रित होंगे।" (अभिनव सिन्हा, **'सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएं' (पहली किश्त)**, *दिशा सन्धान, अंक-1, अप्रैल-जून, 2013)*

अब आते हैं इस बात पर कि क्या 1920-21 में सोवियत अर्थव्यवस्था का आर्थिक आधार मुख्यत: और मूलत: समाजवादी चरित्र ग्रहण कर चुका था या नहीं। लेनिन ने उपरोक्त लेख में समाजवादी अर्थव्यवस्था के अपूर्ण होने पर बल दिया है कयोंकि देश की अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा क्षेत्र, यानी खेती का क्षेत्र अभी रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम, यानी व्यक्तिगत भोगाधिकार के साथ भूमि का राष्ट्रीकरण से आगे नहीं गया था। यह पुस्तिका 'टैक्स इन काइण्ड' मूलत: किसानों से जिंस के रूप में तय कर लेने के बाद सारे अधिशेष को उनके द्वारा निपटारे के लिए छोड़ दिये जाने की वकालत करती है। इस प्रस्ताव का, जो कि नयी आर्थिक नीति (NEP) का केन्द्रीय बिन्दु था, वामपंथी कम्युनिस्ट विरोध कर रहे थे और यह दलील पेश कर रहे थे कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में यह कैसे सम्भव है कि किसानों और व्यापारियों को मुक्त व्यापार की इजाज़त दी जाय। इसके जवाब में लेनिन ने यह स्पष्ट किया कि अभी अर्थव्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य केवल शुरू हुआ है। खेती के क्षेत्र में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य 1935-36 में सामूहिकीकरण के साथ ही पूरा हुआ। लेकिन उद्योगों का राष्ट्रीकरण 1919-20 में ही पूरा हो चुका था। उद्योग और खानों-खदानों के साथ अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्रों के समाजवादी रूपान्तरण की पहली मंजिल यानी स्वामित्व सम्बन्धों का समाजवादी रूपान्तरण हो चुका था। देखें लेनिन क्या लिखते हैं:

"In Russia, **labour is united communistically insofar as, first, private ownership of the means of production has been abolished, and, secondly, the proletarian state power is organising large-scale production on state-owned land and in state-owned enterprises on a national scale, is distributing labour-power among the various branches of production and the various enterprises, and is distributing among the working people large quantities of articles of consumption belonging to the state.**" (Lenin, *Economics and Politics in the Era of the Dictatorship of the Proletariat)*

इसी लेख में लेनिन लिखते हैं:

"We accomplished instantly, at one revolutionary blow, all that can, in general, be accomplished instantly; **on the first day of the dictatorship of the proletariat, for instance, on October 26 (November 8),1917, the private ownership of land was abolished without compensation for the big landowners— the big landowners were expropriated. Within the space of a few months practically all the big capitalists, owners of factories, joint-stock companies, banks, railways, and so forth, were also expropriated without compensation. The state organisation of large-scale production in industry and the**

transition from "workers' control" to "workers' management" of factories and railways—this has, by and large, already been accomplished; but in relation to agriculture it has only just begun ("state farms", i.e., large farms organised by the workers' state on state owned land)."

आगे लेनिन लिखते हैं:

"Under capitalism the proletariat was an oppressed class, a class which had been deprived of the means of production, the only class which stood directly and completely opposed to the bourgeoisie, and therefore the only one capable of being revolutionary to the very end. **Having overthrown the bourgeoisie and conquered political power, the proletariat has become the *ruling* class; it wields state power, it exercises control over means of production already socialised;** it guides the wavering and intermediary elements and classes; it crushes the increasingly stubborn resistance of the exploiters."

औद्योगिक क्षेत्र ही अर्थव्यवस्था के निर्देशक शिखर (commanding heights) थे। इस रूप में एक समाजवादी आर्थिक आधार अस्तित्व में आ चुका था। केवल खेती के क्षेत्र में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की पूर्ण रूप में बहाली का कार्य अभी रहता था। लेकिन क्या इसकी वजह से 1935 में (यानी सामूहिकीकरण आन्दोलन के पूर्ण होने से ठीक पूर्व) सोवियत संघ के आर्थिक आधार को समाजवादी नहीं कहा जायेगा? अर्थव्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य तो तब तक जारी रहता है जब तक कि समाजवाद का उन्नत मंजिलों और कम्युनिज्म की शुरुआती मंजिल में संक्रमण न हो जाये। निश्चित तौर पर, 1921 में यह कार्य बेहद पीछे था और अभी कुछ ही आगे बढ़ा था, क्योंकि अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा क्षेत्र यानी खेती, भूमि के राष्ट्रीकरण से आगे नहीं गया था। **लेकिन हमारे पूरे तर्क का प्रमुख बिन्दु पिछले जवाब में यह था ही नहीं कि सोवियत संघ में आर्थिक आधार किस हद तक समाजवादी चरित्र अर्जित कर चुका था। मुख्य बात यह थी कि उस दौर के आर्थिक आधार में कई प्रकार उत्पादन सम्बन्ध मौजूद हैं। लेनिन ने इसी को अर्थव्यवस्था में कई तत्वों की मौजूदगी के रूप में पेश किया है।** इसी बात को उन्होंने चौथे इण्टरनेशनल की कांग्रेस में दुहराया भी था जहां साफ तौर पर लेनिन स्पष्ट करते हैं कि रूस की *आर्थिक व्यवस्था में कई प्रकार के तत्व थे:*

"Nevertheless, I then held the view that in relation to the economic situation then obtaining in the Soviet Republic state capitalism would be a step forward, and I explained my idea simply by enumerating the elements of the economic system of Russia. In my opinion these elements were the following: "(1) patriarchal, i.e., the most primitive form of agriculture; (2) small commodity production (this includes the majority

of the peasants who trade in grain); (3) private capitalism; (4) state capitalism, and (5) socialism." *All these economic elements were present in Russia at that time. I set myself the task of explaining the relationship of these elements to each other*, and whether one of the non-socialist elements, namely, state capitalism, should not be rated higher than socialism. I repeat: it seems very strange to everyone that a non-socialist element should be rated higher than, regarded as superior to, socialism in a republic which declares itself a socialist republic. But the fact will become intelligible if you recall that we definitely did not regard the economic system of Russia as something homogeneous and highly developed; we were fully aware that in Russia we had patriarchal agriculture, i.e., the most primitive form of agriculture, alongside the socialist form." (Lenin, *Fourth Congress of the The Communist International*)

यहां लेनिन ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रूस की आर्थिक व्यवस्था के भीतर कई तत्व मौजूद थे और खेती में प्राक्-पूंजीवादी पितृसत्तात्मक तत्व हावी था। **अब इसे आप समाजवादी आधार या पूंजीवादी आधार कहने की बहस छोड़कर इस प्रश्न पर बात करें कि एक आर्थिक आधार में कई प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध मौजूद हैं, तो इसका क्या अर्थ निकलता है? श्यामसुन्दर बहस के इस केन्द्रीय मुद्दे पर बात रखने की बजाय गोलमाल कर रहे हैं।** श्यामसुन्दर पूछते हैं कि हमें "लेनिन के हवाले से यह भी सिद्ध करना चाहिए था कि ये पांच प्रकार की आर्थिक संरचनाएं सोवियत समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग की एक जैविक इकाई का निर्माण करती थी।" आर्थिक आधार एक सम्पूर्णता (totality) के रूप में ही एक जैविक इकाई होता है, न कि एक सजातीय समूह (homogeneous group) के रूप में। जैविक इकाई होने का अर्थ सिर्फ इतना है कि किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशील स्थिति में हैं, चाहें वे परिमाण में तुलनात्मक रूप से छोटे आर्थिक क्षेत्र में हों। मिसाल के तौर पर, औद्योगिक और अन्य गैर-खेतिहर क्षेत्रों में समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्धों की स्थापना के साथ और साथ ही खेतिहर उत्पादन के साधनों का उत्पादन करने वाले उत्पादन के साधनों के समाजवादी मालिकाने के साथ समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध प्रभुत्वशाली स्थिति में आ गये थे। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते हैं, हालांकि श्यामसुन्दर को ऐसा ही लगता है। **खैर, श्यामसुन्दर का यह आग्रह की हम लेनिन के हवाले से दिखलाएं कि लेनिन ने उपरोक्त पांचों तत्वों को तत्कालीन आर्थिक आधार का अंग माना है, हमने ऊपर के उद्धरण से पूरा कर दिया है। अब कोई शब्द पकड़कर बैठ जाए कि लेनिन ने "जैविक इकाई" कहां लिखा है, तो हम यही कह सकते हैं कि वह हैमलेट के समान केवल शब्द पढ़ रहा है, अर्थ नहीं। श्यामसुन्दर यह बेतुकी बात यह सिद्ध करने के लिए कर रहे हैं कि प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्य उत्पादन सम्बन्ध दूसरे श्यामसुन्दरीय आधार यानी कि 'समूचे भौतिक उत्पादन के आधार' में थे! यह पूरी अवधारणा ही मूर्खतापूर्ण और बोगस है और इसका मार्क्सवाद से कोई रिश्ता नहीं है। अपने सांचो पांजाओं के समक्ष "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" में हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र को कैसी-कैसी कलाबाजियां खानी पड़ रही हैं!**

यहीं प्रसंगवश यह इंगित करना भी आवश्यक है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी आर्थिक आधार में हमेशा ही पूंजीवादी तत्वों की मौजूदगी बनी रहेगी; जिस दिन उत्पादन सम्बन्ध के दो अन्य पहलू,

यानी कि श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्धों का भी क्रांतिकारी रूपान्तरण पूरा हो जायेगा, यानी जिस दिन माओ के शब्दों में तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएं समाप्त हो जाएंगी, उस दिन तो समाजवाद अपनी उन्नत मंजिल और फिर साम्यवाद के चरण में प्रवेश की दहलीज़ पर होगा। ज़ाहिर है, ऐसा एक देश के पैमाने पर हो ही नहीं सकता। लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि यदि हम यह मानते हैं कि सम्पत्ति सम्बन्धों के रूपान्तरण के साथ उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण पूरा नहीं हुआ है, और श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्धों के रूपान्तरण का कार्यभार अभी पूरा किया जाना बाकी है, तो फिर हम वितरण के सम्बन्धों और श्रम विभाजन को उत्पादन सम्बन्धों से अलग कर रहे हैं; फिर यह साबित करने के लिए भी इन महोदय ने कुछ पन्ने काले किये हैं, कुछ उद्धरण चेंपें हैं कि उत्पादन सम्बन्ध, जिसमें कि स्वामित्व सम्बन्ध ही प्रमुख है, के अनुसार ही वितरण के सम्बन्ध और श्रम विभाजन निर्धारित होते हैं, हालांकि अभी कुछ पहले ही श्यामसुन्दर ने दावा किया था किसी भी उत्पादन सम्बन्ध को श्रम विभाजन का कोई विशिष्ट रूप पैदा करता है! यानी तब इन्होंने स्वामित्व सम्बन्धों को निर्धारक पहलू नहीं माना था, बल्कि श्रम विभाजन को निर्धारक पहलू माना था! खैर, ज़ाहिर है, हमारा तर्क इनकी समझ में ही नहीं आया है। **निश्चित तौर पर, उत्पादन सम्बन्ध निर्धारित होते ही वितरण के सम्बन्ध स्वयं निर्धारित होने लगते हैं; लेकिन स्वामित्व के सम्बन्ध ही उत्पादन के सम्बन्ध नहीं हैं और स्वामित्व के सम्बन्धों को ही उत्पादन के सम्बन्ध मान लेने की अर्थवादी ग़लती की माओ ने काफी तीखे शब्दों में आलोचना की है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के सिद्धान्त के तहत माओ की बुनियादी शिक्षा ही यही थी कि मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम, गांव और शहर और उद्योग व कृषि के बीच, जो कि सभी अलग-अलग प्रकार के श्रम विभाजन ही हैं, अन्तर के मौजूद रहते बुर्जुआ अधिकार बने रहेंगे और अगर बुर्जुआ अधिकार बने रहेंगे तो फिर वितरण की असमानता भी बनी रहेगी। आगे हम उद्धरण समेत माओ और उनके नेतृत्व में चीनी पार्टी की इस समझदारी पर विचार करेंगे। यही कारण है कि इन तीन पूंजीवादी श्रम विभाजनों को खत्म करना समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया को मुकाम पर पहुंचाने के लिए आवश्यक है। अगर श्यामसुन्दर की मानें तो माओ ने उत्पादन सम्बन्ध को वितरण सम्बन्ध से अलग कर दिया है! श्यामसुन्दर वास्तव में स्वामित्व सम्बन्धों और उत्पादन सम्बन्धों में भेद नहीं करते; स्वामित्व सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्धों की कुंजीभूत कड़ी हैं और उनके रूपान्तरण के साथ ही उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण का कार्य शुरू होता है; मगर खत्म नहीं होता।** ऐसा नहीं होता कि स्वामित्व के सम्बन्ध बदलते ही पूंजीवादी श्रम विभाजन समाप्त हो जाता है, बुर्जुआ अधिकार और वितरण में असमानता समाप्त हो जाती है। दिक्कत यह है कि श्यामसुन्दर न तो मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को समझते हैं और न ही समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर किये गये उन्नततम कार्य, यानी माओ के सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के सिद्धान्त को। यही कारण है कि श्यामसुन्दर ऐसे मूर्खतापूर्ण सूत्रीकरण पूरे आत्मविश्वास के साथ देते हैं: "जब तक अर्थव्यवस्था का आर्थिक ढांचा निर्णायक तौर पर समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग से तैयार नहीं हो जाता तब तक सर्वहारा सत्ता के अधीन उस समाज व्यवस्था में विकसित होती हुई, समाजवादी आर्थिक संरचना के साथ-साथ मरती हुई पूंजीवादी आर्थिक संरचना के तत्व भी मौजूद रहेंगे, लेकिन ये तत्व समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे का हिस्सा नहीं बन सकेंगे।" जिस दिन तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएं खत्म हो जाएंगी, उस दिन श्रम विभाजन भी समाप्त हो जायेगा, उस दिन माल उत्पादन भी समाप्त हो जायेगा और उस दिन समाजवादी संक्रमण पूरा हो चुका होगा और कम्युनिज्म की मंजिल आ चुकी होगी। **एक शुद्ध समाजवादी आर्थिक आधार, जिसमें कि उत्पादन सम्बन्धों के तीनों ही पहलू पूर्णत: रूपान्तरित हो चुके हों, एक मूर्खतापूर्ण अवधारणा है और समाजवादी समाज के संक्रमणशील चरित्र को नहीं समझती है।**

श्यामसुन्दर के अनुसार, जो पूंजीवादी सम्बन्ध बचे रहेंगे, वे किसी और लोक में विद्यमान होंगे, जिसे उन्होंने "सामाजिक उत्पादन की समूची प्रक्रिया" का नाम दिया है। नाम चाहें कुछ भी दे लो, जो वस्तु जो होती

है, वह वस्तु वही होती है। लेकिन श्यामसुन्दर मोदी सरकार के समान चीज़ों का नया नामकरण करने पर आमादा है! कारण यह है कि अपनी पहले ठेली जा चुकी मूर्खतापूर्ण बातों को बदल तो सकते नहीं, इसलिए अब चीज़ों का नाम ही बदलना उनके सामने एकमात्र विकल्प है। "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की अपनी मजबूरियां होती हैं।

आगे श्यामसुन्दर पृष्ठ 42 पर मार्क्स का एक उद्धरण पेश करते हैं। इस उद्धरण में मार्क्स ने महज़ यह कहा है, "अब समय आ गया है कि उन आर्थिक संबंधों पर भी अधिक निकट से विचार किया जाए जिन पर पूंजीपति वर्ग तथा उसके वर्गीय शासन का अस्तित्व, और साथ ही मज़दूरों की गुलामी आधारित है।" इससे श्यामसुन्दर ने यह अर्थ निकाला है कि आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं! मार्क्स ने तो यह भी लिखा है: "Direct slavery is just as much the pivot of bourgeois industry as machinery, credits, etc." क्या इससे यह अर्थ निकाल लिया जाय कि दास श्रम पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का आधार है? **श्यामसुन्दर बदहवास होकर कभी यहां तो कभी वहां से उद्धरण चेंप रहे हैं, ताकि अपनी यह मूर्खतापूर्ण थीसिस सिद्ध कर सकें कि आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। हम ऊपर मार्क्स और एंगेल्स के कई उद्धरण पेश कर चुके हैं, जो कि इस कठमुल्लावादी मूर्खता का खण्डन करते हैं।**

तीस वर्ष पुराने एक दस्तावेज़ को समझने में श्यामसुन्दर की नाकामी

इसके बाद श्यामसुन्दर 1987 में प्रकाशित सी.एल.आई. के 'लाल तारा-3' से एक उद्धरण छांटते हैं और हमेशा की तरह बिना समझे हुए उसकी मनमानी व्याख्या करते हैं। वह उद्धरण यह है: "सामन्ती भूमि संबंधों के अवशेष भी देश के विभिन्न हिस्सों में मौजूद हैं पर वे निरंतर ह्रासमान हैं और बुनियादी अन्तरविरोध के दायरे के बाहर विस्थापित हो चुके हैं।" **श्यामसुन्दर ने 'बुनियादी अन्तरविरोध के दायरे से बाहर' का यह अर्थ निकाला है कि वे आर्थिक आधार से ही बाहर चले गये! अब इस पर हम क्या कहें? जब यह कहा जाता है कि आर्थिक आधार में एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशील स्थिति में हैं और बाकी उनके मातहत हैं, तो इसका अर्थ ही यही होता है कि आर्थिक आधार में प्रधान अन्तरविरोध की भूमिका वे प्रभुत्वशील उत्पादन सम्बन्ध निभा रहे हैं। उपरोक्त उद्धरण का ऐसा वज्रमूढ़तापूर्ण अर्थ निकालने के बाद हमारे दोन किहोते बौरा-से जाते हैं और विक्षिप्तावस्था में आकर मूर्खतापूर्ण सवालों की बौछार कर देते हैं: "क्या अभिनव सिन्हा बताएंगे कि बुनियादी अन्तरविरोधों का दायरा किसे कहा जाता है तथा उस दायरे का 'भीतर और बाहर' क्या होता है? जिन उत्पादन सम्बन्धों और अन्तरविरोधों को सीएलआई के निर्माण से पहले बुनियादी अन्तरविरोधों के दायरे के भीतर माना जाता था फिर सीएलआई की स्थापना के साथ वे उत्पादन संबंध उस दायरे के बाहर कैसे आ गये? और उस दायरे बाहर आकर क्या वे अवशेष अधिरचना में समा गए अथवा किसी औंधी खोपड़ी में जा घुसे?" कहां जा घुसे यह तो नहीं पता, लेकिन *ये सवाल* किसी औंधी खोपड़ी से ही निकले हैं, यह पक्का है!** इसके बाद, एंगेल्स का उद्धरण पेश करके श्यामसुन्दर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अगर नये उभरते उत्पादन सम्बन्ध पुराने उत्पादन सम्बन्धों के दायरे के बाहर फैल जाते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि नये आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। यह भी उतनी ही मूर्खतापूर्ण व्याख्या है, जितनी की 'लाल तारा-3' के उद्धरण की श्यामसुन्दर की उपरोक्त व्याख्या थी। स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की प्रक्रिया में, उन्हीं के शब्दों में, किसी भी चीज़ को 'आबरा का डाबरा' कह रहे हैं!

ऐसे लोगों के लिए मार्क्स ने कहा था: "In theory, we assume that the laws of the capitalist mode of production develop in their pure form. In reality, this is only an approximation..." इसके आगे मार्क्स अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं: "the approximation is all the more exact, the more the capitalist mode of production is developed and the less it is adulterated by survivals of earlier economic conditions ***with which it is amalgamated.***" एंगेल्स का वह उद्धरण जिसकी श्यामसुन्दर बात कर रहे हैं वह यह है:

"When, towards the end of the Middle Ages, there arose a new mode of production which could not be carried on under the then existing feudal and guild forms of property, this manufacture, which had outgrown the old property relations, created a new property form, private property. And for manufacture and the earliest stage of development of big industry, private property was the only possible property form; the social order based on it was the only possible social order."

यहां एंगेल्स सिर्फ इस बात का विवरण दे रहे हैं कि मध्ययुग के अन्त में मैन्युफैक्चर के आरम्भ के साथ नये उत्पादन सम्बन्ध और स्वामित्व के रूप कैसे पैदा हो रहे थे। इसमें यह कहां कहा गया है कि पुराने उत्पादन सम्बन्ध और उनसे जनित तमाम सामाजिक-आर्थिक रूप इसके साथ ही समाप्त हो गये? उल्टे एंगेल्स ने सबसे उन्नत किस्म की बुर्जुआ क्रांति करने वाले देश, यानी फ्रांस के बारे में उन्नीसवीं सदी के मध्य की स्थिति के बारे में यह लिखा है:

"In 1802, Saint-Simon's Geneva letters appeared; in 1808 appeared Fourier's first work, although the groundwork of his theory dated from 1799; on January 1, 1800, Robert Owen undertook the direction of New Lanark. ***At this time, however, the capitalist mode of production, and with it the antagonism between the bourgeoisie and the proletariat, was still very incompletely developed. Modern Industry, which had just arisen in England, was still unknown in France.***" (Engels, *Socialism: Utopian and Scientific*)

लेकिन अपने द्वारा 'कम्युनिज्म के सिद्धान्त' से पेश उद्धरण का श्यामसुन्दर यह अर्थ निकालते हैं: "इसका सीधा सा अर्थ यह है कि सामंती व्यवस्था के गर्भ में ही मैन्युफैक्चर के रूप में उत्पादन की नयी प्रणाली के उत्पादन सम्बन्ध सामंती आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के साथ सामंजस्य अथवा मेल नहीं था और इसीलिए वे पुराने आर्थिक ढांचे का निर्माण करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं थे।" **मतलब कि जब नये उत्पादन सम्बन्ध पैदा होते हैं, तो वे मौजूदा आर्थिक आधार के बाहर पैदा होते हैं और फिर "बाहर से" आकर पुराने आर्थिक आधार को पलट डालते हैं! यदि आप ऊपर उद्धरण को देखें तो स्पष्ट हो**

जाता है कि एंगेल्स ने पुराने उत्पादन सम्बन्धों के अवशेषों के आर्थिक आधार के बाहर रहने की कोई बात ही नहीं कही है। समझ में नहीं आता कि यह "सीधा-सा" विचार हमारे दोन किहोते की "औंधी खोपड़ी" में किस केमिकल लोचे के कारण आया है!

जैसा कि हम 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' के इस उद्धरण से समझ सकते हैं, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन के अगले उद्धरण का, जिसे कि श्यामसुन्दर ने पृष्ठ 43 पर पेश किया है, मतलब भी उनके सिर के ऊपर से बाउंसर की तरह से गुज़र गया है। लेनिन यहां लिखते हैं: "...यह एक तथ्य है कि 18वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में उत्पादन की नयी, अधिक ऊंची प्रणाली के आर्थिक आधार का पहले निर्माण हुआ और फिर, फलस्वरूप, ऊपरी ढांचे के रूप में एक सशक्त क्रांतिकारी सेना प्रकट हुई। फ्रांस ने दूसरे देशों से पहले सामंतवाद का परित्याग किया, विजयी क्रांति के चंद वर्षों के बाद उसे झाड़-बुहार दिया..." यहां लेनिन उस राजनीतिक क्रांति की बात कर रहे हैं, जिसने सामन्तवादी निरंकुशता और राजशाही तथा चर्च के प्रभुत्व के नामो-निशां को मिटा दिया; लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था और उत्पादन सम्बन्ध 1789 में आर्थिक आधार में पूर्ण रूप से छा गये थे और सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध पूर्ण रूप से खत्म हो गये थे! मतलब कि और कोई उत्पादन सम्बन्ध अब फ्रांस के आर्थिक आधार में नहीं था। दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र लिखते हैं: "कितना स्पष्ट है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जिसे लेनिन ने अधिक ऊंची प्रणाली कहा उसके आर्थिक आधार का निर्माण पुराने सामन्ती आर्थिक ढांचे में हुआ और इस अधिक ऊंची प्रणाली के मूलाधार का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग पुरानी सामंती प्रणाली के मूलाधार का निर्माण करने वाले उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग का हिस्सा नहीं था। यानी मध्ययुगीन सामंती प्रणाली के आर्थिक ढांचे के भीतर ही पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आर्थिक मूलाधार जन्म ले रहा था।" ज़रा खुद ही देखिये कैसी पागलपन भरी बातें हैं; **पहले तो दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र कहते हैं कि पूंजीवादी आर्थिक आधार का निर्माण पुराने सामन्ती ढांचे के *भीतर* हुआ और फिर कह रहे हैं कि ये नये पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध सामन्ती आर्थिक आधार के *बाहर* थे।** पाठक समझ गये होंगे कि श्यामसुन्दर "औंधी खोपड़ी" किसे कह रहे थे!

दूसरे, लेनिन के उद्धरण का श्यामसुन्दर ने यह मतलब निकाला है कि उत्पादन की नयी प्रणाली और आर्थिक आधार पैदा होने के बाद फ्रांस में क्रांति हुई; नहीं! लेनिन यहां पर बता रहे हैं कि फ्रांस की क्रांति ने सामन्ती आर्थिक संबंधों का उन्मूलन किया, सामन्ती जागीरों और चर्च की सम्पत्ति का हरण किया और इस प्रकार सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों पर निर्णायक चोट की; जो पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध सामन्ती आर्थिक आधार में ही जन्म ले चुके थे, राजनीतिक अधिरचना के बदलने से पहले वे आर्थिक आधार में अधीनस्थ स्थिति में ही रह सकते थे। यानी 1789 की क्रांति के पूर्व पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की कुछ बुनियादी पूर्वशर्तें पूरी हो चुकी थीं, लेकिन आर्थिक आधार में अभी भी सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध महत्वपूर्ण स्थिति में थे; ये केवल 1789-93 के बीच टूटे। दूसरी बात यह है कि पूंजीवादी आर्थिक आधार की स्थापना और सुदृढ़ीकरण का कार्य 1789 में प्रारम्भ होने के बाद फ्रांस में अगली सदी में जारी रहा और फ्रांस में औद्योगिक क्रांति के 'टेक-ऑफ' के बाद भी जारी रहा। इसे समझने के लिए आप मार्क्स का 'लुई बोनापार्त की अट्ठारहवीं ब्रुमेयर' पढ़ सकते हैं, जिसमें मार्क्स बताते हैं कि इंग्लैण्ड आर्थिक क्रांति में आगे था जबकि फ्रांस सामाजिक-राजनीतिक क्रांति में; निश्चित तौर पर, दोनों के लिए ही कुछ आर्थिक पूर्वशर्तों का पूरा होना आवश्यकता होता है, लेकिन जहां इंग्लैण्ड में टटपुंजिया माल उत्पादन खेती में उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ही एक दुर्लभ चीज़ बनने लगा था, वहीं फ्रांस का समूचा ग्रामीण क्षेत्र छोटे पैमाने के टटपुंजिया माल उत्पादन से ढंका हुआ था। वह उत्पादन पद्धति जिसे मार्क्स ने विशिष्ट रूप से पूंजीवादी उत्पादन पद्धति (specifically capitalist mode of production) कहा था, वह

उन्नीसवीं सदी के तीसरे चतुर्थांश तक अभी खेती में पांव नहीं जमा पायी थी। इसे समझने के लिए मार्क्स की 'नेपोलियन बोनापार्त की अट्ठारवहीं ब्रुमेयर' पढ़ी जा सकती है।

हम देख सकते हैं कि अपने दो आधारों के सिद्धान्त (एक आर्थिक आधार और दूसरा "समूचे सामाजिक उत्पादन का आधार") को सिद्ध करने के लिए श्यामसुन्दर को कैसी-कैसी कलाबाज़ियां खानी पड़ रही हैं। वह पृष्ठ 44 पर अपने उसी राग को अलापे जा रहे हैं कि निर्धारित उत्पादन सम्बन्ध आर्थिक आधार में नहीं होते, उसके बाहर अस्तित्वमान होते हैं! कहां? वहीं "औंधी खोपड़ी में"! मज़ेदार बात यह है कि इसके लिए वे जो भी उद्धरण पेश करते हैं, वे किसी भी रूप में यह साबित नहीं करते कि किसी भी आर्थिक आधार में एक प्रकार के ही उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। मिसाल के तौर पर, श्यामसुन्दर समझते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था का किसी समाज व्यवस्था के मंजिल के अनुरूप होने का अर्थ यह है कि उसके आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध हैं। एंगेल्स का श्यामसुन्दर यह उद्धरण पेश करते हैं:

" (1)...उत्पादन संबंधों को यदि समग्र रूप में लिया जाए तो वे ही सामाजिक संबंध हैं, समाज हैं, और विशेष रूप से वह समाज हैं, जो ऐतिहासिक विकास की एक खास मंजिल पर कायम हैं, और जिसका एक विशिष्ट पृथक चरित्र है।

"(2) प्राचीन रोमन-यूनानी समाज, सामंती समाज, पूंजीवादी समाज -- ये सब उत्पादन-संबंधों के इस प्रकार के *समाहार* हैं और साथ ही, इनमें से हर एक मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास की एक खास मंजिल का द्योतक है।"

इसका श्यामसुन्दर ने यह अर्थ निकाला है कि इन समाजों के आर्थिक आधार में महज़ किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की प्रभुत्वशीलता नहीं, बल्कि एक ही प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध हैं। **ताज्जुब की बात यह है कि जिस जगह वह प्राचीन रोमन-यूनानी समाज की बात कर रहे हैं, वहां भी वह यही दावा कर रहे हैं। मार्क्स व एंगेल्स व उनके बाद लेनिन और माओ ने भी दिखलाया है कि इन प्राचीन समाजों में ही माल उत्पादन अस्तित्व में आ चुका था; वास्तव में, अगर मध्यकालीन दौर को छोड़ दिया जाय, जब माल उत्पादन, मुद्रा अर्थव्यवस्था, व्यापार और शहरीकरण में कुछ गिरावट आयी, तो प्राचीन यूनानी व रोमन समाज में दास उत्पादन व्यवस्था के प्रभुत्व के बावजूद मुक्त कारीगर वर्ग द्वारा माल उत्पादन, मुद्रा अर्थव्यवस्था और व्यापार काफी विकसित थे; ऐसी मुक्त श्रमिक व मेहनतकश आबादी को ही plebians कहा जाता था; अगर कोई समझता है कि इस माल उत्पादन से पैदा होने वाले सम्बन्ध आर्थिक आधार का अंग नहीं थे, और वह "औंधी खोपड़ी" में अस्तित्वमान "समूचे सामाजिक उत्पादन के दूसरे आधार" में अस्तित्वमान थे, तो इसमें विज्ञान और तर्क की कोई गलती नहीं है, "औंधी खोपड़ी" की ग़लती है!** चूंकि समूचे आर्थिक आधार में दास श्रम से होने वाला उत्पादन प्रभुत्वशील था, इसलिए इस दौर को हम दास उत्पादन व्यवस्था के दौर के नाम से जानते हैं, लेकिन यूनानी-रोमन प्राचीन काल के सभी संजीदा मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है कि किस प्रकार इन समाजों में दास उत्पादन सम्बन्धों के प्रभुत्व में कई प्रकार के, विशेष तौर पर, छोटे पैमाने के माल उत्पादन से पैदा होने वाले उत्पादन सम्बन्ध तन्तुबद्धीकृत थे। लेकिन इतिहास का भयंकर अज्ञान श्यामसुन्दर की एक आम समस्या है, जैसा कि जाति व्यवस्था, डा. अम्बेडकर, हिन्दुत्व आदि के बारे में उनके हास्यास्पद विचारों के विषय में हम पिछले पत्र में ही देख चुके हैं और इस पत्र में भी देखेंगे। जब माल उत्पादन का सामान्यीकरण हो जाता है, जिसका अर्थ है समाज में उत्पादित हो रही अधिकांश वस्तुएं और विशेष तौर

पर श्रम शक्ति माल में तब्दील हो जाती है, तो पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था और उससे पैदा होने वाले उत्पादन सम्बन्ध प्रभुत्वशील हो जाते हैं।

उपरोक्त उद्धरण में एक बार फिर से totality शब्द का अर्थ श्यामसुन्दर के सिर के ऊपर से गुज़र गया है। इस शब्द को यहां 'समाहार' के रूप में पेश किया गया है, जो कि इस अवधारणा को सटीक रूप में स्पष्ट नहीं कर पाता है। Totality का अर्थ ही एक तन्तुबद्धीकरण होता है, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। चूंकि जब यह शब्द आया तो "खोपड़ी औंधी" पड़ी थी, इसलिए इसका अर्थ नहीं समझा गया है। यही कारण है कि totality का अर्थ श्यामसुन्दर एक सजातीय समूह के रूप में समझ पाए हैं। निश्चित तौर पर, किसी भी आर्थिक आधार में किसी एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध ही प्रभुत्वशील होते हैं और उसी के आधार पर समाज विकास की वह मंजिल निर्धारित होती है; इसका यह अर्थ कोई मूर्ख व्यक्ति ही निकाल सकता है कि किसी समाज के आर्थिक आधार में केवल एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, बाकी जो उत्पादन सम्बन्ध बचते हैं वह "समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार में" होते हैं। यह मार्क्सवाद के नाम पर *एक कैरीकेचर का कैरीकेचर* है; इसे महज़ कैरीकेचर भी नहीं कहा जा सकता है। ज़ाहिर है, यदि दोन किहोते दुबारा जन्म लेगा और वह भी एक छद्म मार्क्सवादी और वास्तविक रूप में अज्ञानी त्रात्स्कीपंथी के रूप में, तो वह कैरीकेचर का कैरीकेचर ही हो सकता है!

उत्पादन सम्बन्धों के तीन आयामों के विषय में श्यामसुन्दर की ज्ञानामृत वर्षा

अब आते हैं श्यामसुन्दर के इस विचार पर कि उत्पादन सम्बन्ध के तीन आयाम, यानी स्वामित्व सम्बन्ध, वितरण सम्बन्ध और श्रम विभाजन, नहीं होते हैं, और स्वामित्व सम्बन्ध के बदलते ही बाकी दोनों स्वत: ही बदल जाते हैं। इन महोदय ने हमारे जवाब में से एक हिस्सा उद्धृत किया है, जिसमें हमने बताया है कि उत्पादन सम्बन्धों के स्तर पर जाति किस रूप में अन्तर्गुंथित और तन्तुबद्धीकृत है। इसमें हमने यह भी बताया है कि किस प्रकार यह अन्तर्गुंथन और तन्तुबद्धीकरण वितरण की जातिगत असमानता के आधार पर दिखलायी पड़ता है। **इससे श्यामसुन्दर ने यह नतीजा निकाला है कि हमने वितरण सम्बन्धों और श्रम विभाजन को उत्पादन सम्बन्धों से स्वायत्त बना दिया है!** फिर अपनी ग़ैर-ज़रूरी उद्धरणबाज़ी जारी रखते हुए यह साबित करने के लिए कि वितरण के सम्बन्ध उत्पादन के सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं, मार्क्स का एक उद्धरण भी चेंप दिया है। वैसे मार्क्स के उद्धरणों के ज़रिये दिखलाया जा सकता है कि स्वामित्व के सम्बन्ध प्रधान भूमिका निभाते हैं और लेकिन वितरण के सम्बन्ध या उत्पादन और संचरण के क्षेत्र एक दूसरे से द्वन्द्वात्मक रिश्ता रखते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ निकालना कि स्वामित्व के सम्बन्ध बदलते ही वितरण के सम्बन्ध और श्रम विभाजन स्वत:स्फूर्त रूप से और तत्काल बदल जाते हैं, एक बार फिर से श्यामसुन्दर के कठमुल्लावादी चिन्तन-पद्धति को प्रदर्शित करता है। यह दिखलाता है कि इन्होंने न केवल मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई अध्ययन नहीं किया है (सिवाय विषय सूची देखकर उद्धरण छांटने के!) बल्कि यह भी दिखलाता है कि मार्क्स के बाद मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र में जो विकास हुआ है, उसके बारे में भी श्यामसुन्दर अनभिज्ञ हैं, और अगर उन्हें कोई बताता है, तो वह तत्काल चकित हिरणी के समान आंखें फाड़ देते हैं।

आइये, ज़रा देखते हैं कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के दौर में इस विषय में माओ और उनके नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के क्या विचार हैं:

"Our country as present practices **a commodity system, the wage system is unequal, too, as in the eight-grade wage scale, and so forth.** Under the dictatorship of the proletariat, such things can only be restricted. Therefore, if people like Lin Piao come to power, it will be quite easy for them to rig up the capitalist system." (Mao Tse-tung, Speech at the First Plenary Session of the Ninth Central Committee of the Party on April 28, 1969)

यहां माओ स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि चीन के समाजवादी रूपान्तरण के बाद भी बुर्जुआ श्रम विभाजन और नतीजतन बुर्जुआ अधिकारों के कारण कई संस्तरों वाली उजरत की व्यवस्था चीन में बहाल थी; जो बदला था वह था स्वामित्व का स्वरूप। लेकिन इससे बुर्जुआ श्रम विभाजन और वितरण की असमानता स्वत: ही समाप्त नहीं हो जाती है। यदि इसका अर्थ कोई यह निकालता है कि माओ ने वितरण के सम्बन्धों और उत्पादन के सम्बनधों के बीच रिश्ते को तोड़ दिया है, तो यह उसकी कुढ़मगज़ी है। श्यामसुन्दर यही करते हैं। इसी विचार को चांग चुन चियाओ ने भी स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है। देखें:

"In a word, China is a socialist country. Before liberation she was much the same as a capitalist country. Even now she practices an eight-grade wage system, distribution according to work and exchange through money and in all this differs very little from the old society. **What is different is that the system of ownership has been changed."** (Chang Chun-Chiao, *On Exercising All-round Dictatorship over the Bourgeoisie*)

चांग चुन चियाओ यहां बता रही हैं कि स्वामित्व के सम्बन्ध तो समाजवादी व्यवस्था के आने के साथ बदले हैं, लेकिन वितरण के सम्बन्ध, बुर्जुआ श्रम विभाजन और बुर्जुआ अधिकार कायम हैं। कारण यह कि स्वामित्व सम्बन्धों के बदलते ही श्रम विभाजन और वितरण सम्बन्ध तत्काल और स्वत: ही नहीं बदल जाते हैं। इस बात को पूरी स्पष्टता के साथ समझने के लिए आप महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के दस्तावेज़ों का अध्ययन कर सकते हैं।

मार्क्स और एंगेल्स ने स्वयं बताया है कि यदि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का खात्मा कर दिया जाय तो भी पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध बरकरार रह सकते हैं, और अधिशेष के विनियोजन के आधार पर स्पष्ट तौर पर दिखलाया जा सकता है, पूंजी-सम्बन्ध (capital-relation) बना हुआ है। 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में मार्क्स ने लिखा है पूंजीवादी सम्पत्ति दो रूप लेती है: आर्थिक और वैधिक और पूंजीपति होने के लिए किसी को विधिक रूप में निजी सम्पत्ति का मालिक होना ज़रूरी नहीं है; ऐसा सम्भव है कि सम्पत्ति राजकीय नियंत्रण में हो और पूंजी-सम्बन्ध को स्वामित्व के विधिक रूप में नहीं बल्कि विनियोजन की वास्तविक प्रक्रिया (real process of appropriation) में देखना पड़े। इसलिए निश्चित तौर पर स्वामित्व के सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्धों के रूपान्तरण की बुनियाद होती है, मगर महज़ स्वामित्व सम्बन्धों को बदलकर यह समझना कि समूचे उत्पादन सम्बन्ध का क्रान्तिकारी रूपान्तरण हो गया है, ग़लत है। इसीलिए 1936 में सामूहिकीकरण के पूर्ण होने के बाद स्तालिन द्वारा की गयी इस घोषणा की माओ ने आलोचना की थी कि अब सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग नहीं हैं; माओ

ने बताया कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के बदलने के साथ ही बुर्जुआ श्रम विभाजन और वितरण की असमानता स्वयं नहीं समाप्त हो जाती। दूसरे शब्दों में, समूचे समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी समाज के आर्थिक आधार में श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्धों के धरातल पर बुर्जुआ उत्पादन सम्बन्ध बने रहते हैं; यदि वे कम हो रहे हैं, तो हम कह सकते हैं कि समाजवादी संक्रमण आगे बढ़ रहा है। यदि वे कम नहीं हो रहे तो समाजवादी संक्रमण ठहरावग्रस्त है अथवा पीछे जा रहा है। यह संक्रमण पूरा एक कम्युनिस्ट समाज के आविर्भाव के साथ ही हो सकता है। लेकिन इस पूरी अवस्थिति को हमने पिछले पत्र में भी रखा था, जिसे श्यामसुन्दर समझे बग़ैर, या सम्भवत: जानबूझकर विकृत करके पेश कर रहे हैं। श्यामसुन्दर हमारी अवस्थिति के बारे में लिखते हैं: "लेकिन अभिनव सिन्हा ऊपर दिये गये उनके उद्धरण में वितरण को पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से पृथक कर देते हैं, यानी वितरण को वह उत्पादन पद्धति का लक्षण मानने से इंकार करते हैं..." अब देखें कि हमने अपने पिछले जवाब में क्या लिखा था: "*लेकिन सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी-विधिक रूपान्तरण से ही उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण नहीं हो जाता है।* सम्पत्ति सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध के तीन आयामों में से एक आयाम है और सबसे अहम आयाम है। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। उत्पादन सम्बन्ध के दो अन्य आयाम होते हैं श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्ध। निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे से उत्पादन सम्बन्धों के क्रांतिकारी रूपान्तरण का काम शुरू होता है, खत्म नहीं। इसीलिए लेनिन ने स्पष्ट किया था कि जब तक मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम में विभेद है और जब तक गांव-शहर व उद्योग-कृषि की असमानताएं मौजूद हैं, तब तक माल उत्पादन जारी रहेगा और उनके सामान्यीकृत होने पर फिर से पूंजीवादी सम्बन्धों की पुनर्स्थापना होने की सम्भावना बनी रहेगी। माओ ने इसी सिरे को पकड़कर समाजवादी संक्रमण के विषय में अर्थवादी समझदारी का खण्डन किया और बताया कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी खात्मे से उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध पूर्णत: रूपान्तरित नहीं हो जाते।" यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति है; लेकिन श्यामसुन्दर जड़सूत्रों में सोचते हैं। यही कारण है कि कहीं भी द्वन्द्ववाद का प्रयोग देखते ही बौरा-से जाते हैं। जब हम लिखते हैं कि जाति मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में सहयोजित और समायोजित हो गयी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अपने उद्भव के समय से लेकर आज तक वह विभिन्न उत्पादन पद्धतियों के साथ सहयोजित, समायोजित और तन्तुबद्धीकृत होती रही है, और आज की पूंजीवादी व्यवस्था में भी वह वितरण के एक विनियामक के तौर पर काम करती है, तो क्या इसका अर्थ यह है कि हम कह रहे हैं कि एक सामन्ती सम्बन्ध पूंजीवादी समाज में वितरण के विनियामक का काम कर रहा है? जी नहीं! इस पूरी बहस में हमारी तो अवस्थिति ही शुरू से यही रही है कि जाति कोई सामन्ती सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थिति यह बता ही नहीं सकती कि सामन्ती उत्पादन पद्धति के प्रादुर्भाव से पहले जाति क्या थी? इसी सवाल का श्यामसुन्दर भी जवाब नहीं दे पाए हैं और हमने ऊपर देखा है कि अपने कुतर्क का बचाव करने के लिए किस प्रकार अर्द्धपागलपन भरी बातों तक जा पहुंचे हैं। खैर, चूंकि हम जाति को पूंजीवादी व्यवस्था में तन्तुबद्धीकृत मानते हैं, इसलिए हम आज की जाति व्यवस्था को ही पूंजीवादी जाति व्यवस्था कहते हैं। ऐसे में, क्या जाति वितरण के सम्बन्धों का विनियामक हो सकती है? बिल्कुल हो सकती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि नस्लीय तंत्र आज के पूंजीवाद के साथ तन्तुबद्धीकृत होकर वितरण सम्बन्धों को प्रभावित करता है। ऐसे में, श्यामसुन्दर ने फिर से "औंधी खोपड़ी" का कमाल दिखाया है, और हमसे वह कहलवाने की कोशिश की है जो कि हम कह ही नहीं रहे हैं, ताकि फिर इस काल्पनिक तर्क का खण्डन किया जा सके। श्यामसुन्दर इस बात पर अपने आंसू नहीं रोक पाते कि हमने उत्पादन सम्बन्ध और वितरण सम्बन्ध के बीच के "मां-बेटी" जैसे सम्बन्ध में दरार डाल दी है! यह किस प्रकार की तर्कशैली और किस प्रकार का रूपकशास्त्र है, हमारी समझ से परे है। शायद किसी "औंधी खोपड़ी" को समझ में आ जाय!

आगे श्यामसुन्दर फिर से बिना समझे हमारे तर्कों पर भाले-बरछी लेकर कूद पड़ते हैं, लेकिन आप देखेंगे कि फिर हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र का वही हश्र होता है, जो कि दोन किहोते दि ला मांचा का तब हुआ था जब वह पवनचक्की पर हमला कर बैठे थे। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "लेकिन अभिनव सिन्हा दलितों की कम आमदनी की व्याख्या इस आधार पर न करके कि क्योंकि लगभग नब्बे फीसदी दलित उजरती मज़दूरों की कतार में खड़े हो गये हैं और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति उन सबको न्यूनतम मज़दूरी मुहैया कराने में समर्थ नहीं है, वे उत्पादन पद्धति से बाहर छलांग लगा जाते हैं और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के बाहर दलितों की कम आमदनी की व्याख्या के लिए सारसंग्रहवादी पापड़ बेलने लगते हैं।" जैसा कि हमने ऊपर ही कहा था, हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते का रूपकशास्त्र अद्‌भुत है। "सारसंग्रहवादी पापड़"!! खैर, हम यहां रूपकशास्त्र पर चर्चा करने नहीं बैठे हैं। इसलिए देखते हैं कि फिर से कैसे बाउंसर इनके सिर के ऊपर से सांय से निकल गया है।

पहली बात, कुल आबादी ही नहीं बल्कि मज़दूर आबादी के भीतर भी दलित निम्नतम मज़दूरी पाने वाले लोग हैं; दूसरी बात, 90 फीसदी दलित आबादी "उजरती मज़दूरों की कतारों में *खड़े* नहीं हो गये" हैं, बल्कि वह पूंजीवादी व्यवस्था के आविर्भाव से ही उन्हीं कतारों में रहे हैं और पूंजीवादी व्यवस्था की भारत में शुरुआत से पहले भी वे भूमिहीन खेतिहर मज़दूर ही थे; चूंकि भारत में पूंजीवादी भूमि सुधार प्रशियाई पथ के एक विशिष्ट भारतीय संस्करण से हुआ, इसलिए ये दलित खेतिहर मज़दूर अपवाद मामलों को छोड़कर ज़मीन के मालिक बने ही नहीं; यही कारण था कि पूंजीवादी विकास के पथ पर अग्रसर होने के आरम्भ में भारत में शहरी मज़दूरों की आबादी में भी दलित मज़दूर बेहद भारी संख्या, लगभग, बहुसंख्या में थे। यह स्थिति 1970 के दशक के अन्त से बदलनी शुरू हुई है, जब अन्य जातियों, विशेषकर पिछड़ी जातियों से एक आबादी विभेदीकरण के कारण सर्वहाराओं की कतार में शामिल होनी शुरू हुई। 1990 के दशक से यह प्रक्रिया बेहद तेज़ी से चली। इसलिए कुल शहरी मज़दूर वर्ग में आज दलित आबादी एक विचारणीय आकार की, किन्तु एक अल्पसंख्या है। लेकिन खेतिहर मज़दूरों में उनकी संख्या आज भी 45 प्रतिशत से अधिक है। ऐसे में, यह आमदनी की व्याख्या से पैदा होने वाली स्थिति नहीं है, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों के विकास की जो प्रक्रिया भारत में चली है, उसी का नतीजा है। लेकिन श्यामसुन्दर के अनुसार, दलितों की 90 फीसदी आबादी पूंजीवादी विकास के कारण मज़दूरों की जमात में शामिल हुई है। वास्तव में, वह ऐतिहासिक तौर पर इसी जमात में थी; भारत का आधुनिक इतिहास पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति इसे समझ सकता है। लेकिन श्यामसुन्दर से ऐसी उम्मीद करना बेकार है। चूंकि श्यामसुन्दर अपने "समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार" के साथ आर्थिक आधार की अवधारणा से बाहर छलांग लगा गये हैं, इसलिए उन्हें हर कोई छलांग लगाता हुआ ही दिख रहा है!

अब हम अगले उपशीर्षक पर आएंगे, जिसमें एक बार फिर श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के तहत व्यवस्था और व्यवस्था के अवशेषों के बीच का अन्तर समझा रहे हैं। इसमें भी इन्होंने मूल बात नहीं समझी। हमने ऊपर मार्क्स के एक उद्धरण में देखा था कि पिछली व्यवस्थाओं के कुछ अवशेष तत्काल समाप्त होते हैं, कुछ क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त होते हैं, तो कुछ नयी उत्पादन पद्धति के अनुसार सहयोजित और समायोजित होकर नयी व्यवस्था में सम्मिलित हो जाते हैं। श्यामसुन्दर बस यही बात नहीं समझ पाए हैं, और बेकार में कुतर्कों से लगभग 10 पेज गन्दे कर दिये हैं। आइये, इस गन्दगी का करीबी से विश्लेषण करें।

8. शिक्षा देने को बेताब श्यामसुन्दर के नये करतब: कुछ बेढब और व्यर्थ आत्मरक्षा के प्रयास और कुछ नये "विचारधारात्मक इज़ाफ़े"

जो व्यक्ति पढ़ता नहीं, वह उस व्यक्ति से किसी मायने में बेहतर नहीं होता जो पढ़ नहीं सकता।

-मार्क ट्वेन

श्यामसुन्दर ने 'व्यवस्था और व्यवस्था के अवशेषों में अन्तर बारे' उपशीर्षक की शुरुआत लेनिन के उनके द्वारा अपने पहले पत्र में पेश एक उद्धरण की ग़लत व्याख्या पर हमारी आलोचना के समक्ष अपनी आत्मरक्षा के साथ की है। इस दयनीय आत्मरक्षा के प्रयास में हम देखेंगे कि श्यामसुन्दर ने किस प्रकार अपनी बात बदल ली है और किस प्रकार इस प्रक्रिया में वह भयंकर विरोधाभास में जा फंसे हैं।

अपने ही विरोधाभास में फंसे श्यामसुन्दर का बात बदलने का हास्यास्पद प्रयास

इस उद्धरण में लेनिन ने बताया है कि रूसी क्रांति के चार वर्ष बाद सर्वहारा सत्ता ने स्त्रियों की अधिकारहीनता, सामन्तवाद, तथा मध्ययुगीनता के उन घृणास्पद अवशेषों को किस प्रकार समाप्त किया है, जिसे दुनिया के सभी पूंजीपति वर्गों ने जनवादी क्रांति के बाद भी बचा कर रखा है, और सबसे महत्वपूर्ण बात, लेनिन के शब्दों में उसे "नया रूप" दिया है। लेनिन यहां बता रहे हैं कि रूसी क्रांति ने जनवादी कार्यभारों को बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों से कहीं ज्यादा रैडिकल और निर्णायक रूप में पूरा किया। इसकी व्याख्या श्यामसुन्दर ने अपने पहले जवाब में क्या की थी, देखिये: "अतीत के सामंती अवशेषों और निम्नतर स्तर की परिघटना का उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में उत्सादित तौर पर मौजूद रहने के अन्तर को लेनिन की नीचे दी गयी इन तीन पंक्तियों से बखूबी समझा जा सकता है...: "...हमारे यहां रूस में अब *स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार अपूर्णता* जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामन्तवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकी नहीं है, जिसे बिना किसी अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीपति वर्ग नया रूप दे रहा है। *'बिगुल' वाले साथी **सामंती अवशेषों** को पूंजीपति वर्ग द्वारा यह नया रूप दिये जाने को ही हेगेल की आड़ लेकर शायद सामंतवाद के उत्सादन की संज्ञा दे डालें।* लेनिन ने कहा कि सामन्तवाद तथा मध्ययुगीनता के घृणास्पद अवशेषों को नया रूप देकर हर देश का लोभी शासक पूंजीपति वर्ग तथा मंद बुद्धि और भयभीत निम्न पूंजीपति वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है। यहां लेनिन ने सामंती तथा मध्ययुगीनता के अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने वर्ग स्वार्थ में नया रूप दिये जाने की बात कही।" **स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर यह मानते हैं कि पितृसत्ता एक सामन्ती अवशेष है और पूंजीपति वर्ग उसे नया रूप देकर बचाये रखता है, लेकिन समाजवाद आने के साथ वह खत्म कर दी जाती है। हमने अपने पिछले जवाब में यह कहा था कि लेनिन का उद्धरण केवल स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों के बारे में है न कि आम तौर पर पितृसत्ता के बारे में। यदि पूंजीवाद औरतों को औपचारिक तौर पर कानूनी अधिकार देता भी है, जैसे कि मताधिकार, समान काम के लिए समान वेतन, तलाक का अधिकार, आदि तो भी वह पितृसत्ता को समाप्त नहीं करता है, बल्कि पितृसत्ता को नये रूपों में सहयोजित और समायोजित करता है; दूसरे शब्दों में, पितृसत्ता का उत्सादन होता है। हमने ठीक यही बात कही थी कि पितृसत्ता कोई सामन्ती अवशेष नहीं है; वह सामन्तवाद के पैदा होने के बहुत पहले, वर्गों के अस्तित्व में आने के साथ ही अस्तित्व में आ गयी थी; और उस**

समय से ही अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों ने उसे अपने ढांचे के अनुसार सहयोजित किया है। समाजवादी व्यवस्था में पितृसत्ता की जड़ों पर गहरी चोट होती है क्योंकि स्त्रियों का समाजीकरण होता है और वे उत्पादक गतिविधियों में बराबर की हिस्सेदारी करती हैं; लेकिन इसके बावजूद, चूंकि समाज में अभी वर्ग बने रहते हैं, इसलिए पितृसत्ता समाप्त नहीं हो जाती है। इस पक्ष में हमने लेनिन के कई उद्धरण पेश किये थे; **इस पत्र में हम एक और उद्धरण पेश करेंगे और फिर आगे दिखलाएंगे कि श्यामसुन्दर ने किस प्रकार चोर दरवाज़े से अपनी बात बदल ली है।** 1913 के अपने लेख 'पूंजीवाद और स्त्री श्रम' में लेनिन लिखते हैं:

"It is these women that the capitalists most willingly employ as home-workers, who are prepared for a monstrously low wage to "earn a little extra" for themselves and their family, for the sake of a crust of bread. It is from among these women, too, that the capitalists of all countreis recruit themselves (like the ancient slave-owners and the medieval feudal lords) any number of concubines at a most "reasonable" price. And no amount of "moral indignation" (hypocritical in 99 cases out of 100) about prostitution can do anything against this trade in female flesh; so long as wage-slavery exists, inevitably prostitution too will exist. All the oppressed and exploited classes througout the history of human societies have always been forced (and it is in this that their exploitation consists) to give up to their oppressors, first, their unpaid labour and, second, their women as concubines for the "masters".

"Slavery, feudalism and capitalism are identical in this respect. It is only the *form* of exploitation that changes; the exploitation itself remains." (Lenin, *Capitalism and Female Labour,* May, 1913)

हमने अपने पहले जवाब में यही पहलू उजागर किया था और इसकी तुलना जाति व्यवस्था से करते हुए बताया था कि वर्ग समाज कई प्रकार की शोषणकारी और दमनकारी सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं पैदा करता है और वह तब तक नये वर्ग समाजों में अपने रूप को बदलकर (उत्सादित होकर) विद्यमान रहती हैं, जब तक कि शोषणकारी वर्ग समाज कायम रहते हैं और एक हद तक जब तक कि वर्ग समाज कायम रहते हैं। **श्यामसुन्दर ने इसी पर आपत्ति करते हुए कहा था कि ऐसा नहीं है और ये संरचनाएं सामन्ती या पिछली उत्पादन पद्धतियों की अवशेष हैं, जो कि नयी व्यवस्था में समाप्त हो जाती हैं और उनके केवल अवशेष बचते हैं। हमने इसी का जवाब देते हुए कहा था कि यदि जाति व्यवस्था या पितृसत्ता सामन्तवाद का अवशेष हैं, तो वे सामन्तवाद से पहले क्या थे? इस मूल प्रश्न का उत्तर देने की बजाय श्यामसुन्दर झाड़ी पर डण्डे बरसा रहे हैं! अपने इस नये उत्तर में एक जगह उन्होंने इसका जवाब देने का प्रयास किया और एक हास्यास्पद नतीजे पर पहुंच गये: "सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल में भारत की उत्पादन व्यवस्था एक ही थी और वह थी जाति उत्पादन व्यवस्था।" इस अद्भुत रूप से अर्थहीन नतीजे की हम ऊपर चीर-फाड़ करते हुए बता चुके हैं कि यदि उत्पादन व्यवस्था एक ही थी, तो सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल के बीच श्यामसुन्दर फर्क कैसे करते हैं!** जैसा कि एक

बार फिर आप देख सकते हैं, बिल्ला ऊन के गोले में फंस गया है। इस पहले हास्यास्पद प्रयास के बाद श्यामसुन्दर दूसरा प्रयास करते हुए अपनी बात ही बदल देते हैं। देखें, इस बार वह क्या कह रहे हैं: "लेकिन अभिनव सिन्हा ने जानबूझकर पितृसत्तात्मकता, लिंग भेद यानी जेण्डर असमानता, जो वर्गों की उत्पत्ति की उपज है जो समाज के वर्ग विभाजन से अविच्छेद्य रूप में जुड़ी हुई है, को सामंतवाद और मध्युगीनता के अवशेषों के साथ एकाकार कर दिया है।" हमने श्यामसुन्दर के पहले पत्र से उद्धरण में दिखलाया है कि वास्तव में उन्होंने ऐसा किया है और इसीलिए तो उन्होंने यह सवाल पूछा था: "*'बिगुल' वाले साथी सामंती अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा यह नया रूप दिये जाने को ही हेगेल की आड़ लेकर शायद सामंतवाद के उत्सादन की संज्ञा दे डालें।*"

आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं: "सामाजिक असमानता समाज के वर्ग विभाजन से अस्तित्व में आयी है और उनका खात्मा भी वर्ग विभाजन के खात्मे के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन कोई विशिष्ट सामाजिक असमानता किसी समाज व्यवस्था के विशिष्ट रूप की उपज होती है और सामान्य रूप में उसकी निरंतरता अवशेष के रूप में बनी रहती है। उदाहरण के तौर पर सामंती असमानता, सामंतवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित होती है। पूंजीवादी जनवादी क्रांति सामंती उत्पादन प्रणाली को नष्ट करके पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली कायम कर देती है और पूंजीवादी असमानता पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित हो जाती है। लेकिन इसके साथ ही साथ सामंती असमानता और बंधन अवशेषों के रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में भी कायम रह जाते हैं...क्योंकि सामंतवाद और मध्युगीनता पर आधारित स्त्री असमानता और अधिकारहीनता का नामोनिशान मिटा देने के बाद भी स्त्री असमानता बनी रहती है जिसकी जड़ें समाज के वर्ग विभाजन में मौजूद हैं और जिसका पूर्ण खात्मा वर्गों के खात्मे के साथ जुड़ा हुआ है। समाज का प्रत्येक पुराना विशिष्ट रूप जब गुणात्मक रूप से नये विशिष्ट रूप में रूपांतरित हो जाता है तो पुराने के अवशेष नये में मौजूद रहते हैं और कुछ तो ऐसे होते हैं कि उनका बना रहना भी अनिवार्य होता है। यानी चाहकर भी उन्हें मनमाने ढंग से मिटाया नहीं जा सकता है।"

अब जैसाकि आप देख सकते हैं श्यामसुन्दर ने अपनी पूरी बात ही बदल ली है और चोर दरवाज़े से अपनी कठमुल्लावादी अवस्थिति में सुधार का प्रयास कर रहे हैं; लेकिन दुख की बात यह है कि साहस के साथ अपनी ग़लती को स्वीकार करने और उसे क्रांतिकारी तरीके से दूर करने की बजाय जब कोई चोर दरवाज़े से उसमें सुधारवादी उन्नीस-बीस करता है, तो वह और भी ज्यादा फंस जाता है। आइये देखते हैं कैसे। श्यामसुन्दर कहते हैं कि लैंगिक आधार पर पैदा हुई सामाजिक असमानता वर्ग समाज के साथ ही अस्तित्व में आयी, मगर अलग-अलग उत्पादन प्रणालियों के दौरान उसने अलग-अलग विशिष्ट रूप अख्तियार किया। एक विशिष्ट रूप खत्म हुआ, लेकिन दूसरा नया विशिष्ट रूप पैदा हो गया। **क्या इसी बात को हमने अपने इस तर्क के आधार के तौर नहीं कहा था कि इसी आधार पर हम सामन्ती पितृसत्ता और पूंजीवादी पितृसत्ता की बात कर सकते हैं? क्या इसी आधार पर यह नहीं कहा जायेगा कि जातिगत असमानता भी वर्ग समाज के साथ ही अस्तित्व में आयी थी और वर्ग समाज के साथ ही समाप्त होगी और यह अलग-अलग उत्पादन प्रणालियों के दौर में अलग-अलग रूप अख्तियार करेगी?** लेकिन श्यामसुन्दर हमारी इसी बात पर तो अपनी पहली आलोचना और फिर दूसरी आलोचना में उछल-कूद मचा रहे थे! यहां श्यामसुन्दर यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि कई अवशेष बचे रह जाते हैं और उनका बचा रहना अनिवार्य है। लेकिन अभी कुछ ही पृष्ठ पहले एक उद्धरण की ग़लत व्याख्या करके इन महोदय ने यह घोषणा की थी कि फ्रांस में पूंजीवादी क्रांति ने सामन्ती व्यवस्था का समूल और पूर्ण नाश कर दिया था; हालांकि लेनिन के हवाले से ही यह दिखलाया जा सकता है कि वास्तव में फ्रांस में भी सामन्ती अवशेष बने रहे थे और लेनिन ने उक्त स्थान पर सामन्ती राजनीतिक संस्थाओं के सन्दर्भ में बात की है, न कि सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के पूर्ण नाश के बारे में। **दूसरी बात, अगर ये अवशेष जो कि अनिवार्यत: बचे**

रहते हैं, नयी व्यवस्था में कायम रहते हैं तो वे कहां होते हैं? क्या वे आर्थिक आधार से बाहर कहीं पड़े रहते हैं, या फिर नयी व्यवस्था उनका पुन:संस्कार कर उन्हें अपने आर्थिक आधार में तन्तुबद्धीकृत कर लेती है? श्यामसुन्दर के अनुसार वह उनके वाले दूसरे आधार, यानी कि "समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार" में रहते हैं! हम पहले ही इस बेतुके सिद्धान्त की आलोचना पेश कर चुके हैं। लेकिन एक बार फिर से देख लेते हैं कि मार्क्स इसके बारे में क्या कहते हैं:

"Bourgeois society is the most advanced and complex historical organisation of production. The categories which express its *relations*, and an understanding of *its structure*, therefore, provide an insight into *the structure and the relations of production* of all formerly existing social formations the ruins and *component elements of which were used in the creation of bourgeois society.* Some of these unassimilated remains are *still carried on within bourgeois society*, others, however, which previously existed. only in rudimentary form, *have been further developed and have attained their full significance,* etc." (Marx, *Contribution to the Critique of Political Economy*)

हमने यह उद्धरण दोबारा इसलिए पेश किया कि श्यामसुन्दर की एकवाद (monism) के खिलाफ खड़ी 'दो आधारों की थीसिस' के गैर-द्वन्द्ववादी चरित्र को दिखला सकें। **लेकिन श्यामसुन्दर का जो लम्बा उद्धरण हमने ऊपर पेश किया, उसमें श्यामसुन्दर गलती से यह मान गये कि ये अवशेष भी नयी व्यवस्था के उत्पादन पद्धति का अंग बनते हैं: "लेकिन इसके साथ ही साथ सामन्ती असमानता और बंधन अवशेषों के रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में भी कायम रह जाते हैं।" झूठ बोलने के साथ यही झमेला होता है कि आप भूल जाते हैं कि आपने क्या झूठ बोला था। इसीलिए मार्क ट्वेन ने कहा था: "अगर आप कभी झूठ न बोलें तो आपको कभी कुछ याद नहीं रखना पड़ेगा।"** लेकिन मार्क ट्वेन की इस शिक्षा का असर बौद्धिक तौर पर बेईमान ऐसे टटपुंजिया मठाधीशों पर नहीं पड़ सकता है, जो कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के तहत झूठ बोलने, मिस्कोट करने, मिसरेप्रज़ेण्ट करने, बातें बदलने पर आमादा हों।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि स्त्रियों की असमानता कोई अवशेष नहीं है; यह वर्ग से नाभिनालबद्ध रूप में अस्तित्व में आयी है और यह उसी अर्थ में अवशेष हो सकती है, जिन अर्थों में एक दिन, यानी कम्युनिज्म की प्रारंभिक मंजिलों में, वर्ग विभाजन भी मार्क्स के शब्दों में "मानवता के प्रागैतिहास" के दौर का अवशेष बन जायेगा। यह एक सामाजिक-आर्थिक असमानता की व्यवस्था है, जो वर्ग समाज के अलग-अलग दौरों में अलग-अलग रूप में अख्तियार करती है। जाति व्यवस्था के बारे में, पितृसत्ता से तमाम भेद और तमाम सम्बन्ध होने के बावजूद, ठीक यही बात कही जा सकती है। यह वर्ग के साथ ही अस्तित्व में आयी थी, और इसे अवशेष केवल उन्हीं अर्थों में कहा जायेगा, जिन अर्थों में एक दिन वर्गों की व्यवस्था एक अवशेष बन जायेगी। जो बात पितृसत्ता पर श्यामसुन्दर लागू करने को मजबूर हो गये हैं, उस बात को तार्किक अप्रोच के तौर पर उन्हें जाति व्यवस्था पर भी लागू करना चाहिए। यही वह भयंकर विरोधाभास है, जिसका हमने ऊपर जिक्र किया था।

"अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के तहत श्यामसुन्दर ऊपर चोर दरवाज़े से की गयी स्वीकारोक्ति के बाद यह कहते हैं: "लेकिन अतीत की समाज व्यवस्थाओं के बचे क्या सभी अवशेष अनिवार्य होते हैं?" **माने कि, यह कौन कह रहा था? और जब कोई नहीं कह रहा था, तो आप किसका खण्डन कर रहे हैं? जब कोई नहीं कह रहा था, तो आप अपने सांचो पांजाओं के सामने फालतू की बाबागीरी कर रहे हैं, ताकि राजनीतिक लंगोट बच जाए! क्या मूर्खतापूर्ण प्रश्न है! यदि "सभी अवशेष" बचे रहेंगे तो किसी गुणात्मक परिवर्तन और उत्सादन की बात ही कहां रही?** मार्क्स का जो उद्धरण हमने ऊपर पेश किया है, मार्क्स ने स्वयं ही बताया है कि कुछ अवशेष समाप्त होंगे, कुछ नये रूप ग्रहण करके बचेंगे। एक सामाजिक-आर्थिक असमानता की व्यवस्था के रूप में जाति व्यवस्था के भी कुछ तत्व बचेंगे, उनमें से कुछ बचे रहेंगे, कुछ समाप्त हो जायेंगे और जो बचे रहेंगे वे भी मार्क्स के शब्दों में नया रूप ग्रहण करते हुए और विकसित होंगे और अपना पूर्ण महत्व प्राप्त करेंगे। हमने ठीक यही बात अपने शोध-पत्र में भी कही है, अपने पिछले जवाब में भी कही है और अब भी कह रहे हैं।

प्राचीन बुराई बनाम प्राचीन उत्पादन पद्धति: श्यामसुन्दर का सयानापन दिखाने का एक और मूर्खतापूर्ण प्रयास

आइये अब इस उपशीर्षक के अगले नुक्ते पर चलते हैं। श्यामसुन्दर ने अरविन्द ट्रस्ट के मुख्य पेपर से एक उद्धरण पेश किया है जिसमें हमने जाति व्यवस्था को एक प्राचीन बुराई कहा है; इस पर हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते अपनी गत्ते की तलवार लिए अपनी मरियल घोड़ी पर जिरह-बख्तर खड़खड़ाते हुए झूम उठे हैं! और झूमते-झूमते हमारी बात को यह महोदय इस प्रकार विकृत करते हैं: "शोध टीम के इस उद्धरण से पूर्णत: स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था की प्राचीन बुराई एक खास दौर की उत्पादन पद्धति थी जिसे नष्ट किया जाना संभव था पर ब्रिटिश शासकों ने उसे नष्ट नहीं किया और उसे पुन: संस्कारित करके अपने स्वार्थ में बनाये रखा।" हमने जो लिखा है वह यह है: "भारतीय समाज के लिए उपनिवेशीकरण का सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप यह था कि इसने जाति-व्यवस्था की प्राचीन बुराई को तो पुन:संस्कारित करके अपने हित में बनाए रखा, लेकिन पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। पुराने समाज के गर्भ में नैसर्गिक विकास के जो भ्रूण पल रहे थे--वे नष्ट हो गये।" **इस उद्धरण से कोई सस्ता नशा करने वाला व्यक्ति ही यह मतलब निकाल सकता है कि हम यह मानते हैं कि ब्रिटिश शासक जाति व्यवस्था को खत्म कर सकते थे। जिस व्यक्ति को एक 'वे ऑफ स्पीच' को समझने की भी तमीज़ न हो, और वह अपनी आत्मरक्षा में किसी भी बात की कोई भी मनमानी व्याख्या कर सकता हो, उससे आप कितनी देर तक बहस कर सकते हैं?** ऐसे व्यक्ति का मकसद बहस के ज़रिये विचारों का विकास तो होता ही नहीं है, वह तो बस अपनी इज्जत बचाने में लगा हुआ है और कठदलीली पर कठदलीली किये जा रहा है।

आगे श्यामसुन्दर आश्चर्यजनक रूप से उल्टी व्याख्या हम पर थोपने का प्रयास करते हैं: "अत: अभिनव सिन्हा अपने अध्ययन संस्थान की शोध टीम के इस उद्धरण से भी समझ सकते हैं कि जाति व्यवस्था प्राचीन और मध्य भारत की एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति थी जिसके आज सजातीय विवाह जैसे अवशेष बचे हुए हैं। पाठक साथी अब समझ सकते हैं कि अभिनव सिन्हा द्वारा हमारे ऊपर लगाया गया आरोप कि हमने 'स्त्रियों की अधिकारहीनता' संबंधी लेनिन का उद्धरण संदर्भों से काट कर दिया है एकदम निराधार है।" कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, श्यामसुन्दर ने क्या खूब जोड़ा! **मतलब यदि कोई जाति व्यवस्था को एक प्राचीन बुराई कह रहा है,**

तो इसका अर्थ है कि वह उसे एक उत्पादन व्यवस्था कह रहा है! मतलब कि 'प्राचीन बुराई' 'उत्पादन व्यवस्था' का पर्यायवाची है! ऐसे व्यक्ति के बारे में यह प्रश्न दिमाग़ में नहीं आता कि उसने मार्क्सवाद कहां पढ़ा है, बल्कि यह प्रश्न आता है कि उसने कौन-से स्कूल में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की है!

इसके बाद, पृष्ठ 50 के दूसरे पैरा में व्यवस्था और व्यवस्था के अवशेषों के भेद के बारे में श्यामसुन्दर हमें शिक्षित करने के लिए निकल पड़े हैं। यहां सबसे पहले तो हमारी अवस्थिति को तोड़ने-मरोड़ने से ही वह शुरुआत करते हैं और पहले की तरह यह बेबुनियाद दावा करते हैं कि जब हम जाति व्यवस्था के तीन आयामों की बात करते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम किसी एक समय में उसके किसी एक पहलू को प्रधान नहीं मानते हैं। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि अपनी ही बात में उलझ चुके श्यामसुन्दर कैसे जानबूझकर हमारी बात को तोड़-मरोड़ रहे हैं। यहां श्यामसुन्दर यह मूर्खतापूर्ण तर्क दुबारा दुहराते हैं कि मार्क्स ने अपने समय में आनुवांशिक श्रम विभाजन को ही जाति व्यवस्था का प्रमुख पहलू बताया था और इसलिए या तो यह आनुवांशिक श्रम विभाजन रहेगा, या फिर यह मानना पड़ेगा कि जाति व्यवस्था के केवल अवशेष बचे हैं! हमने इस कठमुल्लावादी तर्क पद्धति का खण्डन करते हुए ऊपर बताया था कि मार्क्स के समय में आनुवांशिक श्रम विभाजन ही प्रमुख तत्व था, तो मार्क्स वही बता सकते थे; उनके जीवनकाल से डेढ़ सौ साल बाद क्या होगा यह मार्क्स नहीं बता सकते थे; दूसरी बात, जाति व्यवस्था पर मार्क्स कोई शोध कार्य नहीं कर रहे थे; भारत के तमाम उम्दा मार्क्सवादी इतिहासकारों ने दिखलाया है कि यदि मार्क्सवादी पद्धति से ही विश्लेषण किया जाय तो हम देख सकते हैं कि एशियाई उत्पादन पद्धति (जिसके बारे में काफी बाद में पता चला कि मार्क्स स्वयं इस अवधारणा के बारे में संदेहग्रस्त हो चुके थे), जाति व्यवस्था के विषय में उनके कुछ बिखरे हुए प्रेक्षण जो कि उन्होंने कुछ अखबारी लेखन में पेश किये थे, सन्तुलित नहीं थे। लेकिन भोजपुरी की कहावत 'दादा कहिले रहलें कि सरसोइये लदिहा' की तर्ज़ पर श्यामसुन्दर 1850 के दशक में ही रह गये हैं! क्या मार्क्स के किसी विशिष्ट प्रेक्षण को स्वीकार न करना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का खण्डन है? नहीं! मार्क्स ने स्वयं अपने कई प्रेक्षणों को अपने जीवन काल में ही नये तथ्यों की रोशनी में बदला। खास तौर पर, ऐसे प्रेक्षणों के मामले में श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और समझ नहीं पाते की क्या मानें क्या न मानें और उनकी हालत उस चूहे जैसी हो जाती है जो 'काजू खाऊं की किशमिश खाऊं' की ऊहापोह में मारा गया था! इसी चक्कर में श्यामसुन्दर ने एक और ग़लत बात भी लिख दी है: "आज यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि आनुवांशिक श्रम विभाजन जिस पर जाति व्यवस्था खड़ी थी *पूरी तरह मिट चुका है* और फलस्वरूप अब जाति व्यवस्था एक व्यवस्था के रूप में अस्तित्व में नहीं है, इसके महज़ अवशेष बाकी हैं।"

पहली बात, आनुवांशिक श्रम विभाजन पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है; हालिया वर्षों में तमाम सर्वेक्षण आये हैं, जिनमें बताया गया है कि हज़ारों गांवों में आज भी आंशिक तौर पर आनुवांशिक श्रम विभाजन और अस्पृश्यता दोनों ही मौजूद है; हमने अपने पेपर में लिखा है कि ये पहलू क्षीण पड़ गये हैं और पूंजीवादी विकास के साथ खात्मे की ओर अग्रसर हैं। यही तथ्यत: सही बात भी है। लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर भौतिक विश्व की बजाय ज्यादातर अपने "समूचे सामाजिक उत्पादन के आधार" के काल्पनिक जगत में फरिश्तों की तरह तैरते रहते हैं, इसलिए उन्हें भारतीय समाज की ठोस सच्चाई के बारे में पता नहीं है।

दूसरी बात, जाति व्यवस्था एक सामाजिक-आर्थिक असमानता की व्यवस्था के रूप में अस्तित्व में नहीं है, यह भी श्यामसुन्दर का ग़ज़ब का तर्क है; मतलब, अगर ऐसी बातों को हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र

"दिन के उजाले की तरह साफ" मानते हैं, तो कहना पड़ेगा कि वह राजनीतिक, सामाजिक अन्धेपन के भयंकर तरीके से शिकार हैं।

तीसरी बात, क्या सजातीय विवाह के सम्बन्ध का आर्थिक सम्बन्धों से कोई रिश्ता है? क्या इसका समाज के भौतिक आधार से कोई रिश्ता है? जी हां है! यदि कोई यह भी मानता है कि एक अवशेष के तौर पर बस सजातीय विवाह ही बचा रह गया है, तो उसे मानना पड़ेगा कि इसका एक भौतिक और आर्थिक आयाम है। किसी भी विशेष प्रकार की विवाह की सामाजिक व्यवस्था समाज के पुनरुत्पादन के सम्बन्धों से जुड़ी होती है। एंगेल्स लिखते हैं:

"According to the materialist conception, the determining factor in history is, in the final instance, ***the production and reproduction of immediate life. This, again, is of a twofold character: on the one side, the production of the means of existence, of food, clothing and shelter and the tools necessary for that production; on the other side, the production of human beings themselves, the propagation of the species."*** (Engels, *Origin of Family, Private Property and the State*)

एक अन्य स्थान पर एंगेल्स इसी बात को दुहराते हैं:

"According to the materialist conception of history, *the ultimately determining element in history is* ***the production and reproduction of real life.*** More than that neither Marx nor I have ever asserted. Hence if somebody twists this into saying that the economic element is the only determining one, he transforms that proposition into a meaningless abstract senseless phrase."

यदि श्यामसुन्दर के समान यदि कोई यही मानता है कि केवल सजातीय विवाह की व्यवस्था ही जाति व्यवस्था में बची हुई है और आनुवांशिक श्रम विभाजन पूरी तरह से समाप्त हो चुका है, तो भी उसे मानना पड़ेगा कि इसका रिश्ता समाज के भौतिक आधार से है; यह कोई अधिरचनात्मक या किसी अन्य प्रकार का "अवशेष" मात्र नहीं है; लेकिन क्या हम श्यामसुन्दर से यह उम्मीद कर सकते हैं कि वह अपने आर्थिक नियतत्ववाद और कठमुल्लावाद को छोड़कर एक द्वन्द्वात्मक अवस्थिति अपना सकते हैं? जैसा कि माओ ने कठमुल्लावादियों के बारे में कहा था: "चूंकि व्योम कभी नहीं बदलता, इसलिए ताओ भी कभी नहीं बदलता।" (याद रखें: कहावत!) हम अपने कुरुक्षेत्र के दोन किहोते के बारे में आज यह कह सकते हैं: "चूंकि व्योम कभी नहीं बदलता, इसलिए श्यामसुन्दर भी कभी नहीं बदलते।" लेकिन बस दिक्कत यह है कि व्योम तो बदलता है, लेकिन श्यामसुन्दर वहीं रह जाते हैं, जहां थे!

हमारी अवस्थितियों को विकृत करने के उपक्रम से श्यामसुन्दर कभी थकते नहीं है; श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अत: स्पष्ट है कि सजातीय विवाह की प्रथा को यह संगठन अतीत की जाति व्यवस्था का अवशेष न मानकर

महज़ उसी के आधार पर एक नयी जाति व्यवस्था यानी 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' को खड़ा कर रहा है।" हमने कहीं भी 'नयी' या 'पुरानी जाति व्यवस्था' की बात नहीं की है; हमने यह कहा है कि जाति व्यवस्था एक शोषणकारी सामाजिक-आर्थिक संरचना (structure) के तौर पर बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ बदलते हुए तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों के साथ तन्तुबद्धीकृत होती रही है; इसमें कुछ निरंतरता के तत्व बने रहे हैं, कुछ परिवर्तन के तत्व हैं। जो तत्व नयी व्यवस्था के साथ मेल नहीं खाते, वे समाप्त हो जाते हैं और जो तत्व नयी व्यवस्था के साथ मेल खाते हैं, वे बने रहते हैं।

श्यामसुन्दर की उपलब्धि और अवशेष का सिद्धान्त: अज्ञानता के चरम शिखर पर नायकत्वपूर्ण एकाकीपन में श्यामसुन्दर

इसके बाद श्यामसुन्दर एक और आविष्कार करते हैं। वह "उपलब्धियों" और "अवशेषों" का एक सिद्धान्त पेश करते हैं। वह आदिम भौतिकवाद के भाववाद द्वारा निषेध और फिर आधुनिक विज्ञान की "उपलब्धियों" से लैस होकर आधुनिक भौतिकवाद द्वारा भाववाद के निषेध, या निषेध का निषेध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में एंगेल्स का एक उद्धरण पेश करते हैं (श्यामसुन्दर का जवाब, पृष्ठ 51)। श्यामसुन्दर ने इस बहस में एक बात एकदम तय कर रखी है और वह यह कि चाहे जो भी हो जाए, वह यह साबित करके रहेंगे कि उन्हें निषेध का निषेध का द्वन्द्ववाद का नियम बिल्कुल समझ में नहीं आता है! आइये देखते हैं कि एंगेल्स के उक्त उद्धरण का श्यामसुन्दर ने क्या नतीजा निकाला है। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "ठीक इसी प्रकार जब किसी एक विशिष्ट समाज व्यवस्था का निषेध करते हुए नयी समाज व्यवस्था अपने अस्तित्व में आती है, तो वह अपने से पूर्व की तमाम व्यवस्थाओं की उपलब्धियों को अपने अंदर संजोये हुये होती है। उपलब्धियों के इलावा कुछ ऐसी चीज़ें भी होती हैं जिनका नयी समाज व्यवस्था के साथ सामंजस्य नहीं होता है। पर वे भी अतीत की व्यवस्थाओं के अवशेषों के रूप में मौजूद रहते हैं। अतीत की व्यवस्थाओं की उपलब्धियां और अवशेष पूंजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था में भी मौजूद होते हैं।"

आगे श्यामसुन्दर अवशेषों और उपलब्धियों पर पूरा सिद्धान्त दे मारते हैं! देखें वह क्या हवाबाज़ी ठेल रहे हैं: "अभिनव सिन्हा पहले की समाज व्यवस्था से अगली समाज व्यवस्था में आने वाली उपलब्धियों और अवशेषों में भेद नहीं करते। पूर्व की व्यवस्था के निषेध से अगली व्यवस्था में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की चीज़ें आती हैं। सकारात्मक को अगली व्यवस्था अपने फलने-फूलने का आधार बनाती है, उसे और बढ़ाती है तथा नकारात्मक चीजों को यानी जिन से आने वाली व्यवस्था का मेल और सामंजस्य नहीं है यानी जो उस व्यवस्था के फलने-फूलने में अवरोध का काम करते हैं, उन्हें वह व्यवस्था यथासम्भव हटाने का काम करती है।" अब इन दिव्य उद्गारों पर थोड़ा विचार कर लेते हैं।

हमने अपने पिछले जवाब में ही कहा था कि एस.यू.सी.आई. के नैतिकतावादी 'सेण्टिमेण्टलिस्ट' वामपंथ का असर श्यामसुन्दर पर से समाप्त नहीं हुआ है; या शायद बढ़ ही गया है! यहां उन्होंने अपनी उसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। एंगेल्स ने एक विशिष्ट प्रक्रिया के उदाहरण में "उपलब्धियों" शब्द का जिक्र किया है; एंगेल्स ने बताया है कि किस प्रकार आदिम भौतिकवाद आधुनिक विज्ञान की खोजों से लैस न होने के कारण भाववाद से द्वन्द्व में पराजित हो गया था और उसका भाववाद द्वारा निषेध हो गया था; जबकि आधुनिक भौतिकवाद ने आधुनिक विज्ञान के इस विकास को आत्मसात किया और भाववाद को पराजित किया। **वैसे एंगेल्स ने कहीं उपलब्धि शब्द का प्रयोग नहीं किया है, लेकिन श्यामसुन्दर को एक नयी थ्योरी चेंपनी थी इसलिए उन्होंने "उपलब्धि" शब्द को एंगेल्स पर आरोपित कर दिया है। बात, उपलब्धि की या हानि की,**

सकारात्मक की या नकारात्मक की है ही नहीं। सकारात्मक की बात केवल और केवल समूचे मानव विकास के दीर्घकालिक इतिहास के रूप में कही जा सकती है, जिस प्रकार कि उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ आदिम कम्युनिस्ट समाज का विघटन ऐतिहासिक तौर पर एक आगे बढ़ा हुआ कदम था, या प्रत्यक्ष उत्पादकों की छोटी निजी सम्पत्ति का नाश एक ऐतिहासिक रूप से आगे की ओर बढ़ा हुआ कदम था। लेकिन स्वयं मार्क्स ने इन प्रक्रियाओं के तत्कालीन नकारात्मक प्रभावों की विस्तार से चर्चा की है। इन्हें मार्क्स ने कहीं भी "उपलब्धि" जैसा कोई नाम नहीं दिया न ही उन्होंने "उपलब्धि" और "अवशेष" जैसा कोई निरर्थक रूपक दिया है। अगर श्यामसुन्दर ने निषेध का निषेध का जो ठीक अगला उदाहरण एंगेल्स ने दिया है, उसे पढ़ा होता तो ऐसी बचकानी बात नहीं करते। आइये देखते हैं कि एंगेल्स क्या लिखते हैं:

"Finally: Even the Rousseau doctrine of equality – of which Dühring's is only a feeble and distorted echo – could not have seen the light but for the midwife's services rendered by the Hegelian negation of the negation {502-03} – though it was nearly twenty years before Hegel was born. And far from being ashamed of this, the doctrine in its first presentation bears almost ostentatiously the imprint of its dialectical origin. In the state of nature and savagery men were equal; and as Rousseau regards even language as a perversion of the state of nature, he is fully justified in extending the equality of animals within the limits of a single species also to the animal-men recently classified by Haeckel hypothetically as Alali: speechless. But these equal animal-men had one quality which gave them an advantage over the other animals: perfectibility, the capacity to develop further; and this became the cause of inequality. So Rousseau regards the rise of inequality as progress. But this progress contained an antagonism: it was at the same time retrogression. "All further progress" (beyond the original state) "meant so many steps seemingly towards the perfection of the individual man, but in reality towards the decay of the race... Metallurgy and agriculture were the two arts the discovery of which produced this great revolution" (the transformation of the primeval forest into cultivated land, but along with this the introduction of poverty and slavery through property). "For the poet it is gold and silver, but for the philosopher iron and corn, which have civilised men and ruined the human race." Each new advance of civilisation is at the same time a new advance of inequality. All institutions set up by the society which have arisen with civilisation change into the opposite of their original purpose. "It is an incontestable fact, and the fundamental principle of all public law, that the peoples set up their chieftains to safeguard their liberty and not to enslave them."

And nevertheless the chiefs necessarily become the oppressors of the peoples, and intensify their oppression up to the point at which inequality, carried to the utmost extreme, again changes into its opposite, becomes the cause of equality: before the despot all are equal – equally ciphers. “Here we have the extreme measure of inequality, the final point which completes the circle and meets the point from which we set out: here all private individuals become equal once more, just because they are ciphers, and the subjects have no other law but their master's will.” But the despot is only master so long as he is able to use force and therefore “when he is driven out”, he cannot “complain of the use of force... Force alone maintained him in power, and force alone overthrows him; thus everything takes its natural course”. *And so inequality once more changes into equality; not, however, into the former naive equality of speechless primitive men, but into the higher equality of the social contract. The oppressors are oppressed. It is the negation of the negation.* Already in Rousseau, therefore, we find not only a line of thought which corresponds exactly to the one developed in Marx’s Capital, but also, in details, a whole series of the same dialectical turns of speech as Marx used: processes which in their nature are antagonistic, contain a contradiction; transformation of one extreme into its opposite; and finally, as the kernel of the whole thing, the negation of the negation" (Engels, *Anti-Duhring*)

आइये अब इस उदाहरण पर श्यामसुन्दर का "उपलब्धियों" का सिद्धान्त लागू करते हैं। मतलब, एक समय में आदिम समानता की स्थिति थी; यह आदिम समानता की स्थिति उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ टूटी; सभ्यता और उत्पादन के हर विकास के साथ असमानता बढ़ती गयी; यह बढ़ते-बढ़ते एक ऐसे हद तक पहुंची जहां पर दमित-शोषित आबादी इस रूप में समानतापूर्ण हो गयी कि शोषकों के समक्ष व एकसमान थी: सिफर के समान। इसके साथ ही शोषकों का शासन जो कि बल पर कायम है, इस आबादी द्वारा बल के बूते ही ध्वस्त कर दिया जाता है और असमानता से एक बार फिर से समानता के दौर में प्रवेश होता है, लेकिन आदिम समानता के दौर में नहीं बल्कि एक नयी उन्नत समानता के दौर में। **जैसे कि श्यामसुन्दर ने एंगेल्स के पहले उदाहरण पर अपनी उपलब्धियों का सिद्धान्त लगाया है, हम इस उदाहरण पर लगाएं तो क्या नतीजा निकलता है? असमानता के पूरे दीर्घकालिक दौर में असमानता अधिक व्यापक और सघन होती जाती है और इस हद तक पहुंच जाती है, जिसमें केवल एक ही असमानता रह जाती है जो कि शासकों और शोषितों के बीच रहती है, जबकि शोषित इस मायने में समान हो जाते हैं कि शासक वर्ग के बरक्स वे सभी एकसमान रूप में शून्य के समान होते हैं; *श्यामसुन्दर के अनुसार, असमानता के पूरे दौर में (वर्ग समाज में) शोषण और उत्पीड़न का इस रूप में सघन और व्यापक होते जाना वर्ग समाज की उपलब्धि है जिससे समृद्ध होकर वर्गविहीन समाज अस्तित्व में आता है!!*** ऐसी तर्क पद्धति के बारे में क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार मार्क्स ने निषेध का निषेध के नियम के लागू होने के एक उदाहरण के तौर पर लिखा था:

"Thesis: Feudal monopoly, before competition.

"Antithesis: Competition.

"Synthesis: Modern monopoly, which is the negation of feudal monopoly, in so far as it implies the system of competition, and the negation of competition in so far as it is monopoly." (Marx, *Poverty of Philosophy*)

श्यामसुन्दर के "उपलब्धियों और अवशेषों" के अनुसार सामन्ती एकाधिकार के निषेध के तौर पर प्रतिस्पर्द्धा पैदा हुई, और प्रतिस्पर्द्धा अपने आन्तरिक नियम से ही प्रत्यक्ष उत्पादक की निजी सम्पत्ति को तबाह करती जाती है, उनको उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ती जाती है, और व्यापक पैमाने पर एक ओर बड़ी पूंजीवादी निजी सम्पत्ति की रचना करती है तो वहीं दूसरी ओर सर्वहाराओं की भारी बहुसंख्या को जन्म देती है। ***श्यामसुन्दर के अनुसार, प्रत्यक्ष उत्पादकों का तबाह होना और उसका आधुनिक इजारेदारी के युग में पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के साथ सर्वहारा वर्ग के रूप में परिणत होना, पिछले युग की "उपलब्धि" थी!*** मार्क्स ऐसे नैतिकतावादी और एथिकलिस्ट अर्थों में न तो ऐतिहासिक प्रक्रिया को देखते हैं और न ही प्राकृतिक प्रक्रिया को। मार्क्स एक वस्तुपरक समाज वैज्ञानिक के समान वस्तुओं की गति में परस्पर विरोधी पहलुओं का द्वन्द्व और उस द्वन्द्व के परिणाम के तौर पर एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण, यानी निषेध का निषेध की प्रक्रिया को उसकी वस्तुपरकता में देखते हैं। हमने अपने पिछले जवाब में भी बताया था कि श्यामसुन्दर के पास यह क्षमता ही नहीं है, क्योंकि एसयूसीआई के कठमुल्लावादी और सेण्टिमेण्टल मार्क्सवाद से नाड़ कभी कटी ही नहीं! **ऐसे में, "उपलब्धियों और अवशेषों" के श्यामसुन्दरीय सिद्धान्त को हम केवल मनोरंजन के लिए लागू करने का प्रयास कर सकते हैं; पाठकों के समक्ष हम इसका एक प्रयोग करना चाहेंगे: श्यामसुन्दर की यह "उपलब्धि" है कि उनके दिमाग़ में बुनियादी तर्कणा का "अवशेष" भी नहीं बचा है!**

भाववादी दर्शन के अवशेषों के विषय में श्यामसुन्दर का अज्ञानतापूर्ण "चिन्तन"

जब आप ऐसे बचकाने सिद्धान्त प्रतिपादित करेंगे, तो ज़ाहिर है कि आपके दिमाग़ में पड़ा आधिभौतिकवादी कचरा भी किसी न किसी दरार से निकल ही जायेगा। श्यामसुन्दर के अनुसार, दार्शनिक तौर पर भाववाद मार्क्सवादी भौतिकवाद से पराजित हो चुका है; सही बात है। फिर श्यामसुन्दर खुद ही पूछते हैं कि तो फिर आज तक समाज में भाववादी विचारों जैसे कि अन्धविश्वास आदि का प्रभाव कैसे मौजूद है। **इसका वह यह जवाब देते हैं: "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने धर्म और भाववादी दर्शन का निषेध कर दिया है और आज ये अन्धविश्वासों के रूप में ही लोगों के दिलो-दिमाग़ पर छाये हुए हैं और दुनिया भर का शासक पूंजीपति वर्ग अन्धविश्वास रूपी इन अवशेषों को अपने स्वार्थ में बनाये रखे हुए है और इन्हें नया-नया रूप देकर शोषित-पीडित जनता की चेतना को धर्म और भाववाद के चौखटे में सीमित किये हुए है।" यानी कि यदि दार्शनिक तौर पर पराजित होने के बावजूद यदि आज भी अन्धविश्वास बने हुए हैं और जनता के बीच उनका प्रभाव है, तो इसका अर्थ है कि वह पूंजीपति वर्ग की साज़िश है और वह महज़ भाववाद का अवशेष है, स्वयं भाववाद समाप्त हो चुका है क्योंकि श्यामसुन्दर के अनुसार तो निषेध से वह वस्तु ही समाप्त हो जाती है।** क्या आप मान सकते हैं कि पिछले 50 पृष्ठ से ऐसा व्यक्ति ऐतिहासिक भौतिकवाद के बारे में उपदेश दिये जा रहा है? **मार्क्स और लेनिन ने बताया कि धार्मिक अन्धविश्वास इसलिए कायम रहते हैं क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था और समाज के**

रहते, उसके भौतिक कारण मौजूद होते हैं। यही कारण है कि मार्क्स के लिए यह "जनता के लिए अफीम" के साथ-साथ "उत्पीड़ित जन की आत्मा की कराह" भी है; लेनिन ने भी बताया कि यदि पूंजीपति वर्ग के षड्यन्त्र के कारण धार्मिक ढकोसले और अन्धविश्वास बने हुए रहते तो उसे कम्युनिस्ट प्रचार, शिक्षण और प्रशिक्षण से मिटाया जा सकता था; लेकिन समाज में जब तक शोषण, उत्पीड़न, गैर-बराबरी, असुरक्षा और अनिश्चितता होगी, तब तक धर्म और अन्धविश्वास की भौतिक ज़मीन मौजूद रहेगी। यही कारण है कि लेनिन ने कम्युनिस्टों को धर्म-विरोधी प्रचार करने की व्यर्थता के बारे में बताया और कहा कि समाजवादी समाज के विकसित मंजिलों में पहुंचने के साथ और समाजवादी समाज में पैदा हुई, पली-बढ़ी एक नयी पीढ़ी के आने के साथ धर्म और अन्धविश्वास स्वयं ही कम होते जाएंगे। लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि कम्बख्त पूंजीपति वर्ग अपने स्वार्थ के लिए धर्म और अन्धविश्वास को बनाये हुए है और इधर-उधर कूदते हुए अपना लट्ठ तलाशने लगते हैं! **समाज में मौजूद (और वस्तुगत कारणों से मौजूद) धार्मिक ढकोसले और अन्धविश्वास का पूंजीपति वर्ग पुन:संस्कार करके, या ज्यों का त्यों बनाये रखकर, इस्तेमाल करता है, यह एक अलग बात है। लेकिन यह कहना कि पूंजीपति वर्ग ही इसे बनाये हुए है, एक युवा हेगेलवादी भाववादी दृष्टिकोण है जो कि चीज़ों को उनकी भौतिकता में नहीं देख पाता।** देखिये माओ ने इसके बारे में क्या लिखा है:

"It is obviously incorrect to maintain as some people do that the contradiction between idealism and materialism can be eliminated in a socialist or communist society. As long as contradictions exist between the productive forces and the conditions of production, the contradiction between materialism and idealism will continue in a socialist or communist society and will manifest itself in various forms."

इसी से एक दूसरी बात यह भी द्वन्द्वात्मक तर्क से ही निकलती है कि चूंकि समाज में इन भाववादी विचारों का प्रभाव बना हुआ है और भाववाद की उत्तरजीविता की ज़मीन बनी हुई है (भले ही तर्क और विज्ञान के धरातल पर आधुनिक भाववाद उसे हरा चुका हो), इसलिये मार्क्सवाद-लेनिनवाद के भीतर भी वह विजातीय प्रवृत्तियों के तौर पर प्रवेश करती रहती है और इनसे संघर्ष करके ही मार्क्सवादी भौतिकवाद अपने आपको और भी विकसित करता है और आज कर भी रहा है। इसकी सबसे बड़ी मिसाल है हाइड्रोन कोलाइडर प्रयोग के शुरू होने के बाद ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को लेकर और विशेष तौर पर भौतिकवाद को लेकर शुरू हुई बहस। इस बहस में किस प्रकार भौतिकवाद और भाववाद का संघर्ष आज भी जारी है, इसे आप इन लिंक पर देख सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/324

http://ahwanmag.com/Modern-physics-and-development-of-materialism

वास्तव में, समाज में सभ्यता (यानी वर्ग समाज) के इतिहास के साथ ही भाववाद और भौतिकवाद के दो महान शिविरों के बीच जो संघर्ष शुरू हुआ था, वह समाज के वर्गों में विभाजित होने और वर्गों के बीच के संघर्ष का ही दार्शनिक प्रतिबिम्बन था। यह संघर्ष भी बदलते हुए वर्ग समाजों में अपने रूपों को बदलते हुए जारी रहता है। कारण यह है कि वर्ग समाज के मौजूद रहते, प्रतिक्रियावादी वर्ग हमेशा ही भाववादी दर्शन को पालते-पोसते हैं, उसे नये संश्लिष्ट रूपों में पेश करते रहते हैं और भौतिकवादी दृष्टिकोण के भीतर भी भाववादी विचारों की घुसपैठ करते रहते हैं। लेकिन श्यामसुन्दर एक पटवारी के समान सोचते हैं: उनको लगता है कि ये

भाववाद बनाम भौतिकवाद वाला बहीखाता तो 19वीं सदी में निपट गया था; अब तो बस इसके अवशेष बचे हैं, जिनको पूंजीपति वर्ग साजिश से बनाए रखता है! जैसा कि आप देख सकते हैं कि हमारे वामपंथी पटवारी को बस एक चीज़ नहीं आती है: द्वन्द्ववाद।

यही कारण है कि श्यामसुन्दर को लगता है कि हम हर विकास में "उपलब्धि और अवशेष" क्यों नहीं देख पा रहे हैं! जैसे कि हमने यह क्यों लिखा: "इसलिए उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन का अर्थ होता है, नया पुराने का उत्साद या determinate negation करता है, यानी जैसाकि लेनिन ने लिखा है, पुराने में जो विकास की नयी अवस्था के अनुसार जीवक्षम (viable) है, नया उसे सहयोजित करता है और उसे अपने अनुसार रूपान्तरित करता है।" श्यामसुन्दर को आपत्ति है कि हमने जीवक्षम (viable) की जगह "उपलब्धि" क्यों नहीं लिखा! वह समझ ही नहीं पाते कि उपलब्धि या अवशेष, सकारात्मक या नकारात्मक का प्रश्न ही नहीं है; पूंजीवाद से साम्राज्यवाद में विकास पूंजी के संघनन और संकेन्द्रण (concentration and centralization) के कारण हुआ और प्रतिस्पर्द्धा का निषेध हुआ और इजारेदारी पैदा हुई, तो लेनिन इसमें धर्मशास्त्री के समान अच्छा और बुरा, सकारात्मक और नकारात्मक, उपलब्धि और अवशेष नहीं तलाशते हैं; वह इस प्रक्रिया को उसकी भौतिकता और वस्तुपरकता में परखते हैं और साम्राज्यवाद के युग में सर्वहारा क्रांति की नयी रणनीति और आम रणकौशल बताते हैं। एक मार्क्सवादी समाज वैज्ञानिक और क्रांतिकारी के तौर पर वह यही कर सकते हैं और उन्हें यही करना चाहिए और उन्होंने यही किया। लेकिन श्यामसुन्दर नाराज़ हो जाएंगे: "इसमें मेरी उपलब्धि और अवशेष कहां चले गये?" तो जैसा कि हमने पहले इंगित किया कि श्यामसुन्दर की यही "उपलब्धि" है कि उनके मस्तिष्क में तर्क और विज्ञान का कोई "अवशेष" भी नहीं बचा है। यही श्यामसुन्दर के "उपलब्धि और अवशेष" के सिद्धान्त के लागू हो पाने का एकमात्र सम्भव उदाहरण प्रतीत होता है!

अब हम अगले उपशीर्षक में श्यामसुन्दर द्वारा पेश किये गये उन विचारों पर आते हैं, जिसका मूल बिन्दु यह है कि क्या निजी सम्पत्ति की मौजूदगी के बिना पूंजी और पूंजीवाद का अस्तित्व सम्भव है? श्यामसुन्दर का मानना है कि निजी सम्पत्ति की मौजूदगी के बिना पूंजीवाद "हवा में लटक जायेगा"! चलिये देखते हैं कि इस मसले पर श्यामसुन्दर ने क्या गुल खिलाए हैं।

9. सामाजिक असमानता को समाप्त करने में कानूनों की भूमिका, पूंजीवाद में निजी सम्पत्ति का स्थान और श्यामसुन्दर के मनोरंजक विचार

'गलत धारणाओं को विकसित करने के मामले में मूर्खता एक प्रतिभा होती है।'

-एडगर एलन पो

जी हां, मनोरंजक विचार! क्योंकि इन्हें पढ़कर आपका कोई ज्ञानवर्द्धन तो नहीं होता, मगर मनोरंजन ज़रूर होता है। लेकिन यह भी है कि ऐसे मनोरंजन से बचा जाना चाहिए। श्यामसुन्दर पर हमने उनके अनुसार "दो आरोप" लगाए थे: पहला यह कि श्यामसुन्दर को लगता है कि कानूनों के ज़रिये (ज़ाहिरा तौर पर, हम यहां मानकर चल रहे हैं, कि उन्हें बनाकर और उन्हें लागू करके) सामाजिक असमानता को समाप्त किया जा सकता है; दूसरा यह कि श्यामसुन्दर को यह नहीं पता कि निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद का अस्तित्व सम्भव है। इन आरोपों का आधार श्यामसुन्दर का यह उद्धरण था: "हम समझते हैं कि सड़कों की लड़ाई का असली तात्पर्य मेहनतकश दलित जातियों और 'सवर्ण' जातियों के तमाम मज़दूरों, मेहनतकशों, ग़रीब किसानों, आदिवासियों यानी अलग-अलग प्रकार से तमाम शोषितों-पीड़ित लोगों द्वारा संगठनबद्ध होकर सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष होगा। पूंजीवादी सत्ता की जगह दलितों-शोषितों पीड़ितों की सत्ता की स्थापना करनी होगी; राजनीतिक शक्ति उनके हाथों में आनी होगी जिसका मतलब है कि राष्ट्र के तमाम प्राकृतिक संसाधन, भूमि और उत्पादन के तमाम साधनों का नियंत्रण उनके हाथों में केन्द्रित होगा। इसके बाद ही वे समाज में व्याप्त तमाम प्रकार की ऊंच नीच और गैर-बराबरी को, चाहे सामाजिक हो चाहे आर्थिक वांछित कदम उठाते हुए, कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए मिटा सकते हैं।"

पहले आरोप के बारे में श्यामसुन्दर लिखते हैं: "हमने कतई यह नहीं लिखा कि सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का सारा रूपांतरण केवल कानूनों के ज़रिये हो जायेगा। हमने वहां दो बात लिखी है जिसमें पहली बात है 'वांछित कदम उठाते हुए' और दूसरी है 'कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए'। सबसे महत्वपूर्ण बात यहां यह है कि हमने यहां ये बातें दलितों के शोषण-उत्पीड़न और उनकी गैर-बराबरी के संदर्भ में लिखी हैं, न कि इस संदर्भ में कि समाजवादी क्रांति करने के बाद कानूनों के ज़रिये हम साम्यवाद में प्रवेश कर जाएंगे। दलितों के संदर्भ में सामाजिक ऊंच-नीच तो पहले ही खत्म हो सकती थी यदि हमारे देश में बुर्जुआ जनवादी क्रांति क्रांतिकारी स्वरूप लेकर अपनी निर्णायक मंजिल पर पहुंच जाती और जहां तक आर्थिक गैर-बराबरी का प्रश्न है तो यहां इसका सिर्फ मतलब यह है कि मानव द्वारा मानव का शोषण खत्म कर दिया जायेगा। जिसका सीधा-सा मतलब यह है कि उजरती गुलामी को समाप्त कर दिया जायेगा।" इसके बाद श्यामसुन्दर फिर से लेनिन का वही उद्धरण पेश करते हैं (अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर दिये गये भाषण से) जिसमें लेनिन बता रहे हैं कि स्त्रियों की अधिकारहीनता आदि को किस प्रकार सोवियत सत्ता ने कानून बनाकर समाप्त किया। आइये अब श्यामसुन्दर के आत्मरक्षा के इस प्रयास पर थोड़ा नज़दीकी से ग़ौर करें।

पहली बात, यदि आप श्यामसुन्दर के उक्त उद्धरण को पढ़ें तो यह साफ हो जाता है कि वह केवल दलितों के उत्पीड़न और उनकी बराबरी के सन्दर्भ में बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि समाजवाद की स्थापना की

बात कर रहे हैं। वह स्पष्ट लिखते हैं कि दलित और सवर्ण जातियों के मज़दूरों, मेहनतकशों, आदिवासियों आदि की *राजनीतिक सत्ता* कायम करने पर क्या किया जायेगा। श्यामसुन्दर यहां सफेद झूठ बोल रहे हैं।

दूसरी बात, वह लेनिन के समान *राजनीतिक अधिकारों* की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि *सामाजिक असमानता* समाप्त करने की बात कर रहे हैं। हमने अपने पिछले जवाब में दिखलाया था कि लेनिन ने अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर दिये गये भाषण में स्त्रियों की सामाजिक असमानता को कानून बनाकर खत्म करने की बात नहीं की थी, बल्कि उनके राजनीतिक अधिकारों की बात की थी। देखें कि समाजवाद के दौर में लेनिन ने स्त्रियों की सामाजिक असमानता के बारे में क्या लिखा था:

"*...लेकिन केवल कानून, निश्चित तौर पर पर्याप्त नहीं हैं और हम महज़ आज्ञप्तियों से सन्तुष्ट नहीं हैं...हम अपने आपको बताते हैं, कि यह, जाहिरा तौर पर केवल एक शुरुआत है।*

"घर में अपने कार्य के कारण स्त्री अभी भी मुश्किल स्थिति में है। *उसकी पूर्ण मुक्ति को असलियत बनाने और उसे पुरुष के बराबर बनाने के लिए घरेलू कार्य का समाजीकरण करना और सामान्य उत्पादक श्रम में स्त्रियों की हिस्सेदारी अनिवार्य है।*" (लेनिन, *दि टास्क ऑफ वर्किंग विमेंस मूवमेण्ट इन दि सोवियत रिपब्लिक,* 1919, ज़ोर हमारा)

और देखें कि लेनिन ने समाजवाद के दौर में स्त्रियों की सामाजिक असमानता के बारे में क्या लिखा है:

"*स्त्रियों को मुक्त करने वाले सारे कानूनों के बावजूद, वह अभी भी एक घरेलू दासी है,* क्योंकि निम्न घरेलू कार्य उसे कुचल देता है, उसका गला घोंट देता है, उसे बेकार बना देता है और उसे हीन बनाता है, उसे किचन और नर्सरी से बांध देता है, और वह बर्बर रूप में अनुत्पादक, निम्न, थकाकर चूर कर देने वाले, बेकार बना देने वाले और कुचल देने वाले ऊबाऊ कार्यों में अपने श्रम को बरबाद करती है। *स्त्रियों की असली मुक्ति, असली कम्युनिज्म, वहां और तब शुरू होगा जब एक निर्णायक संघर्ष (सर्वहारा वर्ग के राज्यसत्ता के नेतृत्व में) शुरू होगा, इस निम्न घर प्रबंधन के काम के खिलाफ, या तब जबकि बड़े पैमाने की सामाजवादी अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर रूपान्तरण शुरू हो जायेगा।* (लेनिन, *दि ग्रेट बिगेनिंग,* 1919, जोर हमारा)

और भी देखें:

"कामगार औरतों के आन्दोलन का प्रमुख कार्यभार है केवल औपचारिक समानता के लिए नहीं बल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता के लिए लड़ना। मुख्य बात है औरतों को सामाजिक रूप से उत्पादक श्रम में भागीदार बनाना, उन्हें "घरेलू दासता" से मुक्त करना ताकि उन्हें किचन और नर्सरी के पुराने ऊबाऊ कार्य के बेकार बना देने वाली और अपमानजनक अधीनता से मुक्त किया जा सके।

"*यह संघर्ष काफी लंबा होगा और यह सामाजिक तकनीक और नैतिकता दोनों के लिए आमूलगामी पुनर्निर्माण की मांग करता है। लेकिन यह कम्युनिज्म की पूर्ण विजय के साथ ही समाप्त होगा।*" (लेनिन, *ऑन इण्टरनेशनल वर्किंग विमेंस डे,* 1920)

लेनिन के ऐसे बीसों उद्धरण पेश किये जा सकते हैं, जिसमें कि वे बताते हैं कि कानूनों के ज़रिये सोवियत सत्ता ने जो राजनीतिक अधिकार (जैसे कि मताधिकार, जो कि दुनिया के तमाम उन्नत पूंजीवादी देशों ने उस समय नहीं दिया था) स्त्रियों को दिये हैं, उन्होंने निश्चित तौर पर उनकी स्थिति का स्तरोन्नयन

किया है लेकिन ये कानून बनाकर (और लागू करके, हम मानकर चलते हैं कि श्यामसुन्दर के समान बाकी पाठकों को यह बताना आवश्यक नहीं है!) स्त्रियों की सामाजिक असमानता समाप्त नहीं की जा सकती है। हम यहां कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं और न ही लेनिन का हमने कोई नया उद्धरण पेश किया है; हम ये सारी बातें और सारे उद्धरण पिछले जवाब में ही पेश करके यह दिखला चुके हैं कि श्यामसुन्दर को कानूनों के ज़रिये राजनीतिक तौर पर औपचारिक समानता मिलने (जो कि निश्चित तौर पर एक सकारात्मक और वास्तविक परिवर्तन होता है) से दमित और उत्पीड़ित लोगों को सामाजिक समानता नहीं प्राप्त होती है। **लेकिन यहां श्यामसुन्दर फिर लेनिन का वहीं उद्धरण पेश करके जानबूझकर उसकी ग़लत व्याख्या करते हैं, ताकि अपना बचाव कर सकें। "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की कैसी-कैसी मजबूरियां होती हैं! ईमानदारी का तकाज़ा यह होता कि वह हमारे पिछले जवाब के तर्कों का जवाब देते, लेकिन इन महोदय ने बस अपनी पिछली बात ही दुहरा दी है, जिसका कि हम खण्डन कर चुके हैं।**

मिस्कोट करने और मिसरेप्रज़ेण्ट करने (और इसमें श्यामसुन्दर मार्क्स, लेनिन, माओ, किसी को नहीं बख्शते!) की प्रक्रिया में ही श्यामसुन्दर अपनी दरिद्र समझदारी पर पड़े आखिरी सूत के धागे को भी पूरे आत्मविश्वास के साथ यूं हटाते हैं: "हमारे देश में जाति व्यवस्था के अवशेष, सामाजिक गैर-बराबरी, लैंगिक असमानता, आदि-आदि पूंजीवादी-जनवादी क्रांति के अधूरे बचे काम हैं जिनके बारे में लेनिन कहते हैं कि रूस में अक्तूबर क्रांति के बनाए हुए कानूनों के द्वारा उन्हें पूरी तरह से हल कर लिया गया है।" **ग़लत! लेनिन लैंगिक असमानता को समाजवाद में कानूनों द्वारा समाप्त किये जाने की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि राजनीतिक अधिकारों के अभाव को समाप्त करने की बात कर रहे हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।** श्यामसुन्दर या तो इरादन झूठ बोल रहे हैं, या फिर प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हैं। आगे श्यामसुन्दर लिखते हैं: "समाजवादी व्यवस्था में उसी तरह आर्थिक गैर-बराबरी (मानव द्वारा मानव के आर्थिक शोषण) के खात्मे के लिए भी कानून बनाये जाते हैं जिनके जरिये मानव द्वारा मानव के शोषण, उजरती श्रम पर रोक लगा दी जाती है और कानून के जरिये उनका पालन कराया जाता है। लेनिन ने कहा है कि समाजवादी व्यवस्था का सबसे आधारभूत सिद्धांत यह होता है कि "जो काम नहीं करता, वह खायेगा भी नहीं।" क्या समाजवाद के इस प्रधान और मूल सिद्धान्त का क्रियान्वयन भी कानूनों के ज़रिये नहीं किया जायेगा? नहीं तो, क्या आर्थिक गैर-बराबरी, दूसरे अर्थों में मानव द्वारा मानव का शोषण तब तक चलता रहेगा जब तक कि समाज से लम्बे वर्ग-संघर्ष के ज़रिये वर्गों के उन्मूलन का अंत नहीं हो जायेगा? अलबत्ता यह बात सही है कि समाज से हर प्रकार के अन्तरविरोध को मिटाने के लिए जैसे कि शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम के अन्तर को मिटाने के लिए और 'योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार दाम' की समाजवादी अवस्था से 'क्षमता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार सामान' की साम्यवादी अवस्था तक पहुंचने के लिए महज़ कानूनों के ज़रिये काम नहीं चलेगा, बल्कि एक लम्बे संघर्ष और समय की दरकार होगी।"

देखिये, फंस गया बिल्ला फिर से ऊन के गोले में! श्यामसुन्दर कहते हैं समाजवाद में कानूनों को बनाकर और लागू करके आर्थिक गैर-बराबरी समाप्त की जायेगी। **पहली बात तो यह है कि किसी भी समाजवादी देश में ये प्रश्न बल प्रयोग से हल होते हैं और उन्हें बाद में कानूनी जामा पहनाया जाता है।** लेनिन ने स्वयं कहा है कि क्रांतिकारी परिवर्तनों में वैधिकता से पहले कार्रवाई आती है और इसीलिए रूसी क्रांति के बाद सर्वहारा सत्ता ने जो कानून बनाये, वे वास्तव में पहले से हो चुके या हो रहे परिवर्तनों को महज़ कानूनी जामा पहनाने के समान था। मिसाल के तौर पर, अधिकांश कारखानों पर कारखाना समिति आन्दोलन ने रूस में क्रांति के बाद उद्योगों के राष्ट्रीकरण की आज्ञप्ति आने के पहले ही कब्ज़ा कर लिया था; 1918 से 1920 के बीच के दौर में उद्योगों

सम्बन्धी विभिन्न आज्ञप्तियों ने इस रूप में कायम हो चुके सामूहिक मालिकाने को महज़ कानूनी रूप देने और व्यवस्थित करने का काम किया। दूसरी बात, जिन परिवर्तनों को प्रतीतिगत तौर पर कानून लागू करते दिखलायी पड़ते हैं, वे वास्तव में एक सघन और जटिल सामाजिक व राजनीतिक गतिकी का परिणाम होते हैं; **मूल सवाल यह था ही नहीं कि सोवियत सत्ता कानून बनायेगी या नहीं! मूल प्रश्न यह था कि कानून बनाने से *सामाजिक असमानता* समाप्त नहीं होती है, कानून केवल इस सामाजिक असमानता को समाप्त करने के लिए चल रहे सामाजिक और राजनीतिक वर्ग संघर्ष का एक अंग और उसकी एक आंशिक अभिव्यक्ति होते हैं। श्यामसुन्दर नन्हें-मुन्ने बच्चे के समान पूछते हैं: "नहीं तो क्या आर्थिक गैर-बराबरी, दूसरे अर्थों में मानव द्वारा मानव का शोषण तब तक चलता रहेगा जब तक कि समाज से लम्बे वर्ग-संघर्ष के जरिये वर्गों का उन्मूलन का अंत नहीं हो जायेगा?" श्यामसुन्दर के बाल-हृदय को थोड़ा धक्का लगेगा लेकिन फिर भी इस प्रश्न का जवाब है: एक अर्थ में हां, आर्थिक गैर-बराबरी वर्ग समाज के खत्म न होने तक जारी रहेगी;** समाजवादी संक्रमण के प्रगति करने (ठहरावग्रस्त न होने) का अर्थ ही यही है कि ये विभिन्न प्रकार की आर्थिक गैर-बराबरियां और सामाजिक असमानताएं लम्बी दूरी में समाप्त हो रही हैं, या नहीं। लम्बी दूरी में इसलिए क्योंकि किसी छोटे-से दौर में वे बढ़ सकती हैं। श्यामसुन्दर बाद में स्वयं ही कहते हैं कि शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम का अन्तर बना रहेगा (हम इसमें गांव और शहर के बीच का अन्तर और उद्योग और कृषि के बीच के अन्तर को जोड़ते हैं) और 'योग्यता के अनुसार और काम के अनुसार दाम' का सिद्धान्त समाजवाद में लागू होता रहेगा। **तो यह क्या है? जैविक गैर-बराबरी? यह भी एक आर्थिक असमानता ही है; दूसरी बात, जब तक उपरोक्त तीन (माओ के शब्दों में) महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएं बनी रहेंगी, तब तक बुर्जुआ अधिकार बने रहेंगे, तब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे, मूल्य का नियम आंशिक तौर पर काम करता रहेगा, और तब तक माल उत्पादन भी जारी रहेगा। बुर्जुआ अधिकार का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम के आधार पर, कुशलता और अकुशलता के आधार पर वेतन और वितरण की असमानता बनी रहती है। यह कौन-सी असमानता है? रासायनिक असमानता? आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर को अपनी आत्मरक्षा में क्या-क्या गुलाटियां मारनी पड़ रही हैं।**

सिर्फ उजरती श्रम का *निजी पूंजी द्वारा शोषण* समाप्त हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि उजरती श्रम समाप्त हो गया। यह भी मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की एक बुनियादी शिक्षा है। यदि श्रमशक्ति अभी भी माल बनी हुई है (काम के अनुसार दाम का अर्थ ही यही है) तो उजरती श्रम मौजूद है क्योंकि मज़दूर को उजरत मिलती है। बस फर्क यह है कि उत्पादित अधिशेष का स्वामी एक वर्ग के तौर पर स्वयं मज़दूर वर्ग है क्योंकि अपनी पार्टी के नेतृत्व में राज्यसत्ता उसके हाथों में है। जैसा कि आप फिर से देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर वह भी नहीं समझते जो वह खुद लिखते हैं। वह बस कठमुल्लावादियों के समान शब्द और जड़सूत्र परोसते जाते हैं। अब आते हैं हमारे दूसरे "आरोप" के बारे में श्यामसुन्दर के जवाब के विषय में।

निजी सम्पत्ति की गैर-मौजूदगी में पूंजीवाद के अस्तित्व के विषय में श्यामसुन्दर का शर्मनाक अज्ञान

अज्ञान शर्मनाक नहीं होता है, यदि आप उसे मानें और उसे दूर करें। लेकिन जब अज्ञान पर झूठे पाण्डित्य का पर्दा डालने का प्रयास करके व्यक्ति स्वयं ही हास्यास्पद स्थिति में पहुंच जाए तो वह ज़रूर शर्मनाक होता है। श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि बिना निजी सम्पत्ति के पूंजीवाद रह ही नहीं सकता है। स्वामित्व का यह रूप पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध की बुनियाद है और इसीलिए बिना पूंजीवादी निजी सम्पत्ति

के पूंजीवाद भी नहीं रह सकता है। हम महान शिक्षकों के हवाले से आगे दिखलाएंगे कि हमारा यह आरोप की श्यामसुन्दर को राजनीतिक अर्थशास्त्र के 'क ख ग' की भी समझ नहीं है, शत-प्रतिशत सही है, लेकिन उससे पहले हम दिखलाएंगे कि किस प्रकार एक कठमुल्लावादी व्यक्ति केवल जड़सूत्रों को रटता रहता है और वास्तविक सामाजिक परिघटना के विश्लेषण की उसमें कोई क्षमता नहीं होती।

सोवियत संघ में 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद तत्काल निजी सम्पत्ति बहाल नहीं हुई थी; राजकीय सम्पत्ति और सामूहिक सम्पत्ति मौजूद थे। यही बात 1976 के बाद के चीन के बारे में कही जा सकती है। लेकिन चूंकि राज्यसत्ता का चरित्र सर्वहारा नहीं रह गया था, इसलिए सम्पत्ति का चरित्र भी समाजवादी नहीं रह गया था और इसी को एक दूसरे सन्दर्भ में (बिस्मार्कियन राजकीय पूंजीवाद के सन्दर्भ में) एंगेल्स ने इंगित किया था और कहा था कि इस सूरत में निजी सम्पत्ति के अभाव में राज्य एक सामूहिक पूंजीपति (collective capitalist) के रूप में सामने आता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का अर्थ ही होता है पूंजीपति की निजी सम्पत्ति। इस निजी सम्पत्ति के बिना भी राजकीय पूंजीवाद मौजूद हो सकता है। **श्यामसुन्दर की समझदारी के अनुसार उन्हें 1960 के दशक के संशोधनवादियों के समान यह कहना पड़ेगा कि 1953 के बाद के सोवियत संघ और 1976 के बाद के चीन में "वास्तविक रूप से अस्तित्वमान समाजवाद" था, हालांकि ये पार्टियां संशोधनवादी हो चुकी थीं। बड़ी दिलचस्प बात है कि जब त्रात्स्की भी रूस में स्तालिन की नेतृत्व वाली पार्टी को कम्युनिस्ट मानना बन्द कर चुका था, तब भी वह सोवियत संघ को समाजवादी मानता था और सोवियत राज्यसत्ता को इस आधार पर मज़दूर राज्य कहता था (हालांकि एक विरूपित मज़दूर राज्य) कि वहां निजी सम्पत्ति बहाल नहीं हुई थी। पाठक देख सकते हैं कि पद्धतिशास्त्र के प्रश्न किस प्रकार सामने आते हैं; श्यामसुन्दर का राजनीतिक स्रोत है एस.यू.सी.आई. और एस.यू.सी.आई का राजनीतिक स्रोत है त्रात्स्कीपंथ, जिससे वह पद्धति के धरातल पर कभी रिश्ता नहीं तोड़ पायी; कोई आश्चर्य नहीं है कि श्यामसुन्दर अपने राजनीतिक पितामह की परम्परा का ही निर्वाह कर रहे हैं!**

अब आते हैं कि निजी सम्पत्ति के बिना पूंजीवाद के अस्तित्व की सम्भाव्यता के प्रश्न पर महान शिक्षकों के विचारों पर। श्यामसुन्दर का मानना है कि महान शिक्षकों ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा है और हम उनकी बातों को विकृत कर रहे हैं और चुनौती देते हैं कि हम उन्हें वह सन्दर्भ दिखाएं जहां एंगेल्स ने ऐसा कहा है। आइये देखते हैं एंगेल्स ने ऐसा कहां कहा है।

एंगेल्स 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में लिखते हैं:

"But neither conversion into joint-stock companies and trusts *nor conversion into state property* deprives the productive forces of their character as capital. This is obvious in the case of joint-stock companies and trusts. *But the modern state, too, is only the organization with which bourgeois society provides itself in order to maintain the general external conditions of the capitalist mode of production against encroachments either by the workers or by individual capitalists.* The modern state, whatever its form, is an essentially capitalist machine, the state of the capitalists, the ideal aggregate capitalist. *The more productive forces it takes over into its possession,*

the more it becomes a real aggregate capitalist, the more citizens it exploits. The workers remain wage-workers, proletarians. The capital-relation is not abolished, rather it is pushed to the limit...State ownership of the productive forces is not the solution of the conflict, but it contains within itself the formal means, to handle to the solution." (Engels, *Socialism: Utopian and Scientific, emphasis ours*)

वास्तव में, जिन लेनिनवादियों ने सोवियत संघ में 1953 के बाद ही पूंजीवादी पुनर्स्थापाना को स्वीकार किया, लगभग उन सभी ने अपने विश्लेषण में एंगेल्स के उपरोक्त उद्धरण को पेश करते हुए बताया कि पूंजी एक सामाजिक सम्बन्ध है, जो कि अधिशेष के विनियोजन की वास्तविक प्रक्रिया पर निर्भर करती है, न कि अनिवार्य रूप से पूंजीवादी निजी सम्पत्ति पर। श्यामसुन्दर मार्क्स की यह बुनियादी शिक्षा भूल गये कि पूंजी कोई वस्तु नहीं बल्कि एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह सामाजिक सम्बन्ध आम तौर पर पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का रूप लेता है, लेकिन यह पूंजीवादी सार्वजनिक सम्पत्ति का रूप भी ले सकता है, जिस सूरत में पूंजीपति पूंजी के कारकून (functionaries of capital) के समान राज्य के कर्मचारी हो सकते हैं, न कि निजी सम्पत्ति के मालिक। ऐसे में भी पूंजी-सम्बन्ध (capital-relation) और उजरत का सम्बन्ध (wage-relation) बना रहता है, क्योंकि विनियोजन की वास्तविक प्रक्रिया एक निजी पूंजीपति के द्वारा नहीं बल्कि एंगेल्स के शब्दों में एक आदर्श सामूहिक पूंजीपति (यानी राज्य) द्वारा नियंत्रित होती है; एंगेल्स के ये शब्द रूस और चीन में संशोधनवादी सत्ताओं के आने के बाद वहां के सामाजिक उत्पादन के सम्बन्धों के विश्लेषण के लिए मार्गदर्शक बने। जिसने भी समाजवादी संक्रमण और पूंजीवादी पुनर्स्थापना पर माओ के विचारों और उनके बाद तमाम मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों जैसे कि पॉल स्वीज़ी, चार्ल्स बेतेलहाइम, ऐल शिमैंस्की, और साथ ही तमाम कम्युनिस्ट पार्टियों, जैसे कि अमेरिका की रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी (जब वह तुलनात्मक रूप से सन्तुलित अवस्थितियों को अपना रही थी) आदि के बीच चली बहसों का अध्ययन किया है, वह इस बात को अच्छी तरह से जानता है। एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'आवास समस्या' में भी लिखा है:

"Capital is *the command over the unpaid labour of others.*" (Engels, *The Housing Question, emphasis ours*)

यह नियंत्रण एक निजी पूंजीपति द्वारा भी हो सकता है और एक पूंजीवादी राज्य द्वारा भी जहां केवल राजकीय सम्पत्ति अस्तित्व में हो। पूंजी-सम्बन्ध का निर्णय इस बात से होता है कि अधिशेष के विनियोजन की वास्तविक प्रक्रिया (real process of appropriation) क्या है।

लेनिन रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत राजकीय इजारेदार पूंजीवाद पर चर्चा करते हुए बताते हैं कि रूस के अलावा युद्ध के दौर में कुछ पूंजीवादी देशों में भी राजकीय इज़ारेदार पूंजीवादी व्यवस्था विकसित हुई है। यह सच है कि यह एक मायने में समाजवाद के लिए ही आर्थिक ज़मीन तैयार करती है, लेकिन यह स्वयं समाजवाद नहीं होती। इस राजकीय इज़ारेदार पूंजीवाद की (लेनिन युद्धकालीन जर्मनी का उदाहरण देते हैं) ख़ासियत क्या है: उत्पादन के साधनों का मूलत: और मुख्यत: राज्य द्वारा नियंत्रण। यानी अर्थव्यवस्था के बड़े क्षेत्रों में पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का खात्मा और उसकी जगह पूंजीवादी राजकीय सम्पत्ति (जिसे ज्यादा काबिले-बर्दाश्त भाषा में 'सार्वजनिक सम्पत्ति' भी कहा जाता है) की स्थापना। लेनिन लिखते हैं:

"And what is the state? It is an organisation of the ruling class -- in Germany, for instance, of the Junkers and capitalists. And therefore what the German Plekhanovs (Scheidemann, Lensch, and others) call "war-time socialism" is in fact war-time state-monopoly capitalism, or, to put it more simply and clearly, war-time penal servitude for the workers and war-time protection for capitalists' profits." (Lenin, *The Impending Catastrophe and How to Combat it*)

लेनिन यहां बताते हैं कि किस प्रकार जर्मन संशोधनवादी पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के युद्धकालीन जर्मनी में मूलत: और मुख्यत: समाप्त कर दिये जाने को इस आधार पर युद्धकालीन समाजवाद की संज्ञा दे रहे थे, कि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के बिना पूंजीवाद सम्भव नहीं है। ठीक वही तर्क जो कि श्यामसुन्दर दे रहे हैं। माओ ने और उनके नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने तो इस विषय पर इतना लिखा है कि इस पर यह प्रश्न पूछना भी यह दिखलाता है कि श्यामसुन्दर को महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं पता है।

लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि यदि निजी सम्पत्ति नहीं होगी तो पूंजीवादी व्यवस्था तो हवा में लटक जायेगी, जैसे कि इस बहस में वह हवा में लटके हुए हैं! जैसा कि हम देख सकते हैं कि निजी सम्पत्ति के बिना पूंजीवाद का क्या होगा, इस चिन्ता में श्यामसुन्दर बेवजह ही दुबले हुए जा रहे हैं; पूंजी एक सामाजिक सम्बन्ध होती है और विशिष्ट तौर पर पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था सम्भव है, जैसा कि संशोधनवाद की विजय के बाद के रूस और चीन में कई दशकों तक देखा जा सकता था। श्यामसुन्दर द्वारा एक मूर्खतापूर्ण बात को मुक्का ठोंक-ठोंक कर दुहराने को ही हमने बौद्धिक बौनापन, मानसिक दीवालियापन, मूर्खता और अज्ञान कहा था। श्यामसुन्दर के इस नये खर्रे के बाद तो इस सूची में और भी कई विशेषण जोड़े जा सकते हैं, लेकिन वही बात है कि फिर कोमल भावनाओं वाले अग्रज साथी दुखी हो जायेंगे। इसलिए हम इन विशेषणों को सुधी पाठकों की कल्पना पर छोड़ देते हैं। जैसा कि अंग्रेज़ी में कहावत है, somethings are best left to imagination!

अब श्यामसुन्दर के आठवें उपशीर्षक पर आते हैं जिसमें हमें वह एक बार फिर से मूर्खतापूर्ण बातों को मुट्ठी लहरा-लहरा कर दुहराते हुए मिलते हैं। मसला है बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के पूंजीवाद में पूर्ण रूप से औपचारिक और कागज़ी होने या न होने के बारे में।

10. बुर्जुआ जनवाद द्वारा दिये जाने वाले सीमित बुर्जुआ जनवादी अधिकार: काग़ज़ी और औपचारिक या वास्तविक? श्यामसुन्दर द्वारा एक कुतर्क की आत्मरक्षा में पेश नये कुतर्क

सक्रिय अज्ञान से बुरा और कुछ नहीं होता।

-गोएठे

श्यामसुन्दर ने अपने पहले पत्र में लिखा था: "यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि पूंजीपति वर्ग के शासन और संविधान द्वारा आम जनता को दिए जाने वाले सभी जनवादी मौलिक अधिकार *औपचारिक और कागज़ी ही होते हैं*...पूंजीवादी सत्ता और संविधान के तहत तमाम मौलिक और जनवादी अधिकार कागज़ी, दिखावटी और कथनी तक ही सीमित होते हैं।" हमने इसकी यह आलोचना पेश की थी: "इस प्रकार के तर्क को मार्क्स ने अपनी ही पूंछ का पीछा कर रहे सांप (Ouroboros) की संज्ञा दी थी। जब प्रूधों ने "सम्पत्ति चोरी है" का नारा दिया, तो मार्क्स ने स्पष्ट किया कि यह एक ऐसा ही तर्क है क्योंकि चोरी तभी सम्भव है जब निजी सम्पत्ति हो। उसी प्रकार श्यामसुन्दर कहते हैं कि पूंजीवादी सत्ता और संविधान के मातहत मिलने वाले सभी अधिकार केवल औपचारिक और कागज़ी होते हैं, यानी वे वास्तविक नहीं होते हैं। यह मूर्खतापूर्ण बात है। अगर ऐसा है तो उन्हें जनवादी क्रांति का पक्षधर हो जाना चाहिए। बुर्जुआ जनवाद जनता को सीमित जनवादी व नागरिक अधिकार देता है और इन अधिकारों की पहुंच वर्ग संस्तर में नीचे जाते हुए वास्तविक से औपचारिक बनती जाती है। लेकिन संस्तर की सबसे निचली पैंड़ीं पर खड़े मज़दूरों और मेहनतकशों को भी कुछ सीमित जनवादी अधिकार *वास्तविक* रूप से मिले होते हैं, क्योंकि वह पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता होती है। यह कहना कि सभी जनवादी मौलिक अधिकार पूर्णत: औपचारिक और कागज़ी हैं, वास्तविक नहीं, जनवादी क्रांति मानने वालों के लिए सही है, लेकिन समाजवादी क्रांति मानने वालों के लिए बेवकूफी। *क्योंकि अगर ऐसा है तो 26 जून 1975 को क्या छिना था, अगर कुछ वास्तविक हासिल ही नहीं था? श्यामसुन्दर एक एजिटेशनल पर्चा लिखने और एक गम्भीर राजनीतिक निबन्ध लिखने में कोई फर्क नहीं समझते। यही कारण है कि इस पत्र में वे तय नहीं कर पा रहे हैं कि पाठक को एजिटेट करें या फिर उसके समक्ष विचारधारात्मक प्रचार (शिक्षण-प्रशिक्षण) के कार्य को अंजाम दें! लेकिन हम इससे बेहतर की उम्मीद भी श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों से नहीं कर सकते।"*

जैसा कि पाठक देख सकते हैं, चीज़ें पहले ही बिल्कुल स्पष्ट थीं। श्यामसुन्दर निपट अपढ़ किस्म की बात कर रहे थे। **अपने नये जवाब में उन्होंने जानबूझकर वह प्रश्न उद्धृत नहीं किया जो कि आपातकाल के विषय में हमने उनसे पूछा था। इस प्रश्न का उन्होंने कोई उत्तर ही नहीं दिया है अपने नये जवाब में! क्यों? क्योंकि यदि वह इस प्रश्न का उत्तर देने जाते, तो जो लफ्फाजियां करके उन्होंने आत्मरक्षा का प्रयास किया है, वह उसे कर ही नहीं पाते। लेकिन आत्मरक्षा का जो प्रयास किया गया है, वह भी दरिद्र और दयनीय है।** देखते हैं कैसे। पहले हम कुछ प्रश्नों पर पाठकों के समक्ष स्पष्टता बनाना चाहेंगे:

(क) क्या बुर्जुआ जनवाद सीमित जनवादी अधिकार जनता को देता है? उत्तर : हां।

(ख) क्या ये सारे अधिकार महज़ कागज़ी और दिखावटी होते हैं? उत्तर : नहीं।

(ग) क्या ये सारे अधिकार समूची जनता को समानतापूर्ण तरीके से प्राप्त होते हैं? उत्तर : नहीं, जैसे-जैसे आप सामाजिक वर्ग संस्तरीकरण में नीचे की ओर जाएंगे, इन अधिकारों की प्राप्ति कम होती जाती है, लेकिन वर्ग पदानुक्रम में सबसे नीचे खड़े मज़दूर, मेहनतकश को भी कुछ सीमित जनवादी अधिकार प्राप्त होते हैं, और वे इन्हीं सीमित अर्थों में केवल औपचारिक और दिखावटी नहीं होते, बल्कि वास्तविक होते हैं।

(घ) क्या कोई भी पूंजीवादी जनवादी संविधान कभी आर्थिक समानता देने का वायदा करता है, अगर इसका अर्थ महज़ "आर्थिक अवसरों" की समानता नहीं? उत्तर : नहीं। *आर्थिक समानता केवल पूंजीवादी जनवाद का दावा होता है, उसके द्वारा दिया जाने वाला अधिकार नहीं।* क्या भारत के संविधान में आर्थिक समानता किसी अधिकार के रूप में कहीं भी दर्ज है? उत्तर : नहीं।

(ड.) औपचारिक, कागज़ी और दिखावटी का क्या अर्थ है? उत्तर : यानी कि वह वास्तविक नहीं है। मार्क्स ने इन्हीं अर्थों में श्रम के औपचारिक मातहतीकरण (formal subsumption of labour) और श्रम के वास्तविक मातहतीकरण (real subsumption of labour) की बात की थी; पहले का अर्थ था, जब पूंजी प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन पर बाहर से नियंत्रण स्थापित करती है, लेकिन श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया उसके मातहत नहीं होती है, जैसे कि 'पुटिंग आउट' व्यवस्था। दूसरे का अर्थ है कि पूंजी ने प्रत्यक्ष उत्पादकों को उनके उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया है और अब समूची श्रम प्रक्रिया और उत्पादन प्रक्रिया उसके प्रत्यक्ष और वास्तविक नियंत्रण में है। यह प्रक्रिया कारखाना व्यवस्था के साथ अपनी पूर्णता पर पहुंचती है। इसी अर्थ में मार्क्सवादी साहित्य में औपचारिक और वास्तविक के बीच फर्क किया गया है।

(च) क्या जो वास्तविक होता है, वह पूर्ण या आदर्श (ideal) होता है? उत्तर : नहीं। जो वास्तविक होता है, वह कभी आदर्श हो ही नहीं सकता जो वास्तविक होता है वह हमेशा सापेक्षिक (relative) होता है; केवल औपचारिक ही आदर्श हो सकता है। इसलिए जब कहा जाता है कि बुर्जुआ जनवाद जनता को सीमित किन्तु वास्तविक जनवादी अधिकार देता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता है कि उसने सच्चा जनवाद, यानी बहुसंख्या के लिए जनवाद या सर्वहारा जनवाद मुहैया करा दिया है। इसका अर्थ ही होता है, कि ये सीमित जनवादी अधिकार होते हैं, क्योंकि एक पूंजीवादी समाज में राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता तथा आर्थिक असमानता और शोषण के बीच सतत् द्वन्द्व होता है; इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी राजनीतिक, नागरिक अधिकार (चाहें वे कितने भी सीमित हों) जो कि बुर्जुआ जनवाद देता है, वह औपचारिक, दिखावटी और कागज़ी हैं।

हमने पहले इन बुनियादी बिन्दुओं पर स्पष्टता बनायी क्योंकि श्यामसुन्दर इस गम्भीर राजनीतिक प्रश्न का जवाब देने की बजाय एक एजिटेशनल पर्चा लिखने बैठ गये हैं और मार्क्स, लेनिन, स्टालिन आदि के हवाले से यह दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं कि उन लोगों ने सभी बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को औपचारिक और दिखावटी कहा है। लेकिन यदि आप इन उद्धरणों को देखेंगे, तो आप पाएंगे कि श्यामसुन्दर ने न तो इन बातों का सन्दर्भ समझा और देखा है और न ही शाब्दिक तौर पर इन बातों को समझा है। **इन सभी उद्धरणों में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन या तो आर्थिक समानता की बात कर रहे हैं और इस सन्दर्भ में बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के सीमित चरित्र को रेखांकित कर रहे हैं, या फिर वे समाजवाद की तुलना में उनके प्रहसनात्मक और**

सीमित चरित्र को दिखला रहे हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि वे बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को पूर्णत:औपचारिक और अवास्तविक मानते थे? हम आगे देखेंगे कि ऐसा नहीं है।

लेकिन उससे पहले कुछ प्रश्न श्यामसुन्दर के लिए:

(क) यदि सभी बुर्जुआ जनवादी अधिकार औपचारिक और दिखावटी हैं, तो 26 जून 1975 को आपातकाल लागू होने के साथ क्या छिना था, क्या बदला था? क्या कम्युनिस्टों द्वारा आपातकाल वापस लिये जाने के लिए संघर्ष सही था? यदि था तो क्यों, यदि सारे बुर्जुआ जनवादी अधिकार ही कागज़ी और दिखावटी होते हैं?

(ख) यदि सरकार आज वोट देने का अधिकार रद्द कर दे तो श्यामसुन्दर के नेतृत्व में जनसंघर्ष मंच हरियाणा क्या करेगा? क्योंकि सारे बुर्जुआ जनवादी अधिकार तो औपचारिक, दिखावटी और कागज़ी हैं? वोट देने से समाजवाद नहीं आयेगा जैसा तर्क यह नहीं दिखलाता कि यह एक वास्तविक बुर्जुआ जनवादी अधिकार नहीं है। इसलिए हम पहले ही इसका जिक्र कर रहे हैं, क्योंकि श्यामसुन्दर अपने बचाव में अगला तर्क यही देंगे कि वोट देने से समाजवाद नहीं आता, और फिर हम पर यह बात थोप देंगे कि हम ऐसा दावा कर रहे हैं! इसलिए हम पहले ही इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं और अपने प्वाइण्टेड प्रश्न के प्वाइण्टेड जवाब की अपेक्षा कर रहे हैं (हालांकि हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होगा क्योंकि बिल्ला तो ऊन के गोले में बुरी तरह से उलझ चुका है!)

(ग) यदि सरकार आज सभा करने और अभिव्यक्ति के अधिकार (चाहे वह जिस भी सीमा में मिलता हो) को रद्द कर दे, तो श्यामसुन्दर क्या करेंगे, क्योंकि यह बुर्जुआ जनवादी अधिकार भी पूर्ण रूप से औपचारिक और कागज़ी है!? मेरे ख़याल से इतना परिवर्तन तो ज़रूर होगा कि श्यामसुन्दर तमाम सभाओं, मीटिंगों और सेमिनारों आदि में अपनी मूर्खताओं की ब्रॉडकास्टिंग करते हुए जो जगह-जगह घूमते हैं, वह अधिकार भी उनसे छिन जायेगा! जैसा कि मार्क्स ने कहा था, हर चीज़ के दो पहलू होते हैं! ख़ैर!

(घ) यदि सरकार संगठन व यूनियन आदि बनाने के "कागज़ी और औपचारिक" अधिकार को रद्द कर दे, तो श्यामसुन्दर क्या करेंगे? हमने यह नहीं पूछा कि जनसंघर्ष मंच हरियाणा क्या करेगा, क्योंकि वह तो फिर बचेगा ही नहीं!

(ड.) यदि सरकार अखबार, पर्चे आदि निकालने के अधिकार (चाहे वह जिस भी सीमा में बुर्जुआ जनवाद में मिलता हो) खत्म कर दे, तो श्यामसुन्दर अपने ये मूर्खतापूर्ण पत्र और आलोचनाएं कैसे जारी करेंगे, पर्चे कैसे निकालेंगे? इस पर तो मामा लोग उठा ले जाएंगे!

(च) यदि श्यामसुन्दर यह मानते हैं कि बुर्जुआ जनवाद सामन्ती निरंकुशता के मुकाबले आगे का कदम है, तो किन अर्थों में? क्या निरंकुश सामन्ती शासन की तुलना में इसने कुछ जनवादी और नागरिक अधिकार *वास्तव में* दिये हैं, चाहें वे कितने भी सीमित क्यों न हों, और चाहें उनका कितना भी छोटा हिस्सा रिस और

छन कर मज़दूरों-मेहनतकशों तक पहुंचता हो? यदि नहीं, तो जहां तक जनवादी और नागरिक अधिकारों की बात है, तो सामन्ती निरंकुशता और बुर्जुआ जनवाद में फर्क क्या है?

ये वे बुनियादी प्रश्न हैं जिनका जवाब देना था, **लेकिन श्यामसुन्दर ने पृष्ठ 58 से लेकर 61 तक फालतू की उद्धरणबाज़ी की है यह दिखलाने के लिए कि पूंजीवादी समाज में समानता औपचारिक होती है। यह तो मूल मुद्दा ही नहीं था! मूल मुद्दा तो यह था कि पूंजीवादी समाज में सीमित अर्थों में ही सही लेकिन बुर्जुआ जनवादी और नागरिक अधिकार वास्तविक अर्थों में (औपचारिक अर्थों में नहीं) मिलते हैं या नहीं। चूंकि इस प्रश्न पर इन महोदय का डिब्बा गोल था इसलिए इन्होंने पूंजीवादी समाज की सच्चाई बयान करने के लिए उद्धरण पर उद्धरण ठेल दिये हैं। यह वैसा ही है कि आप श्यामसुन्दर से उनकी (दिमाग़ी?) तबियत के बारे में पूछें और वह आपको बैंगन खाने के फायदे गिनाते हुए इस विषय पर प्राधिकार-सम्पन्न वैज्ञानिकों के दर्जनों उद्धरण सुना दें और आपकी इस बात के लिए कड़ी आलोचना करें कि आपको बैंगन खाने के फायदे नहीं पता हैं!**

अब बातें चूंकि उद्धरणों की हो रही हैं इसलिए हम देखते हैं कि मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन सीमित होने के बावजूद बुर्जुआ जनवादी और नागरिक अधिकारों को किस प्रकार वास्तविक और महत्वपूर्ण मानते थे। सबसे पहले मार्क्स।

"Thiers, that monstrous gnome, has charmed the French bourgeoisie for almost half a century, because he is the most consummate intellectual expression of their own class corruption. Before he became a statesman he had already proved his lying powers as an historian. The chronicle of his public life is the record of the misfortunes of France. Banded before 1830, with the Republicans, he slipped into office under Louis Philippe by betraying his protector Laffitte, ingratiating himself with the king by exciting mob-riots against the clergy, during which the church of Saint-Germain-l'Auxerrois and the Archbishop's palace were plundered, and by acting the minister-spy upon, and the jail-*accoucheur* of, the Duchess de Berry. *The massacre of the Republicans in the Rue Transnonain, and the subsequent infamous laws of September against the press and the right of association, were his work.* (Marx, *Civil War in France, emphasis ours*)

मार्क्स यहां धुर प्रतिक्रियावादी थियेर के काले कारनामों की चर्चा करते हुए उसके द्वारा गणराज्य के समर्थकों के दमन और प्रेस की स्वतन्त्रता और सभा व संगठन की स्वतंत्रता के कुचले जाने और इनका दमन करने वाले कुत्सित कानूनों का जिक्र करते हैं। ज़ाहिर है, मार्क्स इन जनवादी अधिकारों को किन्हीं रूपों में वास्तविक मानते थे और इसीलिए इनका जिक्र यहां पर इस रूप में किया गया है।

'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में एक स्थान पर मार्क्स बताते हैं कि सार्विक मताधिकार, आदि जैसे बुर्जुआ जनवादी अधिकार जर्मन साम्राज्य के भीतर अभी एक हक़ीकत नहीं बने हैं, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्ज़रलैण्ड आदि में वे पहले ही हक़ीकत बन चुके हैं; यहां पर मार्क्स स्पष्ट तौर पर बता रहे हैं कि

ये बुर्जुआ जनवादी अधिकार कहां पर कानूनी तौर पर उपलब्ध हो चुके हैं और कहां नहीं। निश्चित तौर पर, इस आधार पर कम्युनिस्ट अपना अधिकतम कार्यक्रम (समाजवादी क्रांति का कार्यक्रम) नहीं निर्धारित करेंगे; लेकिन जाहिरा तौर पर, यदि ये बुर्जुआ जनवादी अधिकार मुहैया नहीं हैं, तो उनका न्यूनतम कार्यक्रम इससे निश्चित तौर पर निर्धारित होता है।

"Its political demands contain nothing beyond the democratic litany familiar to all: universal suffrage, direct legislation, popular rights, a people's militia, etc. They are a mere echo of the bourgeois People's Party, of the League of Peace and Freedom. They are all demands which, in so far as they are not exaggerated in fantastic presentation, have already been *realized.* Only the state to which they belong does not lie within the borders of the German Empire, but in Switzerland, the United States, etc. This sort of "state of the future" is a *present-day state,* although existing outside the "framework" of the German Empire." (Marx, *Critique of Gotha Programme*)

अब एंगेल्स के विचारों को भी देख लेते हैं। एंगेल्स निम्न उद्धरण में राजनीतिक अधिकारों (जैसे कि सार्विक मताधिकार, सभा, संगठन आदि का अधिकार, प्रेस का अधिकार इत्यादि) तथा सामाजिक व आर्थिक समानता के बीच फर्क करते हुए बताते हैं कि किस प्रकार यूटोपियाई समाजवादियों से ठीक पहले पैदा हुए मार्क्स-पूर्व कम्युनिस्टों ने राजनीतिक अधिकारों से आगे जाते हुए सामाजिक-आर्थिक समानता की मांग उठायी थी; इसका अर्थ महज़ वर्गीय विशेषाधिकारों को समाप्त करना नहीं था, बल्कि वर्गीय विभाजनों को ही समाप्त करना था। यहां इस बात का विशेष महत्व इसलिए है कि श्यामसुन्दर ने यह साबित करने के लिए काफी पेज गन्दे किये हैं कि बुर्जुआ समाज में सामाजिक आर्थिक असमानता मौजूद रहती है, वह भी यह साबित करने के लिए कि बुर्जुआ जनवादी अधिकार पूर्ण रूप से औपचारिक और कागज़ी होते हैं! यह भ्रम दूर हो जाना भी आवश्यक है कि ये दोनों एक ही चीज़ें नहीं हैं। एंगेल्स लिखते हैं:

"The demand for equality was ***no longer limited to political rights but was also extended to the social conditions of individuals***; it was not merely class privileges that were to be abolished, but class distinctions themselves." (Engels, *Socialism: Utopian and Scientific*)

निम्नलिखित उद्धरण में एंगेल्स बता रहे हैं कि सार्विक मताधिकार का बुर्जुआ जनवादी अधिकार किस प्रकार जुझारू सर्वहारा वर्ग के लिए सबसे महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक है और क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग इसका किस प्रकार शानदार इस्तेमाल कर सकता है। साथ ही एंगेल्स यहां बुर्जुआ जनवादी अधिकारों और सामाजिक समानता के बीच का फर्क भी बता रहे हैं। एंगेल्स लिखते हैं:

"But, besides, the German workers rendered a second great service to their cause in addition to the first, a service performed by their mere existence as the

strongest, most disciplined and most rapidly growing socialist party. *They supplied their comrades in all countries with a new weapon, and one of the most potent, when they showed them how to make use of universal suffrage.* There had long been universal suffrage in France, but it had fallen into disrepute through the way it had been abused by the Bonapartist government. After the Commune there was no workers' party to make use of it. It had also existed in Spain since the republic but in Spain election boycotts had been the rule for all serious opposition parties from time immemorial. The experience of the Swiss with universal suffrage was also anything but encouraging for a workers' party. The revolutionary workers of the Latin countries had been wont to regard the suffrage as a snare, as an instrument of government trickery. It was different in Germany. *The Communist Manifesto had already proclaimed the winning of universal suffrage, of democracy, as one of the first and most important tasks of the militant proletariat...*" (Engels, 1895, 'Introduction' to *Class Struggles in France, 1848-50*)

इसी प्रस्तावना में एंगेल्स सार्विक मताधिकार के ही महत्व को समझाते हुए लिखते हैं:

"And if universal suffrage had offered no other advantage than that it allowed us to count our numbers every three years; that by the regularly established, unexpectedly rapid rise in our vote it increased in equal measure the workers' certainty of victory and the dismay of their opponents, and so became our best means of propaganda; that it accurately informed us of our own strength and that of all opposing parties, and thereby provided us with a measure of proportion second to none for our actions, safeguarding us from untimely timidity as much as from untimely foolhardiness – if this had been the only advantage we gained from the suffrage, it would still have been much more than enough. But it did more than this by far." (*Ibid*)

और देखें:

"With this successful utilisation of universal suffrage, however, an entirely new method of proletarian struggle came into operation, and this method quickly took on a more tangible form. *It was found that the state institutions, in which the rule of the bourgeoisie is organised, offer the working class still further levers to fight these very*

state institutions. The workers took part in elections to particular diets, to municipal councils and to trades courts; they contested with the bourgeoisie every post in the occupation of which a sufficient part of the proletariat had a say. *And so it happened that the bourgeoisie and the government came to be much more afraid of the legal than of the illegal action of the workers' party, of the results of elections than of those of rebellion.*" (*ibid*)

मार्क्स इसी रचना 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' में सार्विक मताधिकार के बुर्जुआ जनवादी अधिकार की महत्ता को बताते हुए लिखते हैं:

"The comprehensive contradiction of this constitution, however, consists in the following: The classes whose social slavery the constitution is to perpetuate – proletariat, peasantry, petty bourgeoisie – it puts in possession of political power through universal suffrage. And from the class whose old social power it sanctions, the bourgeoisie, it withdraws the political guarantees of this power. *It forces the political rule of the bourgeoisie into democratic conditions, which at every moment help the hostile classes to victory and jeopardize the very foundations of bourgeois society.* From the first group it demands that they should not go forward from political to social emancipation; from the others that they should not go back from social to political restoration. (Marx, *Class Struggles in France, 1848-50*)

जैसा कि आप देख सकते हैं कि मार्क्स ने यहां पर राजनीतिक स्वतन्त्रता और अधिकार जो कि बुर्जुआ जनवादी अधिकारों से प्राप्त होते हैं, और वह सामाजिक-आर्थिक गुलामी जो कि पूंजीवाद मेहनतकशों पर थोपता है, के बीच के द्वन्द्व का बहुत ही सटीक भाषा में वर्णन किया है। **ग़ौरतलब बात है कि यह द्वन्द्व होता ही इसलिए है क्योंकि सीमित होते हुए भी बुर्जुआ जनवादी अधिकार वास्तविक होते हैं, पूर्ण रूप से कागज़ी और औपचारिक नहीं। अगर ऐसा होता तो राजनीतिक अधिकारों और सामाजिक असमानता के बीच कोई द्वन्द्व होता ही नहीं। यदि श्यामसुन्दर ने मार्क्स की इस युगान्तरकारी रचना को ही पूरा पढ़ा होता तो सर्वहारा वर्ग द्वारा बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष और उन्हें बचाने के लिए संघर्ष के महत्व को समझ पाते (हालांकि हम पक्का नहीं हैं कि श्यामसुन्दर पढ़कर भी समझ पाते या नहीं); और अगर वह किसी तरह यह समझ पाते, तो वह यह भी समझ जाते कि बुर्जुआ जनवादी अधिकार वास्तविक होते हैं, चाहें वे सामाजिक-आर्थिक असमानता द्वारा कितने ही बाधित क्यों न होते हैं।** यदि ऐसा नहीं होता तो इनके लिए संघर्ष करना कभी भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रांतिकारियों के एजेण्डा पर नहीं होता। मगर इतिहास दिखलाता है कि यह संघर्ष हमेशा ही कम्युनिस्टों के लिए गहरी अहमियत रखने वाला संघर्ष रहा है। यहां से हम इस बाबत लेनिन के विचारों पर आ सकते हैं।

लेनिन लिखते हैं:

"*The proletariat cannot be victorious except through democracy*, i.e., by giving full effect to democracy and by linking with each step of its struggle democratic demands formulated in the most resolute terms....*We must* combine *the revolutionary struggle against capitalism with a revolutionary program and tactics on all democratic demands: a republic, a militia, the popular election of officials, equal rights for women, the self-determination of nations, etc. While capitalism exists, these demands—all of them—can only be accomplished as an exception, and even then in an incomplete and distorted form.* Basing ourselves on the democracy already achieved, and exposing *its incompleteness under capitalism*, we demand the overthrow of capitalism, the expropriation of the bourgeoisie, as a necessary basis both for the abolition of the poverty of the masses and for the complete and all-round institution of all democratic reforms." (Lenin, *The Revolutionary Proletariat and the Right of Nations to Self-Determination*)

यहां लेनिन क्या कह रहे हैं? लेनिन कह रहे हैं कि एक पूंजीवादी समाज में जनवाद केवल अपूर्ण और विकृत रूप में आ सकता है। लेकिन ठीक इसलिए क्योंकि यह *वास्तविक* होता है, इसलिए हमें इसके लिए लड़ना चाहिए। यदि यह वास्तविक नहीं होता और महज़ कागज़ी और दिखावटी होता तो क्रांति का कभी कोई न्यूनतम कार्यक्रम होता ही नहीं, बल्कि केवल अधिकतम कार्यक्रम होता है। हम देख सकते हैं कि इस मसले पर भी श्यामसुन्दर के विचारों पर उनके विचारधारात्मक-राजनीतिक पितामह त्रात्स्की का पर्याप्त असर है। आइये इस मसले पर लेनिन के विचारों के कुछ और उदाहरण देखते हैं। 1895 में ही लेनिन पार्टी कार्यक्रम के विषय में चर्चा करते हुए लिखते हैं:

"That is what the workers of all other countries are doing. The Russian workers, however, cannot exert direct influence on the state. The conditions of the Russian workers are such that they are deprived of *the most elementary civil rights. They must not dare to gather together, to discuss their affairs together, to organise unions, to publish statements; in other words, the laws of the state have not only been drawn up in the interests of the capitalist class, but they frankly deprive the workers of all possibility of influencing these laws and of securing their alteration.* The reason this happens is that in Russia (and in Russia alone of all European countries) the absolute power of an autocratic government continues to this day, that is, a system of state exists under which laws that are obligatory for the entire people may be issued by the tsar alone, at

his discretion, while only officials appointed by him may give effect to them." (Lenin, *Draft and Explanation of the Programme of the Social-Democratic Party*, 1895)

जैसा कि हम देख सकते हैं कि लेनिन अन्य पूंजीवादी देशों में मज़दूरों को जो बुर्जुआ जनवादी अधिकार प्राप्त हैं, उनसे रूसी मज़दूरों की अधिकार-हीनता की तुलना करते हैं और इंगित करते हैं कि निरंकुश ज़ारशाही के रहते मज़दूरों को ये अधिकार नहीं प्राप्त हो सकते। इसलिए तात्कालिक तौर पर मज़दूरों की लड़ाई भी एक गणराज्य के लिए और एक संविधान सभा के लिए लड़ना था जो कि व्यापक मेहनतकश जनता को तमाम बुर्जुआ जनवादी अधिकार मुहैया कराए। इसी रचना में लेनिन लिखते हैं:

"That is why the most urgent demand of the workers, the primary objective of the working-class influence on affairs of state must be *the achievement of political freedom*, i.e., *the direct participation, guaranteed by law (by a constitution), of all citizens in the government of the state, the guaranteed right ot all citizens freely to assemble, discuss their affairs, influence affairs of state through their associations and the press.* The achievement of political freedom becomes the "*vital task of the workers*" because without it the workers do not and cannot have any influence over affairs of state, and thus inevitably remain a rightless, humiliated and inarticulate class." (Ibid)

लेनिन स्पष्ट तौर पर बताते हैं कि बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के बिना (जो उन्नततम देशों में भी चाहें जितने भी सापेक्षिक और सीमित हों) सर्वहारा वर्ग के लिए बहुत बड़ी अहमियत रखते हैं क्योंकि इनके बग़ैर सर्वहारा वर्ग अपने वर्ग संघर्ष का वह मंच खो देता है जो कि उन्हें संगठित वर्ग बनाता है। **यदि ये सारे अधिकार पूरी तरह काग़ज़ी, दिखावटी और औपचारिक हैं, तो इन अधिकारों के लिए लड़ने की क्या आवश्यकता है? क्यों न सीधे समाजवादी क्रान्ति के लिए लड़ा जाय? श्यामसुन्दर की चिन्तन पद्धति उन्हें अनिवार्यत: अपने राजनीतिक पितामह त्रात्स्की के 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त के चरणों में पहुंचा देती है।** दो वर्ष बाद ही लेनिन 1897 में एक नये कारखाना कानून के विषय में लिखते हुए बताते हैं:

"*In all other countries, the workers, in their "search for the means of subsistence," have the right to organise unions, mutual benefit societies, to openly resist the employer, to present their demands to him, to conduct strikes.* In our country this is not allowed. On the other hand, however, our workers have been granted the "right" to work any number of "extra" hours a day." (Lenin, The New Factory Law, 1897)

इसी लेख में लेनिन लिखते हैं:

"The employer has thousands of ways of exerting influence on the factory inspectors and of forcing them to do what he wants. The workers, however, have no means of influencing the factory inspectors, and cannot have such means *as long as the workers do not enjoy the right of free assembly, the right to form their unions, to discuss their affairs in the press, and to issue workers' newspapers.* So long as these rights are withheld, no supervision by officials over the employers can ever be serious and effective." (ibid)

इन दोनों ही उद्धरणों में लेनिन ने स्पष्ट शब्दों में यह बताया है कि बुर्जुआ जनवादी अधिकार जैसे कि यूनियन का गठन करना, सभा करना (चाहे पूंजीपति वर्ग उसके लिए भवन दे या न दे!), प्रेस का अधिकार आदि की क्या महत्ता है और अपने सापेक्षिक और सीमित चरित्र के बावजूद वे वास्तविक हैं। श्यामसुन्दर की बातों का वस्तुत: लेनिनवादी क्रांतिकारी रणनीति और आम रणकौशल से कोई लेना-देना नहीं है; **लेनिन ने श्यामसुन्दर जैसे लोगों को ही क्रांतिकारी लफ्फाज़ (**revolutionary phrase-mongers**) कहा था। लेनिन ने कहा था कि कम्युनिस्टों को अपनी रणनीति और आम रणकौशल तय करने समय क्रांतिकारी मूड से नहीं बल्कि परिस्थितियों के ठण्डे मूल्यांकन से संचालित होना चाहिए। श्यामसुन्दर का यह दावा कि बुर्जुआ जनवाद में सारे बुर्जुआ जनवादी अधिकार पूर्णत: औपचारिक, दिखावटी और काग़ज़ी होते हैं एक ऐसा विचार है जो कि श्यामसुन्दर ने अपने "क्रांतिकारी मूड" से आत्मरोमांचित होकर पैदा किया है; इसका वास्तविक दुनिया की वास्तविक परिस्थितियों से कोई लेना-देना नहीं है।** रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के 1901 से लेकर फरवरी 1917 तक के कार्यक्रमों पर निगाह डालें तो हमें निम्न मांगें स्पष्ट तौर पर मिलती हैं:

"1) the people's sovereignty, i.e., concentration of supreme state power in the hands of a legislative assembly consisting of representatives of the people;

"2) universal, equal, and direct suffrage, both in elections to the legislative assembly and in elections to all local organs of self-government, for every citizen who has reached the age of twenty-one; the secret ballot at all elections; the right of every voter to be elected to any of the representative assemblies; remuneration for representatives of the people;

"3) inviolability of the person and domicile of citizens;

"4) unrestricted freedom of conscience, speech, the press and of assembly, the right to strike and to organise unions;

"5) freedom of movement and occupation"

(Lenin, Material for the Preparation of the Programme, 1902)

हम देख सकते हैं कि उपरोक्त इंगित सभी अधिकार मूलत: बुर्जुआ जनवादी अधिकार हैं, जिनके लिए समाजवादी क्रांति अनिवार्य नहीं है। **एक बुर्जुआ जनवादी गणराज्य भी ये अधिकार देता है। निश्चित तौर पर, एक पूंजीवादी देश में पूंजी की सत्ता इन अधिकारों के कार्यान्वयन को प्रभावित करती है, बाधित करती है और सीमित करती है। किन्तु यदि ये अधिकार पूर्ण रूप से औपचारिक, कागज़ी और दिखावटी बना दिये जायेंगे तो पूंजीवादी जनवाद का संकट उत्पन्न हो जायेगा।**

लेनिन ने कहा था कि निर्णायक राजनीति होती है, अर्थशास्त्र नहीं और यह मार्क्सवाद का 'क ख ग' है। यही कारण है कि पूंजीवादी राज्यसत्ता शासक वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करती है न कि एक-एक या किसी एक व्यक्तिगत पूंजीपति के हितों की; इसका अर्थ ही यही है कि पूंजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों की सेवा के लिए वह वैयक्तिक पूंजीवादी हितों की अवहेलना कर सकती है। **यही कारण है कि पूंजीवादी समाज की राजनीतिक अधिरचना के तौर पर पूंजीवादी राज्यसत्ता को सापेक्षिक (यानी कुछ निश्चित अर्थों में) पूंजीवादी शासक वर्गों के हितों से स्वायत्तता (जिसका अर्थ औंधी खोपड़ियों में नहीं घुसता और वे इसे पूर्ण स्वतन्त्रता के रूप में देखती हैं) प्राप्त होती है; यदि ऐसा न हो तो पूंजीवादी राज्यसत्ता और पूंजीपति वर्ग का वर्चस्व (जिसका अर्थ प्रभुत्व यानी dominance, नहीं बल्कि hegemony होता है; इसका अर्थ भी औंधी खोपड़ियों के सिर के ऊपर से चला जाता है) खण्डित हो जायेगा। यही कारण है कि पूंजीवादी जनवादी अधिकार समाज में आर्थिक व सामाजिक समानता स्थापित नहीं कर देते (ऐसा उनका मकसद ही कब था?) लेकिन वे कानूनी और विधिक तौर पर जो राजनीतिक अधिकार देते हैं, वे असीमित, आदर्श और निरपेक्ष न होकर भी वास्तविक होते हैं, पूर्ण रूप से कागज़ी और औपचारिक नहीं।** अपने राजनीतिक संकट के दौर में पूंजीवादी राज्यसत्ताएं कई बार इन अधिकारों को निरस्त या पूर्ण रूप से निष्प्रभावी बना देती हैं, लेकिन यह दौर उनके सारे मुखौटे उतरने का दौर होता है और क्रांतिकारी हस्तक्षेप का स्पेस तैयार करता है; आम तौर पर, ये बुर्जुआ जनवादी अधिकार सीमित और बाधित होते हुए भी वास्तविक होते हैं और इस रूप में सर्वहारा वर्ग के लिए उनका बहुत महत्व होता है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर के "बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के पूर्ण रूप से कागज़ी और औपचारिक" होने के सिद्धान्त का मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई रिश्ता नहीं है। यही कारण है कि श्यामसुन्दर फासीवाद और सेण्टर-राइट बुर्जुआ पार्टी में फर्क नहीं कर पाते हैं और न ही हिन्दुत्व और कांग्रेस द्वारा हिन्दू कार्ड के इस्तेमाल में भी फर्क नहीं कर पाते। क्रान्तिकारी लफ्फाजों की यह खासियत होती है।

मज़ेदार बात यह है कि श्यामसुन्दर स्वयं ग़लती से इस बात को मान बैठे हैं कि बुर्जुआ जनवादी अधिकार पूर्ण रूप से औपचारिक और कागज़ी नहीं होते हैं। श्यामसुन्दर ने अपने नये खर्रे में दावा किया है कि पूंजीवादी संविधान ने जाति व्यवस्था को समाप्त कर दिया, आनुवांशिक श्रम विभाजन को समाप्त कर उसकी जड़ें खोद दीं और अब जो दलित जातियां हैं, वे केवल पूंजीवादी आर्थिक अनुशासन के मातहत हैं; उन्हें कहीं भी जाने-आने, काम करने की आज़ादी है, वगैरह। **ये बुर्जुआ जनवादी अधिकार श्यामसुन्दर के लिए वास्तविक हैं!** लेकिन कुछ ही पहले उन्होंने मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन के उद्धरणों का ढेर लगाया था यह दिखलाने के लिए कि पूंजीवादी समाज में सारे बुर्जुआ जनवादी अधिकार *पूर्ण रूप से कागज़ी और औपचारिक* होते हैं! **यह बात दीगर है कि उनमें से एक भी उद्धरण में मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन ने बुर्जुआ जनवादी अधिकारों के पूर्ण रूप से कागज़ी और औपचारिक होने की बात नहीं कही है, बल्कि यह कहा है कि इन राजनीतिक अधिकारों को आर्थिक और सामाजिक समानता के साथ गड्ड-मड्ड नहीं किया जाना चाहिए और न ही इन राजनीतिक अधिकारों को निरपेक्ष**

या पूर्ण समझा जाना चाहिए क्योंकि ये उस सामाजिक-आर्थिक असमानता द्वारा हमेशा बाधित होते रहते हैं, जो कि पूंजीवादी समाज में मज़दूरों व आम मेहनतकशों तथा पूंजीपति वर्ग के बीच होती है; यही कारण है कि ये राजनीतिक अधिकार वास्तविक होते हैं, लेकिन निरपेक्ष नहीं। श्यामसुन्दर यदि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की इन बुनियादी शिक्षाओं को भी नहीं जानते हैं, तो हम उन्हें क्या कहें? हम कुछ नहीं कहेंगे, विशेषण देने का कार्य हम सुधी पाठकों के निर्णय पर छोड़ते हैं।

अब इस उपशीर्षक के दूसरे मुद्दे पर आते हैं। श्यामसुन्दर का दावा है कि हमने यह कहकर कि कुछ पेशों में आनुवांशिक श्रम विभाजन के बने रहने के पीछे बेरोज़गारी अकेला कारण नहीं है, बल्कि कई स्थानों पर दलित जातियों को यह पेशा जारी रखने पर मजबूर किया जाता है और साथ ही अन्य जातियां इस पेशे को अपनाने में अनिच्छा रखती हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का उल्लंघन कर दिया है! उनका कहना है ऐसा नहीं है कि किसी भी पेशे में आज आनुवांशिक श्रम विभाजन बाकी है; हर जगह पूंजीवादी नियम, यानी भूख के द्वारा अनुशासन व श्रम विभाजन का विनियमन, लागू हो चुका है, क्योंकि पूंजीवाद में ऐसा ही होता है। अब चूंकि पूंजीवादी समाज के इस आम नियम को श्यामसुन्दर ने पढ़ लिया है, इसलिए वह मानते हैं कि पूंजीवादी सामाजिक परिघटना हमेशा इसी रूप में घटित होगी। यानी, तथ्य से सत्य का निवारण नहीं बल्कि सत्य से तथ्य का निवारण। हमने मार्क्स का एक उद्धरण ऊपर पेश किया है जिसमें मार्क्स ने बताया है कि सामाजिक परिघटनाएं कभी सैद्धान्तिक पूर्णता और शुद्धता में प्रकट नहीं होती हैं। निश्चित तौर पर, पूंजीवादी समाज की तथ्यों और सच्चाइयों के वैज्ञानिक सामान्यीकरण से निकले नियम पूंजीवादी समाज को समझने की कुंजी देते हैं; लेकिन ये नियम ही स्वयं पूंजीवादी समाज नहीं होते; सैद्धान्तिक श्रेणियां, चाहें वे आर्थिक हों, राजनीतिक हों या सामाजिक हों, हमें ठोस सामाजिक परिघटना (concrete social phenomena) को समझने का विश्लेषणात्मक उपकरण देती हैं; वे सतह को भेदकर हमें अन्तर्वस्तु के यथार्थ तक पहुंच देती हैं; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि प्रतीतिगत यथार्थ और सारभूत यथार्थ एक ही होते हैं। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, यदि ऐसा होता तो विज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। मार्क्स ने ठीक इसी चीज़ के लिए प्रूधों की आलोचना की थी क्योंकि वह दर्शन और सिद्धान्त के जगत से ठोस यथार्थ को निगमित करते थे; जबकि यह दर्शन और सिद्धान्त का कार्यभार है कि वह ठोस यथार्थ को व्याख्यायित और पुनर्व्याख्यायित करते हुए अपने आपको विकसित करे। लेकिन जूते के नाप से पैर काटना श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों की आदत है, इसलिए हम यह दिखलाएंगे कि पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक परिघटना में हमेशा ऐसे तत्व होते हैं, जो कि व्यवस्थित असंगति (systematic anomaly) के रूप में उसमें मौजूद रहते हैं और उसके आम सैद्धान्तिक नियम के अनुसार काम नहीं करते (ठीक इसीलिए तो वे व्यवस्थित असंगति होते हैं)। इस बात को इस जवाब के दूसरे परिशिष्ट में पेश लेनिन के एक उद्धरण से भी समझा जा सकता है जिसमें कि लेनिन बताते हैं कि पूंजीवाद में हमेशा अमुक्त श्रम के रूपों की मौजूदगी अपने रूप को बदलकर बनी रहती है।

हमने ऊपर एक बहस का जिक्र किया था जो कि पूंजीवादी व्यवस्था में अस्वतन्त्र श्रम की मौजूदगी के बारे में टॉम ब्रास और जयरस बनाजी के बीच चली थी। अगर श्यामसुन्दर सिर्फ यह बहस पढ़ लें तो उन्हें कई बातें स्पष्ट हो *सकती* हैं। इसके अतिरिक्त, वह 'पूंजी' में पूअर लॉज़ (poor laws) और वर्कहाउस के बारे में मार्क्स के विवरण पढ़ लें, तो भी उन्हें पूंजीवाद में अमुक्त श्रम की मौजूदगी के विषय में काफी स्पष्टता मिल *सकती* है। आम नियम के तौर पर, पूंजीवादी समाज मुक्त मज़दूरों के श्रम के शोषण पर आधारित होता है; लेकिन इस आम नियम के अपवाद पूंजीवादी व्यवस्था में हमेशा ही मौजूद रहते हैं; भूख द्वारा श्रम का अनुशासन मूल और मुख्य प्रवृत्ति होती है; लेकिन इसका कोई यह अर्थ निकाले की पूंजीवादी समाज में इसके अपवाद मौजूद नहीं होते, तो हम यही कहेंगे कि ऐसा अर्थ निकालने वाले व्यक्ति ने पूंजीवाद के बारे में किताबों में पढ़ा

है, लेकिन अपने सामने मौजूद ठोस पूंजीवाद का अध्ययन नहीं किया है। ऐसे ही लोगों को कठमुल्लावादी कहा जाता है।

सबसे पहले तो यह दावा ही तथ्यात्मक तौर पर ग़लत है कि किसी भी पेशे में आनुवांशिक श्रम विभाजन शेष नहीं है, केवल पूंजी द्वारा अनुशासन मौजूद है। दूसरी बात, इसके दर्जनों उदाहरण मौजूद है कि गांवों में तमाम जगहों पर कुछ विशेष पेशों में लगी दलित जातियों को ज़बरन वह कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है; वह कार्य न करने पर उन्हें यातनाएं दी जाती हैं, या फिर गांव-बाहर तक कर दिया जाता है। श्यामसुन्दर कहते हैं: "पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों पर श्रम का अनुशासन डंडे से नहीं बल्कि भूख के आधार पर चलता है।" वैसे तो यह सटीक कथन नहीं है क्योंकि यह परिघटना के सार और ठोस सामाजिक परिघटना के बीच का अन्तर नहीं समझता है, लेकिन अभी हम इसकी असटीकता पर बात नहीं करेंगे। यह पूंजीवादी समाज के सार के आम नियम के तौर पर सही है। **लेकिन यदि किसी भी पेशे में श्रमिकों पर डंडे के ज़ोर से आज भी श्रम विभाजन बनाये रखा जाता है, तब श्यामसुन्दर कहते हैं: "जहां कहीं भी 'अस्पृश्य' जातियों के श्रमिकों को कोई काम करने के लिए बाध्य किया जाता है कि तो इसका पूंजीवादी श्रम विभाजन से कोई लेना-देना नहीं बल्कि यह कृत्य एक अपराध और अत्याचार की श्रेणी में आता है, क्योंकि यह राज्य की शक्ति द्वारा नहीं होता बल्कि निजी ज़ोर-जबर्दस्ती पर आधारित होता है।" यानी कि चित भी मेरी और पट भी मेरी! पहली बात तो यह है कि पूंजीवादी श्रम विभाजन कोई एकाश्मी चीज़ नहीं है और यदि पूंजीवादी समाज में ही कुछ पेशों के श्रमिकों को वह पेशा जारी रखने के लिए ज़बरन बाध्य किया जाता है, तो यह निश्चित तौर पर उस समाज में मौजूद श्रम विभाजन का एक अंग बनता है;** दूसरी बात, किसी भी वर्ग समाज में वर्गों द्वारा शोषण और उत्पीड़न केवल राज्यसत्ता के उपकरणों के ज़रिये ही नहीं होता है; वह उस वर्ग के अनौपचारिक बल प्रयोग के उपकरण द्वारा भी होता है; मिसाल के तौर पर, समूचा सामन्ती उत्पीड़न सामन्ती राज्यसत्ता की सेना द्वारा नहीं होता था, बल्कि ज़मीन्दारों के लठैतों के गिरोहों द्वारा भी होता था। क्या इसका यही अर्थ नहीं है कि वह उस वर्ग की राजनीतिक शक्ति और उसके बल प्रयोग का अंग था?

श्यामसुन्दर अपनी बात को सही साबित करने के दयनीय प्रयास में तरह-तरह के आसन कर रहे हैं, लेकिन इससे वह और भी हास्यास्पद होते जा रहे हैं। आज भी पूंजीपतियों के गुण्डा गिरोह मज़दूर वर्ग को नियंत्रित करने की कार्रवाइयों में संलग्न होते हैं और स्वयं पूंजीवादी राज्यसत्ता अनौपचारिक तौर पर इस हिंसा की न सिर्फ इजाज़त देती है, बल्कि उसे बढ़ावा भी देती है। पूंजीपतियों की सुरक्षा एंजेसिंयों को हथियार रखने, उनका इस्तेमाल करने की पूरी छूट दी जाती है। कहने के लिए ये निजी सुरक्षाकर्मी होते हैं, लेकिन वास्तव में ये पूंजीवादी राज्यसत्ता की मिलीभगत से पैदा होने वाले पूंजीपति वर्ग के अनौपचारिक बल प्रयोग के उपकरण हैं। उसी प्रकार, जातिगत हिंसा के ज़रिये कुछ विशिष्ट जातियों के श्रमिकों को अपना जातिगत पेशा जारी रखने के लिए बाध्य करने वाली शक्तियों को सरकारों और राज्यसत्ता का संरक्षण प्राप्त होता है। पूंजीवादी राज्यसत्ता और उसकी राजनीतिक शक्ति के बारे में श्यामसुन्दर बहुत ही physicalist और उपकरणवादी (instrumentalist) समझदारी रखते हैं जो कि सत्ता को एक सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध के तौर पर नहीं देखती बल्कि एक वस्तु के तौर पर देखती है। यही कारण है कि जातिगत श्रम विभाजन को कुछ विशिष्ट पेशों में बनाये रखने के लिए की जाने वाली ज़ोर-ज़बर्दस्ती उन्हें पूंजीवादी राज्य के कार्यकलाप से परे नज़र आती है और पूंजीवादी राज्य की इस समूची प्रक्रिया में मिलीभगत से उसे दोषमुक्त कर दिया जाता है। श्यामसुन्दर ने जातिगत उत्पीड़न और उसके सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आयामों के बारे में भी मात्र किताबों में पढ़ा है (बल्कि कहना चाहिए वह भी ठीक से नहीं पढ़ा है) और इसके यथार्थ से वह अनभिज्ञ हैं।

अब इस उपशीर्षक में श्यामसुन्दर के अन्तिम बिन्दु पर आते हैं। श्यामसुन्दर का कहना है कि यदि हम मानते हैं कि 26 जनवरी 1950 में भारत में बुर्जुआ जनवादी संविधान लागू है तो हमें यह मानना चाहिए 1950 से भारत में समाजवादी क्रांति की मंजिल थी; लेकिन हम ऐसा नहीं मानते; तो क्या हम भी मानते हैं कि संविधान द्वारा दिये गये अधिकार पूर्णत: औपचारिक थे? ऐसा प्रतीत होता है कि कलायत बहस से पहुंची चोट से श्यामसुन्दर अभी तक उबर नहीं पाए हैं। हमने कलायत बहस में इस विषय पर अपनी पूरी अवस्थिति को स्पष्ट किया था।

पहली बात तो यह है कि कि बुर्जुआ जनवादी अधिकार किसी पूंजीवादी राज्यसत्ता द्वारा भी छीने जाते हैं तो कम्युनिस्ट शक्तियों द्वारा उसका विरोध किया जाता है। दूसरी बात यह है कि किसी देश में क्रांति की मंजिल का निर्णय राज्यसत्ता के चरित्र से होता है; लेकिन भारतीय सन्दर्भों में दो प्रश्न अहम बन जाते हैं: पहला, क्या भारतीय राज्यसत्ता वर्ग संघर्ष की नैसर्गिक प्रक्रिया के पराकाष्ठा पर पहुंचने की परिणति के तौर पर अस्तित्व में आयी थी? दूसरा, क्या भारत में 1947 में जनवादी क्रांति के कार्यभार आंशिक तौर पर भी पूरे हुए थे? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर है: नहीं! हमने कलायत बहस के अपने आखिरी लिखित जवाब में कहा था: "हमारे पेपर में साफ कहा गया था कि भारत में पूंजीवादी राज्यसत्ता किसी क्रांति, वर्ग संघर्षों के क्रान्ति के हद तक विकसित होने का परिणाम नहीं थी। भारत में पूंजीवादी राज्यसत्ता के अस्वाभाविक और अनैसर्गिक प्रक्रिया में अंग्रेज़ों के हाथों से भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता-हस्तान्तरण के जरिये आयी थी। इसलिए भूमि का प्रश्न अधूरा नहीं था, बल्कि उसे आंशिक तौर पर भी पूरा नहीं किया गया था। कलायत के बहस में हमने यह बात साफ़ तौर पर स्पष्ट की थी कि अगर 1947 में भारत में भूमि का प्रश्न आंशिक तौर पर भी हल हुआ होता, अगर किसान आबादी का विभेदीकरण आंशिक तौर पर भी एक मुकाम तक पहुंचा होता; अगर एक एकीकृत घरेलू बाज़ार आंशिक तौर पर भी अस्तित्व में आया होता; अगर सामन्ती लगान आंशिक तौर पर भी समाप्त हुआ होता; और अगर अस्वतन्त्र श्रम की समाप्ति आंशिक तौर पर भी हुई होती; तो कुछ ख़ास परिस्थितियों में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल मानी जा सकती थी।" आगे हमने लिखा है, "जब ये कार्यभार आंशिक तौर पर भी पूरे न हुए हों, जब उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख तौर पर सामन्ती बने हुए हों, तो ऐसे में अगर किसी सत्ता हस्तान्तरण की प्रक्रिया के ज़रिये बुर्जुआ वर्ग भी सत्ता में आ जाये, तो कम्युनिस्ट आन्दोलन का पहला कार्यभार होगा कि वह मज़दूर और किसान आन्दोलन के ज़रिये उस सत्ता पर क्रान्तिकारी दबाव निर्मित करे कि वह इन कार्यभारों को अधिक से अधिक रैडिकल तरीके से पूरा करे; ऐसे में, बुर्जुआ सत्ता या तो रैडिकल तरीके से इन कार्यभारों को अंजाम देगी या फिर उसके अंजाम न देने की सूरत में मज़दूर-किसान आन्दोलन राजनीतिक तौर पर पार्टी के नेतृत्व में उस अवस्था तक पहुंचेगा कि जनता की जनवादी क्रान्ति करे। लेनिन ने भी इसी बात की ताईद की है और इस बाबत हम लेनिन का उद्धरण आगे रखेंगे।" इस पूरे जवाब को पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि हमारा पूरा तर्क क्या है। यह जवाब इस लिंक पर उपलब्ध है (http://www.mazdoorbigul.net/wp-content/uploads/debate-reply-shyamsundar.pdf)।
यानी हमारे 1947 में जनवादी क्रांति की मंजिल माने जाने के पीछे के मूल कारण को ही श्यामसुन्दर गोल कर गये। एक बार फिर से औंधी खोपड़ी का कमाल! इसलिए श्यामसुन्दर समझ ही नहीं पाए हैं कि हर बात का एक सन्दर्भ होता है, जिससे उसे काट दिया जाय तो उसका कोई अर्थ नहीं निकलता है। या शायद वह समझते हैं और इसीलिए जानबूझकर ऐसी हरकत कर रहे हैं। जो भी हो, इतना स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है कि हमारे उपरोक्त तर्क का अर्थ क्या है और श्यामसुन्दर उसे किस प्रकार विकृत कर रहे हैं।

अब हम अगले उपशीर्षक पर आएंगे जिसमें आरक्षण पर हमारी अवस्थिति के विषय में श्यामसुन्दर ने एक बार फिर से साबित किया है कि अपने कठमुल्लावादी रवैये के कारण वह इसका अर्थ ही नहीं समझ पाए हैं।

11. आरक्षण के मुद्दे पर हमारे विचार और उसे समझने में श्यामसुन्दर की जारी अक्षमता के बारे में

उतरी स्वर्ग से पशुपति के मस्तक पर
पशुपति के मस्तक से उतरी
ऊंचे पर्वत पर
उतरी ऊंचे पर्वत से
नीचे धरा पर
पृथ्वी से उतर कर
समुद्र में समा गई गंगा.
विवेकहीन मनुष्य का
इसी तरह सौ तरह
होता है पतन

- भर्तृहरि

बचपन में हमारा एक दोस्त पिण्टू पहली बार क्रिकेट खेलने आया। उसे हमने खेल के नियम समझाए; लेकिन जैसे ही वह क्लीन बोल्ड हो गया, तो चीखने लगा कि उसके साथ बेईमानी की गयी है! **श्यामसुन्दर पिण्टू के समान ही बर्ताव कर रहे हैं। वह कह रहे हैं कि अगर आपका वही मतलब था जो कि आपका था, तब तो आप ठीक हैं, और हम आपकी अवस्थिति का समर्थन करते हैं, लेकिन आपका वह मतलब था नहीं जो कि आपका मतलब था, क्योंकि मैं निरुत्तर हो गया हूं!**

श्यामसुन्दर पृष्ठ 62-64 पर हमारे पिछले जवाब से एक लम्बा उद्धरण पेश करते हैं और कहते हैं कि अगर बात यही है तो हम इससे सहमत हैं! लेकिन फिर वह कहते हैं कि असल में हमारी यह अवस्थिति है नहीं और हम अपनी असली अवस्थिति एक साजिश के तहत छिपा गये हैं, जिसमें कि "ज़रूर इनका (यानी हमारा) कोई ऐसा मकसद है जिस पर ये पर्दा डाले रखना चाहते हैं।" (!!) तो हमारे कुरुक्षेत्र के शर्लक होम्स अब अपने वॉटसनों के साथ हमारे इन छिपे हुए ख़तरनाक इरादों का पर्दाफाश करने अपने धुंधले चश्मे और टूटे लेंस के साथ निकल पड़ते हैं। आप रोमांचित होते हैं कि सिहरन ला देने वाले तरीके से हमारा जासूस इस जुर्म का पर्दाफाश करेगा...लेकिन आप पाते हैं कि उसने अन्त में अपना ही आखिरी पर्दा गिरा दिया है और यह शर्लक होम्स नहीं था बल्कि इंस्पेक्टर क्लूज़ो था! श्यामसुन्दर ने पृष्ठ 64-65 में जो किया है वह है सन्दर्भों से काटकर हमें उद्धृत करना, उसे मिसरेप्रजेण्ट करना और बातों का अर्थ ही नहीं समझना। आइये देखते हैं कैसे।

श्यामसुन्दर अपनी उपरोक्त बतायी गयी सहमति बताने के बाद कहते हैं: "पर हकीकत यह है कि इनका 'तीसरा पक्ष' असल में आरक्षण को हटाकर उसकी जगह 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के नारे को जगह

देना है।" **निश्चित तौर पर, हमारा मकसद इसी नारे को स्थान देना है, पर नारे को स्थान कहां दिया जाता है? किसी राजनीतिक चार्टर में, राज्यसत्ता की नीति में नहीं। हमने निश्चित तौर पर यही कहा है और अब भी कह रहे हैं कि आज दलित आबादी हो या फिर ग़ैर-दलित आबादी, उसके रोजगार और शिक्षा हेतु आन्दोलन के मांगपत्रक में शिक्षा और रोज़गार की समस्या के समाधान के रास्ते के तौर पर आरक्षण का नारा नहीं होना चाहिए, बल्कि सबको समान एवं निशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार का नारा होना चाहिए (चाहे वह पूंजीवाद में सम्भव न हो तो भी; उल्टे ठीक इसीलिए इस मांग को ही केन्द्रीय मांग बनाया जाना चाहिए)। पहले से लागू आरक्षण को नौकरशाही द्वारा भ्रष्टाचार के तहत लागू न करने के प्रश्न और आरक्षण को शिक्षा और रोज़गार की समस्या के समाधान के तौर पर पेश करने के प्रश्न के बीच श्यामसुन्दर को फर्क नहीं समझ आता है। दूसरा, श्यामसुन्दर को इसमें फर्क नहीं समझ आता है कि जहां कहीं आरक्षण को लागू न करने के भ्रष्टाचार के विरुद्ध कम्युनिस्ट ताकतें संघर्ष करेंगी, वहां भी उसके साथ यही राजनीतिक प्रचार करेंगी कि यदि आरक्षण पूरी तरह सफलतापूर्वक लागू हो या न लागू हो, इससे व्यापक मेहनतकश दलित आबादी के भविष्य पर कोई खास असर नहीं पड़ने वाला है। दूसरे शब्दों में, श्यामसुन्दर किसी विशिष्ट मांग के लिए लड़ने और उसके साथ किये जाने वाले राजनीतिक प्रचार के बीच कोई अन्तर नहीं समझ पाते।** हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि केवल पृष्ठ 62 से पृष्ठ 64 के बीच श्यामसुन्दर ने जो हमारा लम्बा उद्धरण पेश किया है, उसे पढ़ें; उसी में यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब उन उद्धरणों पर आते हैं जिन्हें श्यामसुन्दर ने हमारी आरक्षण-सम्बन्धी पुस्तिका से छांटा है और फिर सन्दर्भों से काटकर उसकी व्याख्या की है। श्यामसुन्दर हमारा यह उद्धरण पेश करते हैं: "...आरक्षण की मांग यदि 'सभी को समान एवं निशुल्क शिक्षा तथा सबके लिए रोज़गार' की लड़ाई की एक कड़ी होती या इसे आगे बढ़ाने में सहायक होती, तो बेशक इसका समर्थन किया जा सकता था।" दूसरा उद्धरण यह है: "हमारे विचार से आरक्षण चाहे लागू हो या न लागू हो, दलितों और पिछड़ी जाति के ग़रीबों की स्थिति में कोई बुनियादी फर्क नहीं पड़ेगा। **जाति-प्रश्न के समाधान की दिशा में यह एक छोटा-सा भी कदम नहीं है।**...इसलिए, हमारा पक्ष यह है कि हम आरक्षण का न तो समर्थन करते हैं, न ही विरोध। हम इस मुद्दे पर जनता के बंट जाने की स्थिति को ही एक कुचक्र मानते हैं इसका विरोध करते हैं। शिक्षा और नौकरी में किसी प्रकार का आरक्षण नहीं बल्कि छात्र-युवा आन्दोलन की आज एक ही केन्द्रित मांग हो सकती है 'सभी के लिए समान और निशुल्क शिक्षा तथा काम करने योग्य हर व्यक्ति के लिए रोज़गार।" श्यामसुन्दर इसका यह अर्थ निकालते हैं: "पाठक निर्णय कर सकते हैं कि इसे यानी जिसे ये 'तीसरा पक्ष' कह रहे हैं, यह 'तीसरा पक्ष' है या विपक्ष?"

पहले इन दो उद्धरणों की श्यामसुन्दर द्वारा की गयी ग़लत व्याख्या पर बात करते हैं, फिर उनके द्वारा पेश तीसरे उद्धरण पर आएंगे। श्यामसुन्दर दो चीज़ों में फर्क करने में अक्षम हैं। एक राज्य की नीति के तौर पर आरक्षण को खत्म करने की मांग और छात्र-युवा आन्दोलन के प्रमुख नारे के तौर पर आरक्षण को खत्म करने की मांग। **यदि कोई हमारी पुस्तिका को पूरा पढ़े (याद दिला दें, किसी भी रचना को पूरा पढ़ना श्यामसुन्दर की आदतों में शुमार नहीं है) तो वह देख सकता है कि पुस्तिका में पहले उन लोगों का खण्डन किया गया है, जो कि राज्य की नीति के तौर पर आरक्षण को खत्म करने की मांग करते हैं। उसके बाद, हमने उन लोगों का खण्डन किया है जो कि राज्य की इस नीति को जाति प्रश्न के समाधान के रास्ते के तौर पर देखते हैं।** लेकिन श्यामसुन्दर को राज्य की नीति के सम्बन्ध कही जाने वाली बात और छात्र-युवा आन्दोलन के राजनीतिक चार्टर पर केन्द्रीय नारे के तौर पर रखी जाने वाली बात में फर्क नज़र नहीं आता है। यदि श्यामसुन्दर द्वारा पेश ही दूसरे उद्धरण को देखें तो पाठक समझ सकते हैं कि हम आरक्षण को लागू होने या न होने को जाति प्रश्न के समाधान की दिशा में कोई कदम नहीं मानते: "जाति प्रश्न के समाधान की दिशा में यह एक छोटा-सा भी कदम

नहीं है।" **क्या जातिगत आरक्षण के लागू होने से जाति प्रश्न का समाधान होगा? यदि श्यामसुन्दर ऐसा मानते हैं, तो उन्हें अवश्य इस पर अपने संगठन की ओर से एक अवस्थिति पत्र लिखना चाहिए।** दूसरा सवाल यह है कि क्या नौकरशाही द्वारा अपनी सवर्णवादी मानसिकता के चलते आरक्षित सीटों को न भरने का विरोध किया जाना चाहिए? बिल्कुल किया जाना चाहिए। ठीक वैसे ही जैसे कि यदि स्त्रियों की आरक्षित सीटों पर स्त्री उम्मीदवारों की मौजूदगी के बावजूद उसे न भरा जाय, तो उसका विरोध होना चाहिए। लेकिन क्या इसका अर्थ यह मानना होगा कि स्त्रियों के लिए आरक्षण लागू हो जाने से स्त्री प्रश्न का समाधान हो जायेगा? आप देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर का राजनीतिक मोतियाबिन्द उन्हें अपने द्वारा पेश उद्धरण को भी सही तरीके से समझने नहीं देता है। जब इंसान "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के जुनून में इस कदर मसरूफ हो जाये, तो इस प्रकार की राजनीतिक अन्धता स्वयं ही पैदा हो जाती है।

हमारा स्पष्ट तौर पर मानना है कि जाति प्रश्न के समाधान की दिशा में आरक्षण का समर्थन करना या विरोध करना एक गलत अवस्थिति है और वास्तव में यह एक ही अवस्थिति है; केवल ये दो अलग रूप ग्रहण करती है। दूसरी बात, आरक्षण को लागू करते हुए आरक्षित सीटों को भरने की मांग को उठाते समय भी कम्युनिस्ट ताक़तें यह राजनीतिक प्रचार नहीं करेंगी कि इस नीति के लागू होने से ही दलित आबादी का शोषण और उत्पीड़न समाप्त हो जायेगा और जाति प्रश्न का समाधान हो जायेगा। हमने अपने उस कथन में ही स्पष्ट किया है, जो कि श्यामसुन्दर ने उद्धृत किया है, कि यह दलित आबादी का जनवादी अधिकार है कि राज्यसत्ता ने उसे जो आरक्षण दिया है, उसे भ्रष्टाचार-रहित तरीके से लागू किया जाय। लेकिन आरक्षण का एक आम राजनीतिक मांग के तौर पर समर्थन करने का अर्थ यह होगा कि हम आरक्षण के रास्ते को ही जाति प्रश्न के समाधान का रास्ता मानते हैं; ऐसी सूरत में शासक वर्ग द्वारा दलितों और पिछड़ों के बीच ही जो नयी-नयी श्रेणियां बनाकर आरक्षण का लुकमा उछाला जा रहा है, उससे स्वयं दलितों और पिछड़ों के बीच की आबादी बंट जाती है। **लेकिन श्यामसुन्दर को इन दोनों अवस्थितियों में अन्तर नहीं समझ में आता है। आरक्षण के प्रश्न पर हमारी पुस्तिका अर्जुन सिंह द्वारा पिछड़ों के लिए आरक्षण को लागू करने की प्रतिक्रिया के स्वरूप छात्र-युवा आन्दोलन के इस प्रश्न पर बंट जाने के सन्दर्भ में लिखी गयी थी और इसीलिए पूरी पुस्तिका में सवाल यह रखा गया है कि छात्र-युवा आन्दोलन का केन्द्रीय नारा क्या होना चाहिए, न कि इस सन्दर्भ में कि सरकार को आरक्षण खत्म कर देना चाहिए, या बढ़ा देना चाहिए। इस सन्दर्भ को श्यामसुन्दर बेईमानी के साथ गोल कर जाते हैं और हमारी बात को इस तरह पेश करते हैं मानो हम सरकार द्वारा पहले से लागू आरक्षण को समाप्त करने की बात कर रहे हैं, जबकि पुस्तिका में ही पहला उपशीर्षक ही उन लोगों के खिलाफ है जो कि ऐसी मांग उठाते हैं।**

अब हमारे तीसरे कथन पर आते हैं जिसे कि श्यामसुन्दर ने जाति प्रश्न पर पेश हमारी शोध टीम के पेपर से उद्धृत किया है। वह कथन यह है: "आरक्षण आज एक गैर-मुद्दा (non-issue) है, ***दलित मुक्ति के एजेंडे पर*** इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा। अभी तक हम नौकरियों में आरक्षण की बात कर रहे थे। जहां तक सत्ता-तंत्र में (चुनावी सीटों पर) आरक्षण की बात है, यह एक प्रतिक्रियावादी दलित-विरोधी मांग है। कुछ दलितों के संसद और सरकार में पहुंच जाने से बस इतना होता है कि वे बुर्जुआ राज्यसत्ता के पुर्जे बन जाते हैं, पूरे फ्रेमवर्क का अतिक्रमण करके दलितों के लिए कुछ रैडिकल सुधार भी वे नहीं करवा सकते। छह दशकों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है।"

जैसा कि आप देख सकते हैं हमने पहले ही वाक्य में लिखा है 'दलित मुक्ति के एजेंडे पर इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा।' इसका श्यामसुन्दर ने यह अर्थ निकाला है:

"इनका कहना है कि ये दो बातें नौकरियों में आरक्षण बारे हैं। जिसका सीधा-सा मतलब यह है कि नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान को खत्म करो और इसकी जगह 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' की मांग रखी जाये। यानी जो अभी पास में है उसको छुड़वा दिया जाए और जिसका हासिल किया जाना इस व्यवस्था में असंभव है उसके लिए मांग उठाई जाए।" **कोई भी समझ सकता है कि श्यामसुन्दर ने इरादतन हमारी अवस्थिति को विकृत करके पेश किया है, क्योंकि सही अवस्थिति का खण्डन वह कर नहीं पा रहे। यहां पर स्पष्ट कहा गया है कि आन्दोलन के एजेंडे पर किस मांग को प्राथमिकता दी जाये, न कि सरकार के नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान को खत्म कर दिया जाय। यह वह "सीधा-सा मतलब" है नहीं जिसकी श्यामसुन्दर बात कर रहे हैं, लेकिन सीधा-सा मतलब औंधी खोपड़ी में घुसेगा इसकी हम उम्मीद भी नहीं करते!** अब इसके दूसरे हिस्से पर आते हैं: क्या कम्युनिस्टों को वे मांगें पूंजीवादी व्यवस्था के समक्ष उठानी चाहिए, जो कि इस व्यवस्था में पूरी नहीं हो सकतीं हैं? जी हां! वास्तव में, कम्युनिस्टों को विशिष्ट सुधार की मांगों के साथ, मगर उनसे आगे बढ़ते हुए, हमेशा उन राजनीतिक मांगों को अपने चार्टर में प्रमुखता से स्थान देना चाहिए, जो कि पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्ण होनी असम्भव हैं, किन्तु सही मांग होने के नाते व्यवस्था को उसके असंभाव्यता के बिन्दु पर पहुंचाती हैं। मार्क्स ने 'फ्रांस में वर्ग संघर्ष, 1848-50' में रोज़गार की गारण्टी की मांग के बारे में ठीक यही लिखा है:

"The first draft of the constitution, made before the June days, still contained the droit au travail, the right to work, the first clumsy formula wherein the revolutionary demands of the proletariat are summarized. It was transformed into the droit à l'assistance, the right to public relief, and what modern state does not feed its paupers in some form or other? The right to work is, in the bourgeois sense, an absurdity, a miserable, pious wish. *But behind the right to work stands the power over capital; behind the power over capital, the appropriation of the means of production, their subjection to the associated working class, and therefore the abolition of wage labor, of capital, and of their mutual relations. Behind the "right to work" stood the June insurrection.* The Constituent Assembly, which in fact put the revolutionary proletariat hors la loi, outside the law, had on principle to throw the proletariat's formula out of the constitution, the law of laws; had to pronounce its anathema upon the "right to work.""
(Marx, *Class Struggles in France, 1848-50*)

श्यामसुन्दर इस सीधी-सी बात को नहीं समझते कि मात्र वे मांगें उठाना जो कि पूंजीवादी जनवाद के दायरे में सम्भव हो, सामाजिक-जनवादियों और संशोधनवादियों का काम है। कम्युनिस्ट ठीक उन्हीं मांगों को प्राथमिकता देते हैं, जो कि जनवादी उसूलों के अनुसार सही हैं, पूंजीवादी व्यवस्था कई बार उनका वायदा भी करती है, लेकिन अपने बुनियादी तर्क के कारण ही इन वायदों को पूरा नहीं कर सकती। यही मांगें और उनके लिए संघर्ष तो व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुंचाती हैं। लेकिन कम्युनिस्ट राजनीति के इस बुनियादी उसूल से भी श्यामसुन्दर परिचित नहीं हैं।

इसके बाद श्यामसुन्दर संसद-विधानसभाओं में दलितों के लिए सीटों के आरक्षण का समर्थन करते हुए हमें उलाहना देते हैं कि हम इसका विरोध करके कोई भारी प्रतिक्रियावादी बात कर रहे हैं; साथ ही, वह कहते हैं कि दलितों के बीच यह मांग है ही नहीं क्योंकि यह मांग तो पहले से ही लागू है। दोनों में से एक बात तो श्यामसुन्दर के समझ में ही नहीं आयी है, और दूसरी बात पर वह ग़लत हैं। यदि संसद-विधानसभाओं में सीटों को आरक्षित करने की मांग, जो कि 1930 के दशक में अपेक्षाकृत रूप से सही हो सकती थी, लेकिन आज कतई सही नहीं है, श्यामसुन्दर को आज भी सही लगती है तो संसद में स्त्रियों के लिए सीटें आरक्षित करने का भी उन्हें समर्थन करना चाहिए। **वास्तव में, ऐसे तर्क के पीछे एक अस्मितावादी राजनीतिक सोच होती है, जो मानती है कि दलित आबादी का प्रतिनिधित्व दलित ही कर सकते हैं, या दलित ही अच्छी तरह से कर सकते हैं; यह व्यक्ति की राजनीतिक कार्यदिशा से अधिक उसकी अस्मिता को वज़न देती है और राजनीतिक कार्यदिशा की जगह व्यक्ति की व्यक्तिगत पहचान को रख देती है।** श्यामसुन्दर शिक्षा में आरक्षण और निर्वाचक मण्डलों में आरक्षण को एक ही समझते हैं और दोनों के बीच के महत्वपूर्ण अन्तर से अनभिज्ञ हैं। दूसरी बात, दलितों के लिए सीटों के आरक्षण को बढ़ाने की मांगें आज भी कई दलित संगठनों द्वारा उठायी जाती हैं; **तीसरी बात, आर्थिक व सामाजिक लाभ (शिक्षा और नौकरी) हेतु आरक्षण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व हेतु आरक्षण में श्यामसुन्दर को कोई फर्क नज़र नहीं आता है; अम्बेडकरवादियों के समान उन्होंने भी रामदास आठवले, मायावती, उदित राज के चुने जाने पर काफी तालियां बजाई होंगी कि दलितों को प्रतिनिधित्व मिल गया और उन्हें सवर्ण उम्मीदवारों का सामना भी नहीं करना पड़ा! यह है श्यामसुन्दर की राजनीतिक अवस्थिति!** हमने उपरोक्त उद्धरण में ऐसे आरक्षण को खत्म करने के विषय में कोई बात नहीं कही, बल्कि इसकी मांग के विषय में बात कही है; जैसा कि हमने जिक्र किया कई दलित संगठन इस आरक्षण को बढ़ाने की मांग उठाते रहे हैं। लेकिन इससे भी अहम बात यह है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व के आधार पर आरक्षण नियत करना व्यापक मेहनतकश आबादी को जातिगत आधार पर सबसे गम्भीर रूप में बांटता है। आखिरी बात यह है कि साठ वर्षों में इसकी वजह से व्यापक दलित आबादी को इससे वास्तविक राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिला हो, इसका कोई प्रमाण नहीं है। उल्टे आज रामविलास पासवान, उदित राज, मायावती, रामदास आठवले और कोविन्द जैसे प्रतिनिधियों को देखकर तो वही बात सिद्ध होती है, जो हमने अपने इस उद्धरण में कही है। ये नुमाइन्दे तो बुर्जुआ व्यवस्था की उससे भी ज्यादा वफादारी से सेवा करते हैं, जितनी वफादारी से सवर्ण पूंजीवादी नुमाइन्दे करते हैं।

श्यामसुन्दर के पास हमारी अवस्थितियों को विकृत करके पेश करने के अलावा अब कोई चारा नहीं बचा है। हमारी अवस्थितियों को ईमानदारी से पेश करके वह उनका खण्डन कर नहीं पाते; ऐसे में, उनका "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" खतरे में पड़ जाता है। अगले उपशीर्षक में हम श्यामसुन्दर की एक भीष्मप्रतिज्ञा की चर्चा करेंगे।

12. श्यामसुन्दर की भीष्म-प्रतिज्ञा: 'मैं निषेध का निषेध के नियम को कभी नहीं समझूंगा!'

'दो चीज़ों की कोई सीमा नहीं होती -- ब्रह्माण्ड और मूर्खता; ब्राह्मण्ड के बारे में मैं पक्का नहीं हूं।'

- अल्बर्ट आइंस्टीन

निषेध का निषेध के नियम के प्रश्न पर श्यामसुन्दर ने जो नया ज्ञान बघारा है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि इस नियम को न समझने की उन्होंने शपथ ले रखी है। श्यामसुन्दर दुहराते हैं कि कोई भी वस्तु अपने निषेध के द्वारा अपने विपरीत में बदल जाती है। मिसाल के तौर पर, पूंजीवादी समाज अपने विपरीत यानी समाजवादी समाज में बदल जायेगा। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "समाजवाद, पूंजीवाद का निषेध होता है और इसीलिए पूंजीवाद का विपरीत होता है।" यह धारणा स्वत: ही दिखला देती है कि श्यमासुन्दर को न तो विपरीत तत्वों के एकता व संघर्ष का सिद्धान्त पता है और न ही निषेध का निषेध का, जैसा कि आगे हम उद्धरणों और उदाहरणों समेत दिखलाएंगे। निषेध का निषेध का सिद्धान्त बताता है कि इतिहास रेखीय गति नहीं करता बल्कि कुण्डलाकार गति करता है। कुण्डलाकार गति का अर्थ ही होता है कि हर नया चरण पिछले चरण से कुछ निरन्तरता के तत्व लिये होता है और कुछ परिवर्तन के। यही कारण है कि वह पिछले चरण का विपरीत नहीं होता है। **अन्तरविरोध में विपरीत तत्व परस्पर बहिष्कारी (mutually exclusive) भी होते हैं और एक दूसरे के पूरक (complementary) भी और वे एक दूसरे में बदल भी जाते हैं (transmutable), यानी अपना स्थान बदल लेते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं होता है। श्यामसुन्दर के उपरोक्त सूत्रीकरण के आधार पर उनसे दो प्रश्न पूछे जा सकते हैं: पहला, समाजवाद और पूंजीवाद किस पूर्णता (totality) के भीतर दो विपरीत पहलुओं की भूमिका निभाते हैं? मिसाल के तौर पर, उजरती श्रम और पूंजी एक दूसरे के विपरीत, एक दूसरे के एंटीथीसिस हैं, यानी उनमें से एक थीसिस है और दूसरा एण्टीथीसिस; ये दोनों पूंजीवाद नामक पूर्णता के भीतर उसके परस्पर विपरीत दो पहलुओं की भूमिका निभाते हैं। वैसे तो श्यामसुन्दर यह भी नहीं जानते कि पूंजी और उजरती श्रम थीसिस व एण्टीथीसिस की भूमिका में होता है; आगे हम उद्धरणों समेत दिखलाएंगे कि श्यामसुन्दर द्वन्द्ववाद का 'क ख ग' भी नहीं जानते हैं। बहरहाल, दो विपरीत पहलुओं बीच ऐसा ही सम्बन्ध होता है। एक खत्म होगा, तो दूसरा भी खत्म हो जायेगा। ये मिलकर एक पूर्णता का निर्माण करते हैं। यदि समाजवाद पूंजीवाद के विपरीत है, तो फिर वे किस अन्तरविरोध या पूर्णता के दो पहलुओं की भूमिका निभाते हैं?**

दूसरा प्रश्न, जिसे अपने जवाब में श्यामसुन्दर जानबूझकर यह कहकर टाल गये हैं कि इसका समाधान हम खुद कर लें, वह यह है: यदि आदिम समाज का विपरीत, दास समाज था, तो दास समाज का विपरीत आदिम समाज है; इस सूत्र से आदिम समाज के बाद वापस दास समाज आ जाना चाहिए! क्योंकि यह बुनियादी तर्कशास्त्र मूल नियम है कि यदि a का विपरीत b है, तो b का विपरीत a है। लेकिन अफसोस इतिहास श्यामसुन्दर के सिद्धान्त के अनुसार नहीं चलता है। उसी प्रकार यदि समाजवाद पूंजीवाद का विपरीत है, तो जाहिर है कि ये दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। ऐसे में, समाजवाद के निषेध के तौर पर पूंजीवाद आना चाहिए!

ये वे प्रश्न हैं, जिनका श्यामसुन्दर के पास कोई जवाब नहीं है और इसीलिए वह इन प्रश्नों पर गोलमाल कर रहे हैं।

जब भी दार्शनिक अर्थों में विपरीत वस्तुओं की बात होती है, तो उसका अर्थ किसी अन्तरविरोध के दो ध्रुवीय विपरीत पहलुओं से होता है, जिनसे कि वह अन्तरविरोध निर्मित होता है। 'विपरीत' शब्द का आम राजनीतिक इस्तेमाल भी किया जाता है, जिसमें चीज़ों के अपने विपरीत में बदल जाने की बात की जाती है। लेकिन दार्शनिक तौर पर इसका क्या अर्थ है, आइये मार्क्स के शब्दों में देखते हैं:

"**Proletariat and wealth are opposites. As such they form a single whole.** They are both begotten by the world of private property. The question is what particular place each occupies within the antithesis. It is not sufficient to declare them two sides of a single whole.

"Private property as private property, as wealth, is compelled to maintain itself, and thereby its opposite, the proletariat, in existence. That is the positive side of the contradiction, self-satisfied private property.

"The proletariat, on the other hand, is compelled as proletariat to abolish itself and thereby **its opposite, the condition for its existence,** that which makes it the proletariat, i.e., private property. That is the negative side of the contradiction, its restlessness within its very self, dissolved and self-dissolving private property.

"The propertied class and the class of the proletariat present the same human self-alienation. But the former class feels happy and confirmed in this self-alienation, it recognises alienation as its own power, and has in it the semblance of human existence. The class of the proletariat feels annihilated in its self-alienation; it sees in it its own powerlessness and the reality of an inhuman existence. To use an expression of Hegel's, the class of the proletariat is in abasement indignation at this abasement, an indignation to which it is necessarily driven by the contradiction between its human nature and its conditions of life, which are the outright, decisive and comprehensive negation of that nature.

"Within this antithesis the private property-owner is therefore the conservative side, the proletarian, the destructive, side. From the former arises the action of preserving the antithesis, from the latter, that of annihilating it.

"In any case, in its economic movement private property drives towards its own dissolution, but only through a development which does not depend on it, of which it is unconscious and which takes place against its will, through the very nature of things, only inasmuch as it produces the proletariat as proletariat, misery conscious of its spiritual and physical misery, dehumanisation conscious of its dehumanisation and therefore self-abolishing. The proletariat executes the sentence that private property pronounced on itself by begetting the proletariat, just as it executes the sentence that wage-labour pronounced on itself by begetting wealth for others and misery for itself. **When the proletariat is victorious, it by no means becomes the absolute side of society for it is victorious only by abolishing itself and its opposite**. Then the proletariat disappears." (Marx, *Holy Family, emphasis ours*)

जैसा कि मार्क्स यहां स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं, विपरीत तत्व वे होते हैं जो किसी भी अन्तरविरोध का निर्माण करते हैं (ग़ौर करें कि 'एंटीथीसिस' शब्द का प्रयोग मार्क्स द्वारा 'अन्तरविरोध' के अर्थों में भी किया गया है और अन्तरविरोध के दो में से एक पहलू के रूप में भी, जैसा कि हम आगे सप्रमाण दिखलाएंगे; लेकिन अगर ग़ौर से देखें, तो बात एक ही है)। क्या समाजवाद और पूंजीवाद किसी पूर्णता के दो विपरीत पहलुओं का निर्माण करते हैं? इसीलिए दार्शनिक अर्थों में समाज या प्रकृति में विकास की मंजिलें कभी एक दूसरे के विपरीत नहीं होती। ऐसा तर्क इतिहास और प्रकृति में विकास के कुण्डलाकार नहीं बल्कि एकरेखीय विकास का सिद्धान्त पेश करता है और यह नये द्वारा पुराने का स्थान लिये जाने की कभी व्याख्या नहीं कर सकता है।

विपरीत होने का दार्शनिक तौर पर अर्थ समझने के बाद अब हम निषेध का निषेध के नतीजे के विषय में बात करते हैं। इसके लिए चूंकि श्यामसुन्दर ने बिना समझे कुछ उद्धरण पेश किये हैं, इसलिए हम उन्हें समझाने हेतु 1931 में सोवियत संघ में मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा प्रकाशित मार्क्सवादी दर्शन की पाठ्यपुस्तक से निषेध का निषेध और साथ ही उसके विपरीत तत्वों के एकता और संघर्ष के नियम का ही विस्तार होने के विषय में एक लम्बा उद्धरण पेश कर रहे हैं। हम उम्मीद करते हैं कि इससे श्यामसुन्दर के ज्ञान-चक्षु कुछ खुलेंगे। इसके बाद भी नहीं खुलते तो हमें भाववादी ढंग से कहना पड़ेगा कि उनका खुदा ही मालिक है! देखें यह पुस्तक क्या कहती है:

"What is the essence of this law (negation of the negation)? What connection has it with the kernel of dialectic -- the law of the unity of opposites? In the exposition that follows we will show that **the law of the negation of the negation emerges as one of the**

concrete forms of manifestation of the law of the unity of opposites, disclosing the connection of the qualitatively different stages in the dialectical development of processes, their relationship and the form of the change in each particular case.

"...Marx, having shown the whole historical course of private ownership now draws the following conclusions, among which we find the formulation of the law of the negation of the negation: "The capitalist method of appropriation proceeding out of the capitalist method of production, and consequently capitalist property, is ***the first negation*** of individual private property based upon individual labour. But, with the inexorability of a law of nature, capitalist production begets its own negation. It is a negation of a negation. This ***second negation*** does not re-establish private property, but it does re-establish individual property upon the basis of the acquisitions of the capitalist era; i.e. on co-operation and the common ownership of the land and of the means of production (which the labour itself produces)."

"What is the significance of Marx's exposition? ***Marx unfolds a dialectic of contradictory development of the forms of private ownership in which each successive stage, growing out of its predecessor and appearing as its negation, negates itself in turn by the force of the development of its contradictions.*** Both the conversion of small-scale private ownership into large-scale capitalist ownership and also the conversion of the latter into social ownership proceeds on the basis of the development of the essential contradiction in the mode of production itself. Each phase in the development of the forms of private ownership resolves the determined form of the contradiction that belongs to the previous stage of development. Thus the individual forms of private ownership that preceded the capitalist grew out of the decomposition of feudal ownership. In it was given the solution of the contradiction between the development of productive forces and the forms of feudal ownership that had been keeping back the development of crafts and trade. "Private ownership by the worker of the means of production" (Marx) was the basis of small-scale production, which at that period was the necessary phase in the development of social productive forces to a new stage. But in the course of the development of this form of small-scale private ownership by the

"many", a contradiction between the possession of the means of production of the small-scale producer and the further development of the forces in production emerged and proceeded to develop. Capitalism resolved this form of contradiction by the alienation of the means of production from the small-scale producer and their concentration into the hands of a few magnates of capital. But capitalism called into life another form of the same contradiction between the productive forces and private ownership -- the antagonistic contradiction between the social organization of work and the private forms of appropriation.

...

"And so the essence of the law of the negation of the negation as exemplified by Marx in application to the emergence and development of capitalsim, amounts to the following basic propositions:

"(1) Between the different phases of the contradictory development of private ownership, there exists a profound internal connection.

"(2) Every phase, **by overcoming the specific form of the contradiction of its predecessor, by negating it, brings forth the form of contradiction that belongs to it and by this means prepares its own negation**.

"(3) **These phases, by negating each other, resolve the general contradiction that belongs to them and therefore the latter negation of the negation denotes to a transition to a new law-system, to a new essential contradiction.**

"(4) The double contradiction unites in itself, in certain features, the preceding phases and from the external aspect represents a return to some features of the original form of the basic contradiction. The "synthesis" negates and overcomes both the "thesis" and also the "anti-thesis", but the external form of the "synthesis" reproduces certain features of the external form of the thesis."

इस लम्बे उद्धरण से जो पहली बात स्पष्ट होती है वह यह है कि विपरीत तत्वों की एकता वह बुनियादी नियम है, जिसके प्रभाव और परिणाम के तौर पर निषेध और फिर निषेध का निषेध होता है। **हम देखेंगे कि श्यामसुन्दर ने अपने नये खर्रे में आगे दावा किया है कि विपरीत तत्वों की एकता तो हर जगह लागू होती है, लेकिन निषेध का निषेध का नियम सार्वभौमिक तौर पर लागू नहीं होता है। जैसा कि आप देख सकते हैं, इस दावे का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से कोई रिश्ता नहीं है। विपरीत तत्वों की एकता के फलस्वरूप ही विकास होता है, लेकिन विकास की अगली अवस्था पिछली अवस्था के विपरीत नहीं होती बल्कि उसका निषेध होती है।** निषेध का अर्थ क्या है, यह हमें लेनिन बताते हैं:

"Neither barren negation, nor purposeless negation, nor sceptical negation, nor vacillation, nor doubt are characteristic and essential in dialectic, which undoubtedly does contain in itself the element of negation and moreover contains it as the most important element -- No, this element of negation is **a moment of connection**, is a moment of development with retention of the positive; i.e. without any vacillations, without any eclecticism."

दर्शन की सोवियत पाठ्यपुस्तक से दिये गये उपरोक्त लम्बे उद्धरण से जो दूसरी बात स्पष्ट होती है वह यह कि हरेक चरण में एक विशिष्ट अन्तरविरोध होता है; इस अन्तरविरोध के विपरीत तत्वों के संघर्ष के फलस्वरूप अगला, यानी नया चरण आता है, जिसका अपना विशिष्ट अन्तरविरोध होता है; इस नये अन्तरविरोध के समाधान के तौर पर फिर से एक नया चरण आता है। हर नये चरण में पिछले चरण के जीवक्षम पहलू को सहयोजित किया गया होता है, जबकि अजीवक्षम को समाप्त किया गया होता है। लेनिन ने इसी आधार पर *प्रोलेत्कुल्त* की धारा का विरोध किया था। *प्रोलेत्कुल्त* की धारा के लोग भी एक determinate negation की बजाय एक बांझ किस्म के निषेध की बात कर रहे थे। उनका कहना था कि अब तक के वर्ग समाजों में जो भी कला पैदा हुई है, वह शोषक वर्गों के विचारों से दूषित है; इसलिए उन दौरों की समस्त कला का नाश करके सर्वहारा वर्ग अपनी नयी सर्वहारा कला और संस्कृति विकसित करेगा। लेनिन ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि सर्वहारा वर्ग पिछले वर्ग समाजों में मनुष्य द्वारा पैदा हर सकारात्मक और मानवीय चीज़ को आत्मसात करेगा, विकसित और परिष्कृत करेगा; नये का संधान भी इसी आधार पर होगा। इस रूप में, सर्वहारा कला और संस्कृति पूंजीवादी और अन्य वर्ग समाजों की कला और संस्कृति का विपरीत नहीं होगा, बल्कि उनका निषेध होगा।

पाठ्यपुस्तक के इसी अध्याय में कुछ आगे ये शब्द लिखे हैं, जो कि मानो श्यामसुन्दर जैसों के लिए ही लिखे गये हों:

"Materialist dialectics explains the **emergence of negation as a result of the development of the internal contradictions of a process. And so negation emerges as a moment in the conflict of opposites and, together with this, serves as a true connection between the trasitions from one set of stages to others. Characteristic of merely "formal"**

logic is another conception of negation; negation is said to come from outside, to be an external and antagonistic force in relation to the given process."

श्यामसुन्दर को यह लगता है कि निषेध का निषेध का नियम विपरीत तत्वों की एकता के नियम से सर्वथा कोई भिन्न चीज़ है। वह *'द्वन्द्ववाद का द्वन्द्ववाद'* पैदा करते हुए दावा करते हैं कि द्वन्द्ववाद के तीन नियमों में विपरीत तत्वों की एकता प्रधान अन्तरविरोध है, जबकि निषेध का निषेध गौण अन्तरविरोध हैं! जबकि सच्चाई यह है कि निषेध का निषेध का नियम विपरीत तत्वों की एकता के नियम की एक अभिव्यक्ति और विस्तार है जो कि विकास के पथ को स्पष्ट करती है; इसका अलग से महत्व ठीक इसीलिए है क्योंकि विकास के अलग-अलग चरण एक-दूसरे के विपरीत नहीं होते हैं, बल्कि उनका द्वन्द्वात्मक निषेध होते हैं। साथ ही, यहां आप श्यामसुन्दर के इस विचार की अज्ञानता को भी स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं जो सोचता है कि थीसिस के विरोध में एण्टीथीसिस कहीं बाहर से आती है; सच्चाई यह है कि थीसिस स्वयं थीसिस व एण्टीथीसिस में विभाजित होती है और उनके अन्तरविरोध से ही विकास का अगला चरण उपस्थिति होता है, जोकि स्वयं दो में विभाजित होता है। आगे हम इस प्रक्रिया पर विस्तार से उद्धरणों समेत चर्चा करेंगे।

पूंजी और श्रम एक-दूसरे के एण्टीथीसिस होते हैं या नहीं? श्यामसुन्दर का निपट अपढ़पन

अब एक दूसरा बुनियादी पहलू है, जिसे पहले स्पष्ट कर लेते हैं क्योंकि इसके आधार पर श्यामसुन्दर ने बहुत सारी मूर्खतापूर्ण बातें कहीं हैं। श्यामसुन्दर का कहना है कि श्रम और पूंजी एक दूसरे के एंटीथीसिस या दूसरे शब्दों में थीसिस और एण्टीथीसिस की भूमिका में नहीं होते हैं। इस आधार पर कि विपरीत तत्व अलग चीजें हैं और थीसिस व एण्टीथीसिस अलग चीजें हैं, उन्होंने विपरीत तत्वों के एकता के नियम और निषेध का निषेध के नियम का रिश्ता भंग कर दिया है और उनमें से पहले को सार्वभौमिक और दूसरे को कहीं-कहीं लागू होने वाला सिद्धान्त बना दिया है। पहले देख लेते हैं कि श्रम और पूंजी को मार्क्स एक-दूसरे के एण्टीथीसिस के तौर पर देखते हैं या नहीं। मार्क्स 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में लिखते हैं:

"The labour of supervision and management... has a double nature. On the one hand, all labour in which many individuals cooperate necessarily requires a commanding will to coordinate and unify the process.... This is a productive job.... On the other hand, this supervision work necessarily arises in all modes of production based *on* ***the antithesis between the labourer, as the direct producer, and the owner of the means of production.*** The greater this antagonism, the greater the role played by supervision". (Karl Marx: *Capital, Vol-3*)

इसी खण्ड में मार्क्स लिखते हैं:

"For (1) money can be turned into elements of production, and is already, just as it is, simply an abstract expression of these elements, their existence as value; (2) the

material elements of wealth possess the property of being already potential capital, because ***their complementary antithesis, the thing that makes them capital - namely wage-labour*** - **is present as soon as capitalist production is assumed.** (Marx, *Capital Vol-3*)

यहां पर मार्क्स बहुत ही स्पष्टता से बताते हैं कि उजरती श्रम पूंजी का पूरक एण्टीथीसिस होता है। पूरक एण्टीथीसिस क्या होता है? पूरक एण्टीथीसिस का अर्थ ही होता है, विपरीत तत्व। विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष से ही किसी पूर्णता का निर्माण होता है। वास्तव में, थीसिस और एण्टीथीसिस पूरकता में ही अस्तित्वमान रहते हैं; यदि ऐसा न हो तो दोनों indeterminate बन जाएंगे; एक की परिभाषा दूसरे के बिना सम्भव नहीं है। मार्क्स 'पूंजी' के इसी खण्ड में लिखते हैं:

The ***antithetical social determination of material wealth — its antithesis to labour as wage-labour*** - is already expressed in capital ownership as such, quite apart from the production process. (Marx, *Capital Vol-3*)

'पूंजी' के तीसरे खण्ड में ही अधिशेष के विभाजन के एक विशिष्ट रूप ब्याज़ का विश्लेषण करते हुए मार्क्स इस बात की चर्चा करते हैं कि यह रूप वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध यानी कि पूंजी और श्रम के बीच की एण्टीथीसिस को छिपाता है क्योंकि यह तात्कालिक तौर पर उजरती श्रम के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में नज़र नहीं आता, बल्कि दो पूंजियों के बीच के सम्बन्ध के रूप में नज़र आता है। लेकिन वास्तव में यह श्रम और पूंजी के बीच की एण्टीथीसिस ही है, जो कि इस रूप, यानी ब्याज़, को पैदा करती है। देखें मार्क्स क्या कहते हैं:

"Interest therefore simply expresses the fact that value in general - objectified labour in its general social form - value that assumes the form of means of production in the actual production process, confronts living labour-power as an autonomous power and is the means of appropriating unpaid labour; and that it is this power in so far as it confronts the worker as the property of another. On the other hand, however, ***this antithesis to wage-labour is obliterated in the form of interest; for interest-bearing capital as such does not have wage-labour as its opposite but rather functioning capital***; it is the capitalist actually functioning in the reproduction process whom the lending capitalist directly confronts, and not the wage labourer who is expropriated from the means of production precisely on the basis of capitalist production. Interest-bearing capital is capital *as property* as against capital *as function.* But if capital does not function, it does not exploit workers and does not come into opposition with labour." (Marx, *Capital, Vol-3*)

इसी बात को मार्क्स ब्याज़ के रूप के विश्लेषण के अपने समाहार में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:

"Interest in itself expresses precisely ***the existence of the conditions of labour as capital, in their social antithesis to labour.***" (Marx, *Capital, Vol-3*)

मार्क्स दिखलाते हैं कि ब्याज़ का रूप ही विचारधारात्मक है क्योंकि वह वास्तविक सम्बन्धों को छिपाता है; श्रम और पूंजी के बीच जो एण्टीथीसिस मौजूद है, वह दो पूंजीपतियों के बीच के सम्बन्ध के रूप में प्रकट होती है। मार्क्स लिखते हैं:

"Interest represents mere ownership of capital as a means of appropriating the product of other people's labour. ***But it represents this character of capital as something that falls to it outside the production process and is in no way the result of the specifically capitalist character of this production process itself. It presents it not in direct antithesis to labour, but, on the contrary, with no relationship to labour at all, merely as a relationship between one capitalist and another.***" (Marx, *Capital, Vol-3*)

और देखें मार्क्स क्या कहते हैं:

"Since the ***estranged character of capital, its antithesis to labour, is shifted outside the actual process of exploitation***, i.e. into interest-bearing capital, this process of exploitation itself appears as simply a labour process, in which the functioning capitalist simply performs different work from that of the workers." (Marx, *Capital, Vol-3*)

यहां भी मार्क्स स्पष्ट तौर पर बता रहे हैं कि पूंजी उजरती श्रम की एण्टीथीसिस है लेकिन किस प्रकार ब्याज़ के विचारधारात्मक रूप में पूंजी शोषण की वास्तविक प्रक्रिया के बाहर दिखलायी पड़ती है। आगे मार्क्स लिखते हैं:

"It is the means of production monopolized by a particular section of society, the products and conditions of activity of labour-power, which are rendered autonomous vis-a-vis ***this living labour-power and are personified in capital through this antithesis.***" (Marx, *Capital, Vol-3*)

यहां मार्क्स साफ शब्दों में बता रहे हैं कि जब उत्पादन के साधनों के मालिकाने की इजारेदारी समाज के एक विशिष्ट हिस्से के हाथों में आ जाती है और श्रम-शक्ति के उत्पाद और स्थितियां जीवित श्रम शक्ति से स्वायत्त हो जाती हैं, तो पूंजी और श्रम एक-दूसरे के पूरक एण्टीथीसिस के तौर पर प्रकट होते हैं।

अब एंगेल्स के विचारों पर भी थोड़ी निगाह डाल लेते हैं। श्यामसुन्दर 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' से अपने दोनों ही खर्रों में उद्धृत करते रहे हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी पुरानी आदत पर अमल करते हुए यह रचना भी पूरी नहीं पढ़ी है और बस विषय-सूची से अपने काम लायक नुक्ते देखकर उद्धरण छांटते रहे हैं। देखिये एंगेल्स बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच की एण्टीथीसिस के बारे में क्या लिखते हैं:

"From its origin the bourgeoisie was saddled with its antithesis: capitalists cannot exist without wage-workers..." (Engels, *Anti-Duhring*)

यहां एंगेल्स स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि बुर्जुआजी आरम्भ से ही अपनी एण्टीथीसिस, यानी उजरती श्रम के बरक्स खड़ी थी, क्योंकि ये एक दूसरे के बिना अस्तित्वमान ही नहीं रह सकते। यदि एक खत्म होगा तो दूसरा खुद-ब-खुद खत्म होगा। हमने ऊपर मार्क्स का 'पवित्र परिवार' से भी एक उद्धरण पेश किया था जिसमें मार्क्स ने ठीक इसी बात को समझाया था। अब एंगेल्स के ही एक दूसरे उद्धरण पर आते हैं, जहां वे यह भी बता रहे हैं कि किस प्रकार रोमन दास प्रथा, जिसने पहली बार सम्पत्ति सम्बन्धों की व्यवस्थित संहिता दी थी, उसमें और अमेरिका में पूंजीवादी दास श्रम के प्रयोग के बीच निरंतरता का क्या अर्थ है और यह भी बता रहे हैं कि समाज के दो प्रमुख शत्रुतापूर्ण वर्ग एक दूसरे से एण्टीथीसिस में होते हैं, जिसका अर्थ ही यह है कि उनमें से एक थीसिस और दूसरा एण्टीथीसिस की भूमिका में होता है। एंगेल्स लिखते हैं:

"Under the Roman Empire all these distinctions gradually disappeared, except the distinction between freemen and slaves, and in this way there arose, for the freemen at least, that equality as between private individuals on the basis of which Roman law developed – the completest elaboration of law based on private property which we know. ***But so long as the antithesis between freemen and slaves existed, there could be no talk of drawing legal conclusions from general equality of men; we saw this even recently, in the slave-owning states of the North American Union.***" (Engels, *Anti Duhring*)

हमने उपरोक्त चर्चा इसलिए की ताकि श्यामसुन्दर द्वारा निषेध का निषेध, विपरीत तत्वों की एकता की व्याख्या की अज्ञानता को प्रदर्शित कर सकें। श्यामसुन्दर की एक बड़ी समस्या यह है कि वह एक सच्चे कठमुल्लावादी के समान शब्दों को पढ़ते हैं, अर्थों को नहीं और हर शब्द को एक ब्रह्मवाक्य बना देते हैं, एक पत्थर की लकीर जिसका अतिक्रमण नहीं हो सकता! बस ऐसे कठमुल्लावादियों के साथ समस्या यह होती है कि हमारे महान शिक्षक इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते थे। यही कारण है कि सारे कठमुल्लावादी दावों के विरुद्ध, जिन्हें कि पर्याप्त उद्धरणबाज़ी के साथ किया जाता है (हालांकि उन उद्धरणों को समझे बिना!), उतने ही उद्धरणों से लैस खण्डन भी पेश किया जा सकता है।

निषेध का निषेध के परिणाम के तौर पर चीजें क्या अपने विपरीत में बदल जाती हैं? श्यामसुन्दर के मूढ़ विचार

यह समझने के बाद कि दार्शनिक तौर पर विपरीत का अर्थ क्या है, अब देखते हैं कि क्या कोई वस्तु अपने निषेध के ज़रिये अपने विपरीत में बदलती है। जैसा कि मार्क्स ने लिखा है और हमने पहले भी उद्धृत किया है:

"Thesis: Feudal monopoly, before competition.

"Antithesis: Competition.

"Synthesis: Modern monopoly, which is the negation of feudal monopoly, in so far as it implies the system of competition, and the negation of competition in so far as it is monopoly." (Marx, *Poverty of Philosophy*)

मार्क्स ने ही लिखा है:

"The capitalist mode of appropriation, which springs from the capitalist mode of production, produces capitalist private property. This is the first negation of individual private property, as founded on the labour of its proprietor. But capitalist production begets, with the inexorability of a natural process, its own negation. This is the negation of the negation. It does not re-establish private property, but it does indeed establish individual property on the basis of the achievements of the capitalist era : namely co-operation and the possession in common of the land and the means of production produced by labour itself." (Marx, *Capital, Vol-I)*

इन दोनों उद्धरणों पर ग़ौर करें। **यदि श्यामसुन्दर की तर्कपद्धति लागू करें, तो पूंजीवादी निजी सम्पत्ति व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति (जो कि स्वयं सामन्ती एकाधिकार के निषेध के तौर पर पैदा हुई थी) का विपरीत है; पूंजीवादी इज़ारेदारी पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के विपरीत है; और समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज के विपरीत है, वगैरा। इतने से एक बात तो स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर को तर्कशास्त्र के बुनियादी नियम भी नहीं पता हैं। व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति पर टिकी आरम्भिक पूंजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक अन्तरविरोध (विपरीत तत्वों की एकता) के कारण पूंजीवादी निजी सम्पत्ति पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था में तब्दील हुई; पूंजीवादी निजी सम्पत्ति पर टिकी व्यवस्था भी अपने आन्तरिक अन्तरविरोध (विपरीत तत्वों की एकता) के आधार पर समाजवादी व्यवस्था में तब्दील हो जाती है।** देखें कि 1931 की मार्क्सवादी दर्शन की सोवियत पुस्तक इसके बारे में क्या कहती है:

"Each phase in the development of the forms of private ownership resolves the determined form of the contradiction that belongs to the previous stage of development. Thus the individual forms of private ownership that preceded the capitalist (ownership) grew out of the decomposition of feudal ownership. In it was given the solution of the contradiction between the development of productive forces and the forms of feudal ownership that had been keeping back the development of crafts and trade....But in the course of development of this form of small-scale private ownership by the "many", a contradiction between the possession of the means of production of the small-scale producer and the further development of the forces in production emerged and proceeded to develop. Capitalism resolved this form of contradiction by the alienation of the means of production from the small-scale producer and their concentration into the hands of a few magnates of capital. But capitalism called into life another form of the same contradiction between the productive forces and private ownership--the antagonistic contradiction between the social organization of work and the private forms of appropriation."

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विपरीत तत्वों की एकता विकास का कारण है और निषेध का निषेध उसके परिणाम (प्रभाव) की व्याख्या करता है, क्योंकि विकास का नया चरण विकास के पिछले चरण के विपरीत नहीं होता, बल्कि यह संक्रमण विपरीतों के संघर्ष से होता है। अन्यथा विपरीत तत्वों के बुनियादी नियम के विस्तार और अभिव्यक्ति के तौर पर निषेध का निषेध के नियम की कोई आवश्यकता या उपयोगिता ही नहीं होती। क्या पूंजीवादी निजी सम्पत्ति व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति के विपरीत है? नहीं! दोनों ही निजी सम्पत्ति है, लेकिन एक प्रत्यक्ष उत्पादकों के उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर आधारित है, और दूसरी प्रत्यक्ष उत्पादकों से उत्पादन के साधनों के अलगाव और उनके पूंजी के स्वामियों के हाथों में संकेन्द्रण पर निर्भर है। इसमें एक निरन्तरता का तत्व भी है और परिवर्तन का तत्व भी है; निजी सम्पत्ति की निरन्तरता है, लेकिन वह अब उत्पादकों की निजी सम्पत्ति नहीं बल्कि पूंजीपतियों की निजी सम्पत्ति है; यह परिवर्तन का तत्व है। हर नये चरण में इसी प्रकार कुछ तत्वों की निरन्तरता नये रूप और धरातल पर बनी रहती है, जबकि उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुरूप जो तत्व नयी स्थिति के साथ सामंजस्य नहीं रखते वे समाप्त हो जाते हैं। जब हम सामान्य बोलचाल की भाषा में कहते हैं कि पूंजीवाद अपने विपरीत समाजवाद में बदल गया, तो यह विपरीत शब्द का एक विशिष्ट प्रयोग है, जो दिखलाता है कि जो शासक था वह शासित बन गया और जो शासित था वह शासक बन गया; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समाजवादी समाज एक नये चरण के रूप में पूंजीवादी समाज का विपरीत है। वैज्ञानिक और तार्किक धरातल पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। **यदि a का विपरीत b है, तो b का विपरीत a ही होगा; इस रूप में उनमें एक पूरकता और परस्पर अन्तर्निर्भरता का सम्बन्ध है। a के गुणों का निर्धारण (determinateness) वस्तुत: b के ज़रिये ही होता है, और यही बात b पर भी लागू होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि हेगेल के लिए being तभी determinate हो सकता है, जबकि nothing भी हो। यदि nothing नहीं है, तो Being भी**

indeterminate होगा। विपरीत तत्वों या पहलुओं का दार्शनिक तौर पर यही अर्थ होता है। जब कोई इस दार्शनिक अर्थ को समझे बग़ैर यह दावा करने लगता है कि इतिहास के क्रमिक चरण एक दूसरे के विपरीत होते हैं, तो वहीं उसने द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद से रिश्ता तोड़ लिया क्योंकि वह इतिहास और प्रकृति में हर चीज़ में मौजूद कुण्डलाकार गति को नहीं बल्कि एकरेखीय गति को स्वीकार कर रहा है। इसीलिए हमने कहा कि श्यामसुन्दर शब्दों को पढ़ते हैं, अर्थों को नहीं जैसा कि किसी भी कठमुल्लावादी, जड़सूत्रवादी की निशानी होती है।

अब देखते हैं कि श्यामसुन्दर का यह कठमुल्लावाद किस प्रकार व्यवहार में उतरता है। श्यामसुन्दर लेनिन द्वारा हेगेल की पुस्तक के कांस्पेक्टस में द्वन्द्ववाद के जो सोलह तत्वों को पेश किया गया है, उसके बिन्दु 9 को पेश करते हुए कहते हैं कि लेनिन ने अन्तरविरोध के दोनों ही पहलुओं के एक दूसरे में रूपान्तर की बात करते हुए किसी अन्य के आगे कोष्ठकों में 'into its opposite?' लिखा है। अन्तरविरोध के दोनों पहलू इस रूप में अपने विपरीत में बदलने के अर्थ को श्यामसुन्दर किसी वस्तु के विकास के एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण से गड्ड-मड्ड कर दिया है। **अन्तरविरोध के दोनों पहलुओं के अपने विपरीत में बदलने का अर्थ होता है कि दोनों अपनी जगह बदल लेते हैं; मिसाल के तौर पर, पूंजीवादी समाज में पूंजीपति वर्ग शासक वर्ग की अवस्थिति में होता है, जबकि सर्वहारा वर्ग शासित वर्ग की अवस्थिति में; लेकिन वे अपने विपरीत में बदल जाते हैं; तो क्या इसका अर्थ यह है कि सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग बन जाता है? ऐसा अर्थ निकालने के लिए श्यामसुन्दर जैसी "अद्वितीय प्रतिभा" का होना अनिवार्य है! वस्तुत:, इसका अर्थ होता है कि सर्वहारा वर्ग शासित वर्ग से शासक वर्ग की अवस्थिति में आ जाता है, प्रधान अन्तरविरोध के गौण पहलू से वह प्रधान अन्तरविरोध के प्रधान पहलू का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और इसके साथ अन्तरविरोध का चरित्र बदल जाता है; अगर कोई इस आधार पर यह नतीजा निकालता है कि समाजवादी समाज और पूंजीवादी समाज विपरीत तत्वों की एकता को दर्शाते हैं और समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज का विपरीत है, तो इसका यही अर्थ है कि उसने शब्दों को पढ़ा है, अर्थों को नहीं।**

विपरीत तत्व किसी एक वस्तु अथवा प्रक्रिया के दो-ध्रुवीय पहलू होते हैं और दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के पूरक होता है। इसलिए केवल इस अर्थ में कोई आम बोलचाल की भाषा में कह सकता है कि चूंकि जो शोषक था वह शासित बन गया और जो शोषित था वह शासक बन गया इसलिए पूंजीवादी समाज अपने विपरीत में बदल गया। लेकिन फिर इसके बाद क्या होता है? दो सम्भावनाएं हैं: यदि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में वर्ग संघर्ष सही रूप में जारी रहा तो बुर्जुआ वर्ग समाप्त होता है, लेकिन सर्वहारा वर्ग की पार्टी और सत्ता में से ही एक नयी बुर्जुआजी जन्म लेती है, जिसका आधार समाज में मौजूद अन्तरवैयक्तिक असमानताएं होती हैं; यानी पुराना गौण पहलू समाप्त होता है, लेकिन प्रधान पहलू स्वयं दो में विभाजित होता है; अभी भी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में ही अभिव्यक्त कर रहा होता है, लेकिन एक नये रूप में। यदि सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व में सांस्कृतिक क्रांतियों की प्रक्रिया इस नयी बुर्जुआजी को, जिसे माओ ने राजकीय बुर्जुआ वर्ग कहा था, पराजित करती है और उसे खत्म करती है (जाहिर तौर पर, शारीरिक तौर पर नहीं बल्कि विचारधारात्मक और राजनीतिक तौर पर तथा एक सामाजिक वर्ग के रूप में) तो समाजवादी समाज अपनी उच्च मंजिलों से होता हुआ कम्युनिस्ट समाज में प्रवेश कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक देश के पैमाने पर नहीं हो सकता है। जब यह प्रक्रिया पूर्ण होती है, अन्तरविरोध का एक चक्र पूरा होता है और वर्ग समाज फिर से वर्ग विहीन समाज में तब्दील होता है, लेकिन पुराने आदिम वर्ग समाज में नहीं जिसमें कि उत्पादक शक्तियों के विकास के अभाव में पैदा हुई आदिम समानता थी, बल्कि उत्पादक शक्तियों के अपार विकास के आधार पर, यानी प्रचुरता की मंजिल के आधार पर

पैदा होने वाले कम्युनिस्ट समाज में, जिसका आधार कम्युनिस्ट समानता है। इस मंजिल में क्या समाज में अन्तरविरोध का नियम नहीं काम करता? क्या उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध नहीं काम करता है? नहीं! उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध अभी भी काम करता है, मगर वह अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध में अभिव्यक्त नहीं करता। माओ ने इस विषय में ही कहा था कि वह नहीं मानते कि कम्युनिस्ट समाज में अन्तरविरोध समाप्त हो जाएंगे और उसके बाद कोई नयी मंजिल नहीं आयेगी। माओ लिखते हैं:

"It is obviously incorrect to maintain as some people do that the contradiction between idealism and materialism can be eliminated in a socialist or communist society. As long as contradictions exist between the productive forces and the conditions of production, the contradiction between materialism and idealism will continue in a socialist or communist society and will manifest itself in various forms. Since man lives in society he reflects in different circumstances and to varying degrees the contradictions existing in each form of society. Therefore, not everybody will be perfect, even when a communist society is established...Hence, there will still be struggle between people though its nature and form will be different from those in class societies." (Mao, *On the Historical Experience of the Dictatorship of the Proletariat,* April 5, 1956)

माओ ने आगे इस बात को और स्पष्ट भी किया है:

"Socialism, too, will be eliminated, it wouldn't do if it were not eliminated, for then, there would be no communism. Communism will last for thousands and thousands of years. I don't believe that there will be no qualitative changes under communism, that it will not be divided into stages by qualitative changes! I don't believe it!...I don't believe that it can remain qualitatively exactly the same, unchanging for millions of years! This is unthinkable in the light of dialectics. Then there is the principle 'from each according to his ability, to each according to his needs'. Do you believe they can carry on for a million years with the same economics? Have you thought about it? If that were so, we would not need economists, or in any case, we could get along with just one textbook, and dialectics would be dead." (Mao, *Talk on Questions of Philosophy*, August 18, 1964)

कम्युनिस्ट समाज में ये अन्तरविरोध किस रूप में हल होंगे और समाज विकास का अगला चरण क्या होगा इसके बारे में सवाल उठाना अटकलबाज़ी होगा क्योंकि मार्क्स के शब्दों में मनुष्य अपने सामने वही सवाल रखते हैं, जिनका वह हल निकाल सकते हैं और यह आज का जिन्दा सवाल नहीं है। **हमारा राजनीतिक और विचारधारात्मक क्षितिज कम्युनिज्म है।**

माओ के अनुसार यह द्वन्द्ववाद का एक बुनियादी नियम है कि एक दो में विभाजित होता है। **इसका क्या अर्थ है यह समझते ही यह समझना आसान हो जायेगा कि विकास का अगला चरण पिछले चरण का विपरीत नहीं होता है, बल्कि वह कुछ तत्वों को, जो कि उत्पादकता के विकास की नयी अवस्था से मेल खाते हैं, उत्सादित करता है और अन्य को खत्म करता है।** सामन्ती समाज के संघर्ष की मिसाल से इस बात को समझते हैं। सामन्तवाद में प्रधान अन्तरविरोध होता है सामन्ती वर्ग और व्यापक जनता (जिसमें पूंजीपति वर्ग, किसान वर्ग, सर्वहारा वर्ग और मध्यवर्ग शामिल होता है)। ये वर्ग मिलकर सामन्ती वर्ग के विरुद्ध जनवादी क्रांति करते हैं और पूंजीवादी समाज और बुर्जुआ जनवाद की स्थापना करते हैं। इसके साथ ही क्रांतिकारी वर्ग मोर्चा दो में विभाजित होता है और सर्वहारा वर्ग, ग़रीब किसान और निम्न मध्यवर्ग इस मोर्चे से अलग होते हैं और पूंजीपति वर्ग के खिलाफ, जो कि अब सत्तासीन हो चुका है, समाजवादी क्रांति को अंजाम देते हैं; नतीजतन, समाजवादी समाज अस्तित्व में आता है और बुर्जुआ और भूस्वामी वर्ग का सम्पत्तिहरण हो जाता है; समाजवादी समाज में इस पुराने शासक वर्ग और सर्वहारा अधिनायकत्व के बीच संघर्ष जारी रहता है; यदि यह पुराना शासक वर्ग पूर्ण रूप से पराजित होकर राजनीतिक और सामाजिक वर्ग के तौर पर समाप्त हो जाता है, तो सर्वहारा राज्य उपकरण को चलाने वाले सर्वहारा वर्ग के अगुवा स्वयं दो में विभाजित हो जाते हैं: पूंजीवादी पथगामी और कम्युनिस्ट। इसका कारण यह होता है क्योंकि समाज में उत्पादक शक्तियों के विकास और उत्पादन सम्बन्धों के बीच अन्तरविरोध अपने आपको तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के रूप में अभिव्यक्त कर रहा होता है, विनिमय सम्बन्ध बने होते हैं, मूल्य के नियम के प्रकार्य अभी पूर्णत: समाप्त नहीं हुए होते हैं और बुर्जुआ अधिकार बने रहते हैं; यही वह आधार होता है जिसके आधार पर राज्य और पार्टी के बीच से ही एक राजकीय पूंजीपति वर्ग पैदा होता है और पूंजीवादी पथ पर चलने की हिमायत करता है; ख्रुश्चेव, ल्यू शाओ ची, लिन पियाओ इसी वर्ग के नुमाइन्दे थे। यदि सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व में यह वर्ग पराजित होता है और कम्युनिस्ट समाज की मंजिल आती है, तो एक प्रक्रिया पूरी होती है। यानी, वर्ग समाज की प्रक्रिया। वर्ग समाज की प्रक्रिया पूरी होने के साथ अब अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में अभिव्यक्त नहीं करते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि आदिम समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध अपने आपको वर्ग अन्तरविरोध के रूप में पेश नहीं कर रहा था। उसके बाद क्या होगा, यह सवाल हम अटकलबाज़ दार्शनिकों पर छोड़ देते हैं जो कि जीवित प्रश्नों पर सोचना नहीं जानते। **लेकिन इस विवरण से इतनी बात स्पष्ट है: विपरीत तत्वों के बीच के संघर्ष से ही हर पूर्णता अगले चरण में प्रवेश करती है, जो कि पिछले चरण का विपरीत नहीं होता है, बल्कि कुण्डलाकार विकास के पथ पर अगली मंजिल होता है; नये चरण में अन्तरविरोध एक नये स्वरूप में मौजूद होता है; इस अन्तरविरोध का हल फिर से उस पूर्णता को अगली मंजिल में ले जाता है।** इस बात को ऊपर 1931 की सोवियत पुस्तक 'मार्क्सवादी दर्शन की पाठ्यपुस्तक' से दिये गये उद्धरण में बहुत ही स्पष्टता के साथ समझाया गया है।

इसलिए श्यामसुन्दर विपरीत तत्वों के एक दूसरे में बदल जाने का अर्थ ही नहीं समझ पाए हैं; इसका अर्थ होता है कि जब किसी अन्तरविरोध के प्रधान पहलू और गौण पहलू अपनी जगह बदल लेते हैं, तो हम कहते हैं कि वे अपने विपरीत में तब्दील हो गये; समाज में इस रूप में कि जो शासित था वह शासक बन गया और जो शासक था वह शासित बन गया। केवल इसी रूप में समाज के अगले चरण को पिछले चरण के "विपरीत" कहा जा सकता है, न कि दार्शनिक अर्थों में, यानी कि इस अर्थ में नहीं कि एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण को ही

विपरीत तत्वों की एकता बता दिया जाय। हमने मार्क्स का 'पवित्र परिवार' को जो उद्धरण ऊपर पेश किया है, वह सबसे स्पष्टता के साथ इस बात को बताता है। इसीलिए हमने जब यह पूछा कि यदि पूंजीवाद का विपरीत समाजवाद है, तो समाजवाद का विपरीत क्या होगा, तो श्यामसुन्दर इसका कोई जवाब देने की बजाय कहते हैं, कि यह हम ही जाकर पता कर लें! यह जवाब देने से बचने का विचित्र तरीका है। श्यामसुन्दर कहते हैं कि मार्क्स का यह कथन ही हमारा जवाब देने के लिए पर्याप्त है: "साम्राज्य का सीधा प्रतिवाद कम्यून था।" **पहली बात तो यह है कि श्यामसुन्दर यहां अपने आपको ही काट रहे हैं, क्योंकि आगे वह कहते हैं कि वाद, प्रतिवाद के बीच विपरीत तत्वों का सम्बन्ध नहीं होता है और यहां वे प्रतिवाद को ही विपरीत के रूप में पेश कर रहे हैं।** बहरहाल, हम पहले मार्क्स के इस पूरे उद्धरण को देख लें कि मार्क्स यहां क्या कह रहे हैं:

"The direct antithesis to the empire was the Commune. The cry of “social republic,” with which the February Revolution was ushered in by the Paris proletariat, did but express a vague aspiration after a republic that was not only to supercede the monarchical form of class rule, but class rule itself. The Commune was the positive form of that republic." (Marx, *Civil War in France*)

मार्क्स यहां एक वर्ग समाज और एक वर्गविहीन समाज की तुलना करते हुए वर्गविहीन समाज के उस भ्रूण को, यानी कम्यून को, उस समय के वर्ग समाज का, जिसका प्रतिनिधित्व फ्रांसीसी साम्राज्य कर रहा था, एण्टीथीसिस कहा है। इसके आधार पर यह नतीजा निकालना कि समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज का विपरीत है, पूंजीवादी समाज सामंती समाज का विपरीत है, वगैरा, 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, श्यामसुन्दर ने क्या खूब जोड़ा' का एक और उदाहरण है। देखें, मार्क्स ने ही आगे कम्यून के शासन की विशिष्टताएं बताने के बाद क्या लिखा है:

"Yes, gentlemen, the Commune intended to abolish that class property which makes the labor of the many the wealth of the few. It aimed at the expropriation of the expropriators. It wanted to make individual property a truth by transforming the means of production, land, and capital, now chiefly the means of enslaving and exploiting labor, into mere instruments of free and associated labor. But this is communism, “impossible” communism!"

कोई भी व्यक्ति जो अपनी किसी तुच्छ गलत बात को सही साबित करने के लिए बदहवासी में हड़बोंग न कर रहा हो, वह समझ सकता है कि मार्क्स यहां क्या कह रहे हैं। लेकिन श्यामसुन्दर इस हड़बोंग में इतने व्यस्त हैं कि कोई भी उद्धरण सन्दर्भ सहित पढ़ने और समझने की क्षमता खो बैठे हैं, हालांकि यह क्षमता वैसे में उनमें काफी कम है।

इसी प्रकार 'Things are beginning to Change' से भी श्यामसुन्दर एक उदाहरण ढूंढ कर लाएं हैं, जिसमें माओ लिखते हैं: वस्तुएं जब अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है तो वे अपने विपरीत तत्वों में बदल

जाती हैं।" इसी लेख को अगर श्यामसुन्दर ने शुरू से पढ़ा होता तो वह समझ पाते कि विपरीत में बदलने से माओ का यहां क्या अर्थ है। माओ लेख की शुरुआत ही इन पंक्तियों से करते हैं:

"The unity and struggle of opposites are universal phenomena in the life of society. Struggle results in the ***transformation of opposites into each other and in the formation of a new unity***, and the ***life of society thus moves one step forward***."

माओ ने विपरीत तत्वों की एकता के अर्थ में उपरोक्त उद्धरण में विपरीत का अर्थ बताया है। यानी वे पहलू जो एक दूसरे के पूरक होते हैं और मिलकर किसी पूर्णता का निर्माण करते हैं और उनके संघर्ष के नतीजे के तौर पर ही वह पूर्णता अपने विकास के अगले चरण में जाती है, जो कि स्वयं पिछले चरण का विपरीत नहीं होता है। वरना, समाज के एक कदम आगे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्यामसुन्दर विपरीत का दार्शनिक अर्थ समझते ही नहीं हैं और इसीलिए उसे इस शब्द के अन्य प्रयोग धर्म के साथ गड्ड-मड्ड करते रहते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, वह यह भी नहीं समझते कि किसी अन्तरविरोध के विपरीत पहलुओं के एक-दूसरे में बदल जाने का क्या अर्थ होता है और यह कि इससे वह पूर्णता अपने विपरीत में नहीं बदलती जिस पूर्णता का वे विपरीत पहलू निर्माण करते हैं। यदि वह माओ का उपरोक्त लेख ही पूरा पढ़ते तो *शायद* यह समझ पाए होते।

श्यामसुन्दर का एक और मूर्खतापूर्ण दावा: द्वन्द्ववाद केवल "सकारात्मक परिवर्तनों" की व्याख्या कर सकता है, "नकारात्मक परिवर्तनों" की नहीं

इसके बाद श्यामसुन्दर दावा करते हैं: "अब रही बात समाजवाद के विपरीत की तो विकास की प्रक्रिया में किसी वस्तु का विपरीत आगे का कदम होता है, पीछे का नहीं। विकास की द्वन्द्ववादी अवधारणा के अनुसार समाजवाद का विपरीत भी समाजवाद के आगे की अवस्था होगी, पीछे वाली नहीं। **हालांकि समाजवाद से पूंजीवाद की वापसी संभव है पर इसे समाजवाद का गुणात्मक परिवर्तन नहीं बल्कि पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कहा जाता है।** यह विकास की दिशा में नहीं बल्कि उससे उलटी दिशा में है। अत: जब द्वन्द्ववाद में यह कहा जाता है कि विपरीतों की प्रत्येक एकता अपने विपरीत में बदलती है तो इसका अर्थ केवल विकास की दिशा में अगली अवस्था होता है न कि पीछे की। अब इतनी मामूली बातों तक का अभिनव सिन्हा को पता नहीं और बातें करते हैं पूरी तरह से लफ्फाज़ी भरी।" आइये इन "मामूली बातों" पर थोड़ा ग़ौर करते हैं।

श्यामसुन्दर के अनुसार समाज और प्रकृति में जो भी परिवर्तन प्रगतिशील होंगे, द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त केवल उनकी व्याख्या करता है। यानी कि यदि पूंजीवादी पुनर्स्थापना होती है, तो उसे द्वन्द्ववाद के ज़रिये नहीं समझा जा सकता है, उसके लिए किसी और सिद्धान्त की आवश्यकता होगी। यानी कि द्वन्द्ववाद एक सार्वभौमिक तौर पर लागू की जाने वाली पद्धति नहीं है बल्कि उसे केवल प्रगतिशील परिवर्तनों की व्याख्या पर लागू किया जाता है। इस उद्धरण में भी विपरीत तत्वों के संघर्ष के अपने विपरीत में बदल जाने का अर्थ यह निकाला गया है कि अगला चरण पिछले चरण के साथ वही सम्बन्ध रखता है जो कि एक अन्तरविरोध के दो विपरीत पहलू एक-दूसरे से रखते हैं। लेकिन इस पर हम बाद में आएंगे। पहले हम श्यामसुन्दर के इस दावे की पड़ताल करते हैं कि द्वन्द्ववाद केवल प्रगतिशील परिवर्तनों की व्याख्या करता है।

माओ ने अपने लेखन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण ही पेश किया है और दिखलाया है कि द्वन्द्वात्मक विश्लेषण केवल "सकारात्मक" परिवर्तनों की व्याख्या के लिए नहीं है, बल्कि हर प्रकार के

परिवर्तनों की व्याख्या करने वाली सार्वभौमिक पद्धति है। स्पष्ट है कि माओ पूंजीवादी पुनर्स्थापना को भी द्वन्द्ववादी विकास के नियम से ही विश्लेषित करते हैं। **एंगेल्स ने जब यह कहा कि निषेध का निषेध वह सर्वाधिक सामान्य नियम है जो कि प्रकृति और समाज दोनों पर ही लागू होता है, तो उन्होंने इस बात का कोई जिक्र नहीं किया कि प्रकृति और समाज में होने वाले नकारात्मक परिवर्तनों की व्याख्या पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता; उन्होंने इसे प्रकृति और समाज पर आम तौर पर लागू होने वाला सिद्धान्त बताया जो कि हर प्रकार के विकास या परिवर्तन पर लागू होता है, अन्यथा वह इस बात को अवश्य लिखते कि जो परितर्वन प्रगतिशील नहीं हैं, उन पर यह नियम लागू नहीं होता; उस सूरत में निश्चित तौर पर वह कोई और नियम बताते जो कि नकारात्मक परिवर्तनों की व्याख्या करता।** क्या पूंजीवादी पुनर्स्थापना की व्याख्या करने के लिए निषेध का निषेध का आम नियम अक्षम है? नहीं। दूसरी बात यह है कि पूंजीवादी पुनर्स्थापना तात्कालिक तौर पर मज़दूर वर्ग के लिए एक नकारात्मक अनुभव होती है; मगर ऐतिहासिक तौर पर, वह स्थायी और उन्नत समाजवादी प्रयोग करने में मज़दूर वर्ग को सक्षम बनाने के लिए एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी होती है। इस रूप में प्रकृति और समाज अन्ततः आगे ही बढ़ते हैं। सभी वर्गों के सत्ता में आने के पहले प्रयोग लम्बे समय तक नहीं टिके हैं और हर नयी व्यवस्था कुछ प्रतिगामी पुनर्स्थापनाओं के बाद ही स्थायी और टिकाऊ तौर पर स्थापित हुई है। इतिहास की पूरी प्रक्रिया में विकास का पथ कुण्डलाकार होता है; लेकिन छोटे कालखण्डों में इतिहास में थर्मिडोर जैसे दौर भी आते हैं। लेकिन इतिहास अन्ततः आगे ही बढ़ता है। इतिहास की प्रगति की अवधारणा पर सवाल खड़ा करना उत्तरआधुनिकातवादियों का मुख्य वैचारिक आधार होता है। इसलिए इतिहास के विकास की व्याख्या निषेध का निषेध के नियम द्वारा ही होती है, चाहे छोटी दूरी में हुए नकारात्मक परिवर्तन हों या सकारात्मक परिवर्तन। श्यामसुन्दर का विकास के "दूसरे नियम का सिद्धान्त" भी उतना ही मूर्खतापूर्ण है, जितना के उनके अन्य "सिद्धान्त"।

इसके बाद श्यामसुन्दर लेनिन के लेख 'द्वन्द्ववाद के प्रश्न पर' से एक उद्धरण पेश करते हैं, जिसमें कि लेनिन द्वन्द्ववादी पद्धति की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि आधिभौतिक पद्धति के विपरीत यह पद्धति वस्तुओं और प्रक्रियाओं की गति को उनके भीतर मौजूद अन्तरविरोधों में देखती है। लेनिन लिखते हैं: "केवल वही 'छलांगों' की, 'निरंतरता के क्रमभंग' की, 'वैपरीत्य में रूपान्तरण' की, **पुराने के नष्ट होने की और नूतन के उद्भव की कुंजी मुहैया करती है।"** वैपरीत्य में रूपान्तरण से ही पुराना नष्ट होता है और नूतन पैदा होता है, न कि पुराना नूतन का विपरीत होता है। नूतनता का सार ही इस बात में है कि उसमें पुराने से निरंतरता और परिवर्तन दोनों के तत्व होते हैं और इतिहास के कुण्डलाकार गति का अर्थ ही यही है। **यहां एक वस्तु या प्रक्रिया के भीतर मौजूद परस्पर विपरीत पहलुओं के एक दूसरे में रूपान्तरण की बात की गयी है, न कि यह कहा गया है कि समाजवाद और पूंजीवाद में वही सम्बन्ध है जो कि विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष में विपरीत तत्वों के बीच होता है।** इसके बाद, श्यामसुन्दर हमसे पूछते हैं कि यहां विपरीत का क्या अर्थ है? हमने आपको बताया कि विपरीत का क्या अर्थ है। देखें विपरीत पहलुओं के टकराव और निषेध के बीच क्या सम्बन्ध होता है:

"We already know from the foregoing exposition that the development of any process originates in its internal contradictions. Emerging as aspects of a contradiction, opposites mututally condition and mututally amplify each other. But the mutual conditioning of opposites rests basically on the fact that each of them is a negation of the other and an affirmation of itself.

"Each aspect emerges therefore both as assuming and negating the other. Besides this they form a unity of opposites **in which their mutual conflict leads to the negation of the given unity. Therefore, the moving contradiction of a process contains in itself "negation" as its moment.**" (*A Textbook of Marxist Philosophy*, 1931, Institute of Marxism-Leninism, Moscow)

जैसा कि आप उपरोक्त उद्धरण में देख सकते हैं, विपरीत तत्वों के बीच की एकता और संघर्ष, जोकि किसी भी प्रक्रिया या वस्तु का निर्माण करती है, और उसके कारण नये चरण में संक्रमण, यानी कि पिछले चरण के निषेध, के बीच अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

चूंकि श्यामसुन्दर अपने ही सैद्धान्तिकीकरण में उलझ से गये हैं, इसलिए अब वह अपनी पुरानी तरकीब पर उतर आये हैं। यह तरकीब है गलत अनुवाद पेश करना और उसकी मनमानी व्याख्या करना। श्यामसुन्दर 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से एक उद्धरण पेश करते हैं जो यह है: "उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित सहकारी समाज के भीतर उत्पादक अपनी पैदावारों का विनिमय नहीं करते; इसी तरह यहां पैदावारों में लगा श्रम भी उनके मूल्य के रूप में, उनमें निहित भौतिक गुण के रूप में प्रकट नहीं होता, क्योंकि अब **पूंजीवादी समाज के विपरीत**, वैयक्तिक श्रम परोक्ष में नहीं प्रत्युत कुल श्रम के एक संघटक अंग के रूप में प्रत्यक्ष रूप में अवस्थित है।..." आइये इस उद्धरण को मूल अंग्रेज़ी में देखते हैं:

"Within the co-operative society based on common ownership of the means of production, the producers do not exchange their products; just as little does the labor employed on the products appear here as the value of these products, as a material quality possessed by them, since now, **in contrast to capitalist society**, individual labor no longer exists in an indirect fashion but directly as a component part of total labor." (Marx, *Critique of the Gotha Programme*)

जैसा कि आप देख सकते हैं in contrast to capitalist society का अनुवाद 'पूंजीवादी समाज से भिन्न' की बजाय 'पूंजीवादी समाज के विपरीत' किया गया है। ऐसा पूंजीवादी समाज की तुलना दास समाज से करते हुए भी लिखा जा सकता है, मिसाल के तौर पर, "in contrast to capitalist society, the social division of labour in slave society was not governed by profitability, but by the extra-economic force of state, religion and convention." क्या इसका अर्थ यह निकलता है कि पूंजीवादी समाज दास समाज का विपरीत है? नहीं! वास्तव में, श्यामसुन्दर ने यहां फिर से ग़लत अनुवाद पेश कर बेईमानी भरे तरीके से अपने कुतर्क को साबित करने का प्रयास किया है। निश्चित तौर पर, जब एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण होता है, तो नये चरण में पुराने चरण के कुछ तत्व विद्यमान रहते हैं, लेकिन उसमें नये तत्व प्रमुखता से मौजूद होते हैं। ऐसे में, अगर हम इन चरणों के इन नये तत्वों की बात करते हैं, तो वह पिछले चरण के तत्वों के विपरीत होंगे। जैसे कि समाजवाद में पूंजीपति वर्ग शासन में नहीं होता, बल्कि शासित वर्ग में तब्दील हो जाता है। लेकिन इस आधार पर समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज का विपरीत नहीं हो जाता है;

यदि ऐसा है तो ये दोनों विपरीत किस वस्तु, प्रक्रिया या पूर्णता का निर्माण करते हैं? श्रम और पूंजी एक दूसरे के विपरीत के तौर पर पूंजीवादी समाज का निर्माण करते हैं, लेकिन पूंजीवाद और समाजवाद किसी पूर्णता का निर्माण करते हैं?

इसके बाद यह सिद्ध करने के लिए कि विकास की प्रक्रिया में कोई भी चरण अपने पिछले चरण का विपरीत होता है, श्यामसुन्दर मार्क्स का एक उद्धरण 'पूंजी' से पेश करते हैं (पृ 70) जिसमें मार्क्स प्रत्यक्ष उत्पादकों की निजी सम्पत्ति के एण्टीथीसिस के रूप में पूंजीवादी निजी सम्पत्ति की बात करते हैं। लेकिन आगे चलकर श्यामसुन्दर स्वयं ही कहते हैं कि थीसिस व एण्टीथीसिस विपरीत नहीं होते हैं, बल्कि उनके भीतर स्वयं विपरीत तत्वों की एकता होती है। **श्यामसुन्दर विपरीत और एण्टीथीसिस को कहीं अलग बताते हैं, तो कहीं एक ही बताते हैं। सच्चाई यह है कि इन दोनों शब्दों का एक अर्थ में भी इस्तेमाल किया गया है और अलग-अलग अर्थों में भी। लेकिन श्यामसुन्दर सच्चे कठमुल्लावादी के समान एक जड़सूत्र ढूंढते हैं, जिससे वह चिपके रह सकें। लेकिन उपरोक्त मामलों जैसे मामलों में वह फंस जाते हैं क्योंकि वह किसी भी शब्द के अर्थ को उसके सन्दर्भ से नहीं निकालते हैं, बल्कि उसकी जड़ परिभाषा पर चलते हैं।** मिसाल के तौर पर, मार्क्स का यह उद्धरण देखें:

"Private property, as the antithesis to social, collective property, exists only where the means of labour and the external conditions of labour belong to private individuals. But according to whether these private individuals are workers or non-workers, private property has a different character. ***The innumerable different shades of private property which appear at first sight are only reflections of the intermediate situations which lie between the two extremes.***" (Marx, *Capital, Vol-I*)

यह उद्धरण श्यामसुन्दर द्वारा पेश किये गये उद्धरण के ठीक पिछले अध्याय का है। ऐसे में, श्यामसुन्दर (अगर वह कोई भी रचना पूरी पढ़ते!) तो मार्क्स पर ही नाराज़ हो जाते कि एक स्थान पर मार्क्स ने सामाजिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति का एण्टीथीसिस बताया है और दूसरे स्थान पर उन्होंने पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को प्रत्यक्ष उत्पादक की व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का एण्टीथीसिस बताया है, और इस नतीजे पर पहुंच जाते कि मार्क्स का लेखन ही निरन्तरतापूर्ण नहीं है! ऐसे नतीजे पर पहुंचने का कारण क्या होता: कठमुल्लावाद, जो कि शब्दों के अर्थों को सन्दर्भ में रखकर नहीं देखता बल्कि उन्हें जड़ परिभाषाओं के रूप में देखता है। इस उद्धरण में मार्क्स बताते हैं कि निजी सम्पत्ति बहुत से रूप लेती है और उसके बाद ही वह पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के रूप में परिणत होती है। इस सन्दर्भ में उत्सादन की अवधारणा को समझना भी बेहद महत्वपूर्ण है, जिस पर हम आगे आएंगे और जिसके बारे में श्यामसुन्दर बुरी तरह से भ्रमित हैं।

चूंकि श्यामसुन्दर एक चरण से दूसरे चरण के विपरीत होने के अपने सिद्धान्त में निहित अन्तरविरोधों को सुलटा नहीं पाते, इसलिए वह यह प्रश्न उठाकर हमारे प्रश्नों से पलायन कर जाते हैं: "समाजवाद, पूंजीवाद का विपरीत है और पूंजीवाद सामंतवाद का विपरीत है। अब हम अभिनव सिन्हा के अभ्यास के लिए यह प्रश्न उनके लिए छोड़ देते हैं कि वह बताएं कि सामंती व्यवस्था, दास व्यवस्था का विपरीत कैसे होती है और दास व्यवस्था, आदिम साम्यवादी व्यवस्था के विपरीत कैसे होती है?" **लेकिन इसका जवाब तो आपको देना था! कई**

पेजों तक गड्डु-मड्डु सैद्धान्तिकीकरण करने के बाद भी जब इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाए, तो श्यामसुन्दर यह प्रश्न हमारे ही ऊपर थोप कर कट लिए! इसी को हमने बहस से पलायन और भगोड़ापन कहा है।

श्यामसुन्दर निषेध का निषेध के ज़रिये चीज़ों के अपने विपरीत में बदलने को सिद्ध करने के लिए एक और दयनीय किन्तु हास्यास्पद प्रयास करते हैं। वह लिखते हैं: "यह तो वह जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु विपरीत तत्वों की एक इकाई होती है। इस इकाई के दो पहलुओं के एक पहलू का प्रभुत्व होता है दूसरा उसके अधीन होता है। प्रभुत्व वाले पहलू को यदि इस इकाई का पॉजिटिव पहलू माना जाए तो उसकी अधीनता में रहने वाले उसके विपरीत पहलू का चरित्र नेगेटिव होगा। प्रभुत्व वाला पहलू वस्तु पर अपने हितों के लिए अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहता है यानी यथास्थिति को बनाए रखना चाहता है जबकि अधीतना में रहने वाला पहलू वस्तु को अपने शासन के लिए गुणात्मक रूप से बदल देना चाहता है। अब यदि प्रभुत्व वाले यानी पॉजीटिव पहलू के हितों के लिए चलने वाली पूरी प्रक्रिया के आगे प्लस का चिन्ह लगा दिया जाए तो पूरी प्रक्रिया को हम एक पॉजीटिव प्रक्रिया कह सकते हैं और जब अधीनता वाला पहलू अपने संघर्ष के द्वारा मात्रात्मक परिवर्तन के चरण को पूरा करते हुए गुणात्मक परिवर्तन के ज़रिये प्रभुत्व वाले पहलू की स्थिति में पहुंच जाता है और प्रभुत्व वाले पहलू को अपने वाली स्थिति में यानी अधीनता की स्थिति में धकेल देता है तो पूरी प्रक्रिया ही उलट जाती है। अर्थात् पूरी प्रक्रिया के आगे लगे प्लस के चिन्ह की जगह ऋण का चिन्ह लग लाएगा और पूरी प्रक्रिया पहले जिन हितों के लिए चल रही थी अब वह उससे विपरीत हितों के लिए चलने लगती है।" **इस विवरण के बारे में क्या कहा जाय? यानी कि यदि पूंजीवादी समाज में श्रम का पहलू अधीन है और पूंजी का पहलू प्रधान और फिर जब श्रम का पहलू प्रधान हो जाता है और पूंजी का पहलू गौण तो फिर मज़दूर वर्ग और पूंजीपति वर्ग अपने विपरीत में नहीं बदलते (यानी क्रमश: शासित से शासक और शासक से शासित नहीं बनते), बल्कि समाज ही अपने विपरीत में बदल जाता है। विपरीतों के एक दूसरे में बदल जाने के सिद्धान्त का यह युगान्तरकारी प्रयोग है!** इसे सिद्ध करने के लिए वह एंगेल्स का वह उद्धरण पेश करते हैं जिसमें एंगेल्स बताते हैं कि a का निषेध करने पर हमें -a प्राप्त होता है और अगर -a का निषेध किया जाय तो a^2 प्राप्त होता है। एंगेल्स बताते हैं: "यदि हम -a को -a से गुणा करके इस निषेध का भी निषेध कर दें, तो हमारे पास होगा $+a^2$, अर्थात् हमारे पास फिर वही मूल धनात्मक मात्रा होगी, लेकिन इस बार उसका घात पहले से ऊंचा होगा; वह मात्रा अब अपने द्वितीय घात पर पहुंच गयी होगी।" **लेकिन a^2 न तो a का विपरीत है और न ही -a का। a तथा -a तो एक-दूसरे के पूरक और विपरीत है। बिना a के -a का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इस उदाहरण से ही समझा जा सकता है कि जब निषेध का निषेध के ज़रिये कोई वस्तु या प्रक्रिया एक नये चरण में पहुंचती है, तो वह पिछले चरण का विपरीत नहीं होती है, बल्कि एक नये धरातल पर प्रतीतिगत तौर पर पिछले का दुहराव होती है, लेकिन केवल प्रतीतिगत धरातल पर।** उसमें परिवर्तन का पहलू प्रधान होता है, लेकिन निरंतरता का पहलू भी मौजूद होता है।

इसके बाद श्यामसुन्दर माओ का एक उद्धरण पेश करते हैं, जिसमें कि माओ यह बता रहे हैं कि नये द्वारा पुराने का स्थान लिया जाना एक सार्वभौमिक नियम है। श्यामसुन्दर को लगता है कि यह उनके इस सिद्धान्त को सही साबित करता है कि चीज़ें निषेध का निषेध के ज़रिये अपने विपरीत में बदलती हैं। लेकिन वास्तव में नये द्वारा पुराने का स्थान लेना और फिर दुबारा पुराने नये का नूतन नये द्वारा स्थान लेना वास्तव में कुण्डलाकार विकास को दिखलाता है और एकरेखीय विकास के सिद्धान्त को खण्डित करता है। यह स्पष्ट तौर पर यह दिखलाता है कि दार्शनिक अर्थों में नया चरण पुराने चरण का विपरीत हो ही नहीं सकता है।

उत्सादन की अवधारणा के विषय में श्यामसुन्दरीय अज्ञान पर एक बार फिर से...

आगे श्यामसुन्दर पूछते हैं कि हम उत्सादन की अवधारणा से यह साबित करें कि जाति व्यवस्था का भी अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के साथ उत्सादन हुआ है क्योंकि उनके अनुसार यदि जाति व्यवस्था का उत्सादन हुआ है, तो उसे नष्ट हो जाना चाहिए। चूंकि यहां उत्सादन की अवधारणा को समझने में श्यामसुन्दर ने एक बार फिर से अक्षमता प्रदर्शित की है, इसलिए हम पहले एक बार फिर से समझ लेते हैं कि उत्सादन का अर्थ क्या है। पिछली बार हमने हेगेल को उद्धृत करके यह समझाने का प्रयास किया था, लेकिन औंधी खोपड़ी के समक्ष यह प्रयास बुरी तरह से विफल हो गया! हम एक और प्रयास करते हैं और एक दूसरे स्रोत से इसे समझाने का प्रयास करते हैं।

"He (Marx) showed that this process (sublation) is really a material movement **that recovers whatever disintegration has taken place, so that it emerges not only as an overcoming, but also as a preservation, a subordination to itself of the particular sides of the preceding stage in the development of the process.** *In a number of his works, Marx showed that in the ownership of the capitalist mode of production, small-scale private ownership was overcome as an independent law-system, but was preserved as a collateral sublated form of the capitalist law-system.*" (A Textbook of Marxist Philosophy, 1931, Marxism-Leninism Institute, Moscow)

पहली बात जो यहां स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती है वह यह है कि उत्सादन का अर्थ यह नहीं है कि कोई चीज़ निषेध के फलस्वरूप समाप्त हो गयी, तभी उत्सादन को प्रदर्शित किया जा सकता है। मिसाल के तौर पर, पूंजीवादी कालखण्ड के भीतर ही निजी सम्पत्ति के बहुत से रूप प्रकट होते हैं और उत्सादित होकर नया रूप ग्रहण करते हैं। निजी सम्पत्ति नहीं समाप्त होती, लेकिन निजी सम्पत्ति उत्सादित होते हुए अपने रूप को बदलती जाती है। आगे देखें कि उत्सादन की अवधारणा को किस प्रकार समझाया गया है:

"The problem of sublation plays an important role in the analysis of the tendencies of social development. One of the great contributions of Lenin was that he clearly and strongly urged the importance of using the old under the conditions of the new. **In opposition to all "leftist" deviations, he stressed the necessity of such action as would avoid flat negation of the old, and would ensure at the same time that the latter should not be merely preserved in the new, merely joined on to it, but having been annihilated as a system with its own set of laws, should emerge as a collateral form of the new law system. It is along such line that the dialectical conception of negation appears in Leninist tactic of NEP.** NEP emerged as a form of contradictory development

of socialism, in which occurred a special kind of negation of capitalism. This negation was allied with a partial sufferance of capitalism. Socialism and capitalism were in rivalry, but the conditons of the contest guaranteed the victory of the former. The development of NEP denoted the resolution of this unstable situation, the victory of socialism and the abolition of capitalism within the frame of NEP. NEP, being a determined form of socialist development and at the same time the destroyer of capitalism, was preparing its own future negation by resolving its present contradictions, and thus paved the way of the final victory over the elements of capitalism." (*ibid*)

यहां हम देख सकते हैं कि उत्सादन का अर्थ पुराने तत्वों का नये चरण में योगात्मक रूप से जुड़ जाना नहीं होता है, बल्कि एक नये रूप में जुड़ना होता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि नये चरण में पुराने तत्व अपने विपरीत के रूप में जुड़ेंगे। जैसा कि हमने ऊपर के उद्धरण में देखा निजी सम्पत्ति पूंजीवाद में ही कई रूप ग्रहण करती है; एक रूप दूसरे रूप का विपरीत नहीं होता है। लेकिन उत्सादन की श्यामसुन्दर की समझदारी देखें: "अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध अवश्य ही उस जाति व्यवस्था जो गुणात्मक रूप से भिन्न कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो उसके विपरीत हो।" ग़लत! जाति व्यवस्था के वे तत्व एक उत्पादन पद्धति से दूसरी उत्पादन पद्धति में संक्रमण की प्रक्रिया में समाप्त हो जाएंगे, जो कि नयी उत्पादन पद्धति के साथ जीवक्षम (viable, इसका सकारात्मक या नकारात्मक से कोई रिश्ता नहीं है, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं) नहीं हैं, जबकि वे तत्व जो कि नयी उत्पादन पद्धति के साथ जीवक्षम हैं, वे *बदले हुए रूप में* नयी व्यवस्था में शामिल हो जाएंगे, लेकिन योगात्मक तौर पर नहीं बल्कि जैविक तौर पर।

हमने अपने शोध पत्र में दिखलाया कि ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में जो वर्ण-जाति व्यवस्था अस्तित्व में आयी, उसमें प्राचीन जनपदीय गणराज्यों के पैदा होने के पहले आनुवांशिक श्रम विभाजन पैदा हुआ; इसके पहले उसमें अनमनीय आनुवांशिक श्रम विभाजन नहीं था; इसके प्रमाण हमने अपने जवाब में पेश किये थे। आनुवांशिक श्रम विभाजन पैदा होने के साथ जाति व्यवस्था एक नये रूप में सामने आयी; कई समुदाय जो कि अधीनस्थ स्थिति में नहीं थे, वे अधीनस्थ स्थिति में गये और पदानुक्रम में भी उथल-पुथल पैदा हुई। मौर्य काल के परिपक्व दौर में पहुंचने तक अस्पृश्यता अस्तित्व में आने लगी थी, जो और कुछ नहीं बल्कि कुछ जातियों (विशेषकर प्रमुख उत्पादक श्रम करने वाली जातियों) की अवस्थिति को जातिगत पदानुक्रम में अस्तित्व में आ रहे वर्ग समाज के अनुसार सर्वाधिक दमित अवस्थिति में पहुंचाने के लिए शासक वर्गों द्वारा किया गया विचारधारात्मक प्रबन्ध था। लेकिन इसी दौर में कुछ जातियों की अवस्थिति ही पदानुक्रम में परिवर्तित हो गयी। मिसाल के तौर पर, शूद्र मौर्यकाल के उत्तरार्द्ध तक प्रमुख किसान जाति बन गये, जबकि वैश्य जातियां जो कि किसान वर्ग में प्रमुख थीं, अब व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में चली गयीं। **क्या यह परिवर्तन गुणात्मक था? हां! क्योंकि यह बदली हुई वर्ग संरचना को प्रतिबिम्बित करता था।** मौर्यकाल के समाप्त होने के बाद के दौर में, विशेष तौर पर गुप्त काल की शुरुआत के साथ, जाति व्यवस्था में फिर से गुणात्मक परिवर्तन आये। कुछ क्षेत्रों में वैश्य राज्य पैदा हुए, जिसमें राजा वैश्य था, जबकि ब्राह्मण उसके मातहत की भूमिका में थे। गुप्त काल में भारतीय सामन्तवाद का विकास होता है और ब्राह्मण जातियों में ही दो हिस्से उभरते हैं: एक जो कि भूस्वामी बन कर शासक वर्ग का हिस्सा बना रहता है और दूसरा जो कि भिक्षा और पुरोहिती पर ही टिका रहता है, और

नतीजतन पदानुक्रम में उसकी स्थिति नीचे चली जाती है। हम अपने पिछले जवाब में ही दिखला चुके हैं कि यह स्थिति अन्त में यहां तक पहुंचती है कि कुछ जगहों पर अस्पृश्य ब्राह्मण जातियां भी पैदा होती हैं, जोकि पुरोहिती के अतिरिक्त मुख्य तौर पर छोटे गरीब किसान जैसी स्थिति में आ जाती हैं। **जाति व्यवस्था के पदानुक्रम में होने वाले ये बदलाव क्या गुणात्मक बदलाव थे? हां!** क्योंकि इन्होंने जाति व्यवस्था की पूरी आन्तरिक संरचना को ही बदल डाला। इसी प्रकार, दक्षिणी भारत में शूद्र किसान राज्यों के उदय के साथ वेल्लाल जैसी शूद्र जातियां शासक वर्ग बनकर उभरीं और उन्होंने ब्राह्मणों के ज़रिये अपने लिए नये विधान तक रचवा दिये जिनके अनुसार वे "ब्राह्मणों के संरक्षक" थे; **क्या शूद्रों की स्थिति में यह परिवर्तन जाति व्यवस्था में किसी गुणात्मक परिवर्तन को दिखलाता है? हां!** वे शूद्र जो उत्तर-वैदिक काल में वैदिक ऋचाओं को महज़ सुन लेने के लिए कान में पिघला सीसा डालकर दण्डित किये जा सकते थे, वे अब राजा की स्थिति में थे; एक स्रोत में यह भी कहा गया है कि वेल्लाल जाति सत-शूद्र है और वह ब्राह्मणों से भी पवित्र है। **क्या यह जाति व्यवस्था में किसी गुणात्मक परिवर्तन का परिचायक था? जी हां!** मध्यकाल में मराठा जातियों का उदय और शासक वर्ग के तौर पर उनका उभरना क्या वर्ग संरचना में बदलाव के कारण जाति व्यवस्था में किसी गुणात्मक परिवर्तन का परिचायक था? हां। उत्तर मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल में जाट जाति का शासक वर्ग के तौर पर उदय और उनका यजमान जाति के तौर पर उभरना क्या वर्ग संरचना में परिवर्तन के अनुसार जाति व्यवस्था में किसी गुणात्मक बदलाव की ओर इंगित करता है? हां! हमने अपने पिछले जवाब में और साथ ही अपने शोध पत्र में ग्लोरिया रहेजा के शोध कार्य के हवाले से दिखलाया है कि जाट जाति के प्रभुत्वशील जाति के तौर पर उभार के पीछे कौन-सी वर्ग गतिकी काम कर रही थी। ग्लोरिया रहेजा ने दिखलाया है कि इस उभार के फलस्वरूप जातिगत संरचना में जाटों की स्थिति केन्द्रीय प्रभुत्वशील जाति की बनी और ब्राह्मणों की अवस्थिति भी उनके मातहत है। **क्या यह जाति व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन है? हां!** क्या हज़ारों वर्षों से जाति व्यवस्था में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन पद्धति में आने वाले बदलावों के कारण जो परिवर्तन हुए हैं, वे महज़ मात्रात्मक परिवर्तन हैं? श्यामसुन्दर को ऐसा ही लगता है क्योंकि उन्होंने तो ठीक-ठीक सन भी पता करके बता दिया कि भारत में प्राचीन काल से लेकर 1810 तक जाति व्यवस्था ही उत्पादन प्रणाली थी और इससे भी हास्यास्पद बात जो श्यामसुन्दर बोलते हैं वह यह कि "प्राक्-सामन्ती और सामन्ती काल में जाति व्यवस्था ही भारत की उत्पादन पद्धति थी।" ऐसी बातों को हम प्रचण्ड मूर्खता का प्रमाण न मानें तो क्या मानें? **समझ में नहीं आता कि जब उत्पादन पद्धति एक थी तो औंधी खोपड़ी ने सामन्ती और प्राक्-सामन्ती काल में भेद कैसे स्थापित किया? यह है श्यामसुन्दर की द्वन्द्ववाद और उसके नियमों की समझ!**

खैर, मूल बात यह है कि जाति व्यवस्था में बदलती उत्पादन पद्धति के साथ मात्र मात्रात्मक परिवर्तन नहीं हुए हैं, बल्कि उसके आन्तरिक ढांचे, कार्य-प्रणाली और विचारधारा में गुणात्मक परिवर्तन हुए हैं। श्यामसुन्दर की यह समझ ही बेहद अधकचरी है कि कोई सामाजिक-आर्थिक संरचना (structure) जो कि पिछले साढ़े तीन हज़ार वर्षों से मौजूद है, वह बदलती उत्पादन पद्धतियों के साथ केवल मात्रात्मक परिवर्तन से होकर गुज़रेगी। जाति व्यवस्था में बदलती उत्पादन पद्धति व सम्बन्धों के साथ गुणात्मक परिवर्तन हुए हैं और वह उत्सादन की प्रक्रिया के घटित होने को ही प्रदर्शित करते हैं। जाति व्यवस्था अपना निषेध करते हुए ही विकसित हुई है क्योंकि वह वर्ग व्यवस्था से पूर्ण रूप से स्वायत्त व्यवस्था नहीं है (जैसा कि श्यामसुन्दर को लगता है कि हम सोचते हैं) बल्कि उसके साथ संगति का सम्बन्ध रखती है और हर दौर में वर्ग गतिकी में आने वाले बदलाव ही जाति व्यवस्था की आन्तरिक संरचना में उथल-पुथल (tremors) लाते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप जाति व्यवस्था में विखण्डन और संलयन की प्रक्रियाएं चलती थीं और पूरी संरचना गुणात्मक रूप से

एक नये रूप में प्रकट होती थी। यह प्रक्रिया कैसे घटित हुई है यदि पाठक इसे सोदाहरण समझना चाहता है तो हमारे पिछले जवाब में जाति सम्बन्धी हमारे शोध के लिंक्स पर जाकर हमारे शोध-पत्रों, व्याख्यानों आदि का अध्ययन कर सकता है। हमारे पिछले जवाब और हमारे शोध पत्र का अध्ययन करने के बावजूद श्यामसुन्दर यह प्रश्न कैसे पूछ रहे हैं, यह हमारी समझ से परे है: "पाठकगण इस ऊपर दिये गये लम्बे उद्धरण को पढ़कर समझ सकते हैं कि अभिनव सिन्हा जाति व्यवस्था के निषेध और उसके निषेध का निषेध सिद्ध करने के लिए महज़ उसके तीन हज़ार साल के मात्रात्मक परिवर्तन की गुहार लगा रहे हैं। वह यह नहीं बता पाए कि इन 3000 वर्षों में जाति व्यवस्था का निषेध कब हुआ था? यानी जाति व्यवस्था कब अपने गुणात्मक परिवर्तन के ज़रिये अपने विपरीत में बदल गयी थी? यानी कब छलांग लगाकार गुणात्मक रूप से भिन्न किसी अन्य चीज़ में बदल गयी थी? यदि ऐसा कभी नहीं हुआ तो आप नहीं कह सकते कि जाति व्यवस्था का कभी निषेध हो गया था।" हमारे जिस कथन के आधार पर श्यामसुन्दर कह रहे हैं कि हम महज़ मात्रात्मक परिवर्तन की बात कर रहे हैं, उसमें हमने कहीं भी मात्रात्मक परिवर्तन की बात ही नहीं की है; ऐसा कोई शब्द ही उस पूरे उद्धरण में मौजूद नहीं है! **लेकिन जिस प्रकार दोन किहोते दि ला मांचा अपनी मानसिक छवियों को यथार्थ समझ लेता था, उसी प्रकार हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र भी अपनी मानसिक छवियों को यथार्थ समझ बैठते हैं। क्या हम जाति व्यवस्था में महज़ मात्रात्मक परिवर्तन की "गुहार" लगा रहे हैं? इसके लिए हम बस इतना ही कहेंगे कि हमारे शोध पत्रों को पाठक पढ़ लें जिसके कि आप समझ सकें कि श्यामसुन्दर "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की बेखयाली में कैसी नासमझी की बात कर रहे हैं।**

दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र का अपने जंग खाए जिरह-बख्तर के साथ एक कहावत पर हमला!

सबसे मज़ेदार बात तो यह है कि श्यामसुन्दर कहावत और रूपक नहीं समझते और उसका भी जवाब देते हैं! ऐसा "इज्जत बचाओ अभियान" चलाने वाला कोई व्यक्ति ही कर सकता है। हमने माओ के एक लेख से एक रूपक अपने पिछले जवाब में दिया था जहां माओ कहते हैं कि कुछ लोग द्वन्द्ववाद को नहीं समझते और इसलिए चीज़ों में हो रहे परिवर्तन को नहीं देख पाते और इसीलिए उनका नारा होता है: "क्योंकि व्योम कभी नहीं बदलता इसलिए ताओ भी कभी नहीं बदलता।" यह एक चीनी कहावत है जिसमें छिपे भाववाद को अनावृत्त करने के लिए माओ ने इसे उद्धृत किया था और हमने इसे श्यामसुन्दर पर व्यंग्य में लागू किया था। **लेकिन इसका भी श्यामसुन्दर ने जवाब दिया है (जी हां! आपको यक़ीन नहीं होता? तो आगे देखिये।) देखें कि श्यामसुन्दर हमारे रूपक का कैसे खण्डन करते हैं:** "व्योम का बदलना तो एक बात है पर व्योम का बदलना उसका निषेध नहीं होता। भौतिक जगत निरंतर परिवर्तनशील है पर भौतिक जगत का कभी भी निषेध नहीं हो सकता। निषेध का प्रश्न भौतिक जगत की विशिष्ट प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है स्वयं भौतिक जगत से नहीं। प्रकृति निरंतर बदलती है पर प्रकृति की प्रक्रिया का कभी निषेध नहीं हो सकता। प्रकृति की विशिष्ट प्रक्रियाएं अस्तित्व में आती हैं और अस्तित्व से चली जाती हैं यानी उनका निषेध हो जाता है पर प्रकृति स्वयं न कभी अस्तित्व में आयी है और न ही कभी अस्तित्व से जायेगी। ***इसलिए अभिनव सिन्हा द्वारा व्योम के बदलने की बात को बीच में ले आना भ्रम फैलाने के अलावा और कुछ नहीं है।" (!!!)*** माने कि क्या ज़बर्दस्त मूर्खता है! इन महोदय को व्यंग्य, रूपक और कहावत बोलना भी अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है! **यह शख्स तो अपने सांचो पांजाओं के सामने अपनी इज्जत बचाने के लिए कहावतों और रूपकों का भी खण्डन और आलोचना लिखने लगेगा!** कठमुल्लावाद और जड़सूत्रवाद के मूर्त रूप के रूप में सारे कठमुल्लावादियों को श्यामसुन्दर की प्रतिमा अवश्य

स्थापित करनी चाहिए! इसके बाद श्यामसुन्दर यह दिखलाने के लिए प्रकृति की प्रक्रियाओं में निषेध होता है, मगर स्वयं प्रकृति का निषेध नहीं होता दो पेजों तक ग़ैर-ज़रूरी उद्धरणबाज़ी करते हैं: वह भी हमारे द्वारा इस्तेमाल किये गये एक रूपक, एक कहावत को शाब्दिक तौर पर समझ लेने के कारण!

श्यामसुन्दर कहते हैं: "अर्थात् अभिनव सिन्हा के अनुसार गुप्त काल से पहले ही जाति व्यवस्था के 'तीन मूल आयाम' (सारसंग्रहवाद!) पैदा हो चुके थे, उन्हीं की निरंतरता बाद में बनी रही। यानी इनकी निरंतरता में कभी विच्छेद नहीं आया, दूसरे शब्दों में जाति व्यवस्था का भी कभी निषेध नहीं हुआ।" **क्या बात है! यानी कि यदि कोई कहे कि निजी सम्पत्ति का उद्भव दास समाज में हुआ और सम्पत्तिहीन और सम्पत्तिवान की चर राशियां बदलती रहीं लेकिन पूंजीवादी समाज तक निजी सम्पत्ति बनी रही, तो इसका अर्थ होगा कि दास समाज से लेकर पूंजीवादी समाज में निरंतरता बनी रही और निषेध की प्रक्रिया नहीं घटित हुई!** तीन आयामों का अर्थ है जाति व्यवस्था के तीन को-ऑर्डिनेट्स जो कि जाति व्यवस्था को परिभाषित करते हैं; कौन-सी जाति अस्पृश्य नहीं थी, बाद में अस्पृश्य बन गयी, कौन-सी जातियां खेतिहर जातियां थी, मगर व्यापार में चली गयीं, कौन सी जातियां अधीनस्थ व दास श्रम मुहैया कराती थीं, मगर बाद में व्यापारिक जातियां बन गयीं, कौन सी जातियों में विवाह के एक दौर में प्रमाण मिलते हैं, मगर बाद में नहीं, कौन सी जातियां पहले पूर्ण रूप से दमित अवस्थिति में थीं, मगर बाद में वे स्वयं शासक वर्ग के तौर पर उभरीं, ये सब चर राशियां हैं; यानी, ये परिवर्तनशील पहलू हैं; आनुवांशिक श्रम विभाजन, अस्पृश्यता और सजातीय विवाह केवल तीन कोऑर्डिनेट्स हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि सभी वर्ग समाजों का बुनियादी कोऑर्डिनेट है अधिशेष श्रम का अन्य द्वारा विनियोजन। लेकिन यह विनियोजन रूप बदलता जाता है और इसी के अनुसार वर्ग समाज का चरित्र भी बदलता जाता है। इसका श्यामसुन्दर ने जो अर्थ निकाला है, यह तो मानना पड़ेगा कि वह श्यामसुन्दर ही निकाल सकते हैं! **मतलब कि यदि जाति व्यवस्था के तीन आयामों की बात करें और यह भी बताएं कि वे अलग-अलग दौरों में पैदा हुए और यह भी बताएं कि अलग-अलग दौरों में वे कैसे बदले और यह भी बताएं कि किन दौरों में कौन से आयाम क्षीण पड़कर लुप्तप्राय बनने की ओर अग्रसर हो गये, तो भी श्यामसुन्दर कहते हैं कि तीन आयाम बने रहे तो इसका अर्थ है, जाति व्यवस्था में निरंतरता का ही तत्व बना रहा, अतएव उसका निषेध नहीं हुआ और इसलिए मैं सही हूं, इति सिद्धम! ऐसी विचित्र तर्क प्रणाली का प्रदर्शन वही व्यक्ति कर सकता है जो कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के उन्माद में हर प्रकार के तर्क से वंचित हो चुका हो।**

इसके बाद श्यामसुन्दर हमारी शोध टीम के मुख्य पेपर से यह उद्धरण पेश करते हैं:

"...मार्क्सवादी इतिहासकारों ने जाति प्रश्न के उद्भव और विकास-प्रक्रिया की व्याख्या किस प्रकार की है? जाति व्यवस्था अपने जन्मकाल से लेकर अब तक की अवधि में, नष्ट होने की बजाय निरंतर मौजूद रही है, लेकिन यथावत, जड़वत मौजूद रहने की बजाय हर उत्तरवर्ती सामाजिक-आर्थिक संरचना द्वारा सहयोजित की जाती रही है, उनके बीच 'आर्टिक्युलेशन' होता रहा है और वह स्वयं को पुनर्नवा बनाती रही है।"

इसका श्यामसुन्दर ने यह मतलब निकाला है: "यानी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था जिसकी निरंतरता, न्यासी मण्डल के अनुसार, आज तक बनी रही और जो कभी नष्ट नहीं हुई बल्कि न्यासी मण्डल के अनुसार यह महज़ विभिन्न शासक वर्गों द्वारा समायोजित, सहयोजित की जाती रही और इस रूप में जाति व्यवस्था अपने उन्हीं तीन आयामों पर आधारित रहते हुए अपने आपको पुनर्नवा करती रही तो इस प्रकार का परिवर्तन जाति व्यवस्था में महज़ मात्रात्मक परिवर्तन की श्रेणी में ही आता है, गुणात्मक परिवर्तन की श्रेणी में नहीं। क्योंकि

जाति व्यवस्था का गुणात्मक परिवर्तन जाति व्यवस्था के नष्ट हुए बिना सम्भव नहीं है।" **जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है कि बेहद छोटे से वाक्य में बहुत सारी मूर्खताएं घुसा देने की श्यामसुन्दर की क्षमता आश्चर्यजनक है।**

पहली बात तो यह है कि उपरोक्त उद्धरण में तीनों आयामों के शुरू से अन्त तक बने रहने की कोई बात ही नहीं कही गयी है, न ही हमारे किसी अन्य शोध पत्र में ऐसा कहा गया है। हर स्थान पर हमने ऐतिहासिक तौर पर पैदा हुए तीन आयामों की बात कही है, जो ऐतिहासिक तौर पर ही अलग-अलग दौर में क्षीण पड़ते हैं। दूसरी बात, उपरोक्त उद्धरण में यह नहीं कहा गया है कि जाति व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि ठीक उल्टी बात कही गयी है, यानी कि वह अलग-अलग शासक वर्गों द्वारा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सहयोजित हुई। तीसरी बात, किसी वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन का अर्थ होता है, उसका नष्ट हो जाना? यह श्यामसुन्दर ने कहां पढ़ लिया!? मतलब यदि निजी सम्पत्ति अपने निषेध के जरिये कई मंजिलों से होकर आगे विकसित हुई तो यह उसके नष्ट होने के ज़रिये हुआ? मतलब कि यदि सामन्ती निजी सम्पत्ति निषेध के ज़रिये छोटे प्रत्यक्ष उत्पादकों की निजी सम्पत्ति बनी तो निजी सम्पत्ति का निषेध हो गया; फिर पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का भूत आया और श्यामसुन्दर के उकसावे पर उसने व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का निषेध कर दिया! किस प्रकार की सैद्धान्तिक हवाबाज़ी है यह? श्यामसुन्दर को शुरू से *किसी की सहायता से* मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास का बेहद बुनियादी अच्छी पुस्तकों से अध्ययन करना चाहिए।

निषेध का निषेध और विपरीत तत्वों की एकता के नियम के बीच सम्बन्ध के विषय में श्यामसुन्दर का अज्ञानतापूर्ण मतिभ्रम

श्यामसुन्दर कहते हैं कि निषेध का निषेध का नियम सार्वभौमिक नहीं है और विपरीत तत्वों की एकता का नियम सार्वभौमिक है। दूसरे शब्दों में निषेध का निषेध का नियम श्यामसुन्दर के अनुसार "हर क्षेत्र में तो लागू होता है, लेकिन हर क्षेत्र में हर जगह लागू नहीं होता।" **क्षेत्र और जगह में क्या फर्क होता है? हर क्षेत्र स्वयं कई क्षेत्रों में विभाजित होता है; इन तमाम उपक्षेत्रों के विकास के परिणामस्वरूप ही किसी क्षेत्र में कोई परिवर्तन आता है। हर उपक्षेत्र में भी परिवर्तन का नियम वही होता है, जो कि सार्वभौमिक तौर पर हर क्षेत्र में लागू होता है।**

दूसरी बात यह है कि श्यामसुन्दर द्वन्द्ववाद के एकवाद को स्वीकार नहीं करते। वह समझते हैं कि विपरीत तत्वों की एकता द्वन्द्ववाद में प्रधान अन्तरविरोध है जबकि निषेध का निषेध गौण अन्तरविरोध है, इसलिए वह इस नतीजे पर पहुंचते हैं: "अत: विपरीतों की एकता और संघर्ष के नियम की भांति 'निषेध का निषेध' नियम को हर जगह ही प्रमाणित करने की चाह नहीं रखनी चाहिए।" **यानी कि कुछ ऐसी वस्तुएं और प्रक्रियाएं होंगी जो कि विपरीत तत्वों की एकता के नियम से विकसित होंगी, लेकिन उनके विकास के अगले चरण की व्याख्या निषेध का निषेध के नियम से नहीं की जा सकती!** यह एकवाद नहीं बल्कि द्वैतवाद है। विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष का परिणाम हर वस्तु या प्रक्रिया में विकास का एक नया चरण होता है, जो कि स्वयं पिछले चरण का विपरीत नहीं होता, बल्कि एक नयी मंजिल होता है; नयी मंजिल ठीक इसीलिए होता है क्योंकि विपरीत तत्व कालिक और स्थानिक तौर पर एक साथ ही मौजूद होते हैं और एक साथ ही मौजूद हो सकते हैं, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक होते हैं और एक दूसरे के अस्तित्व को निर्धारित रूप (determinacy) देते हैं। **लेकिन निषेध का निषेध का नियम विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष के नियम पर**

महज़ आधारित नहीं है, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं; यह उसकी की ही एक अभिव्यक्ति और उसका ही विस्तार है। हमने ऊपर मार्क्सवादी दर्शन की सोवियत पाठ्यपुस्तक से इस बाबत जो उद्धरण पेश किया है, वह इस बात को स्पष्ट कर देता है। इसलिए इन दो नियमों को अलग करके देखना और यह सोचना कि एक सार्वभौमिक तौर पर लागू होता है और दूसरा "हर क्षेत्र की हर जगह" (!) पर लागू नहीं होता, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बुनियादी नियमों के बारे में श्यामसुन्दर के निपट अपढ़पन को दिखलाता है।

श्यामसुन्दर ने 'जर्मन विचारधारा' से मार्क्स का एक उद्धरण छांटा है, जहां पर मार्क्स हेगेल के निषेध का निषेध को हर जगह लागू करने की आलोचना कर रहे हैं। यह हिस्सा वास्तव में मैक्स स्टर्नर की मार्क्स व एंगेल्स द्वारा आलोचना के हिस्से (लाइपजिंग काउंसिल-III. सेण्ट मैक्स) से छांटा गया है। यहां मार्क्स मैक्स स्टर्नर के हेगेलीय भाववाद की आलोचना कर रहे हैं जो कि द्वन्द्ववाद को भौतिकता के जगत पर नहीं बल्कि विचार जगत पर ही लागू करता है। 'जर्मन विचारधारा' में द्वन्द्ववाद को केवल विचारों के जगत पर लागू करने से होने वाले उसके रहस्यवादी (mysticist) विनियोजन की मार्क्स ने बार-बार आलोचना की है; लेकिन यह निषेध का निषेध की सार्वभौमिकता की आलोचना नहीं है, बल्कि निषेध का निषेध के नियम को केवल विचार जगत की शुद्धता पर लागू किये जाने की आलोचना है। इसीलिए हम दिखलाते हैं कि निषेध का निषेध के विषय में 'जर्मन विचारधारा' में ही मार्क्स ने क्या लिखा है। यह भी मैक्स स्टर्नर की आलोचना के खण्ड में से लिखे गये शब्द हैं:

"Whereas Hegel, for example, is still to such an extent guided by the empirical world that he portrays the German burgher as the servant of the world around him, Stirner has to make him the master of this world, which he is not even in imagination. Similarly, Saint Max pretends that he does not speak of the old man for empirical reasons; he wishes to wait until he becomes one himself (here, therefore, "a man's life"= his unique life). Hegel briskly sets about constructing the four stages of the human life *because, in the real world, the negation is posited twice...*" (Marx, *German Ideology*)

श्यामसुन्दर की समस्या यह है कि वह किसी भी रचना को उसके सन्दर्भ में नहीं देखते और न ही उसे पूरा पढ़ते हैं। मैक्स स्टर्नर युवा हेगेलवादियों में सबसे रैडिकल होने का दावा करते थे और उनका मानना था कि अन्य सभी युवा हेगेलियन जैसे कि ब्रूनो बावर, फायरबाख और यहां तक कि मार्क्स किसी न किसी अमूर्त श्रेणी की शरण में जाते हैं। हेगेल के लिए वह श्रेणी परम विचार (ईश्वर) थी, तो फायरबाख के लिए वह मानवतावाद और प्रेम थी तो वहीं मार्क्स के लिए वह पवित्र कम्युनिस्ट समाज थी; स्टर्नर के अनुसार, सत्य केवल अहं (ego) है जो कि कोई अमूर्तन नहीं है। स्वतन्त्रता केवल इस अहं के बोध में है, जो कि दो प्रकार से हो सकता है: एक, स्वतन्त्रता, किसी वस्तु से स्वतन्त्रता के रूप में और दूसरा, अपनी विशिष्टता या अपनी शक्ति के बोध के रूप में। मार्क्स ने बताया कि स्वतन्त्रता की यह पूरी समझदारी ही भाववादी है। स्वतन्त्रता केवल किसी निश्चित आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ही स्वतन्त्रता होती है। इसी के ठीक बाद मार्क्स का वह कथन आता है जिसमें मार्क्स "हर स्थान पर हेगेल के समान निषेध का निषेध को प्रदर्शित करने" की बात करते हैं। यदि श्यामसुन्दर सन्दर्भ देखते तो वह समझ जाते कि मार्क्स यहां पर द्वन्द्ववाद के हेगेलीय भाववादी विकृतिकरण पर टीका कर रहे हैं, न कि निषेध का निषेध की सार्वभौमिकता पर। वास्तव में, स्टर्नर की पूरी आलोचना ही उनके भारी

दावों के बावजूद उनके भाववादी चिन्तन परम्परा के दायरों के भीतर ही रह जाने के लिए की गयी है। लेकिन यह बात श्यामसुन्दर तब समझ पाते जब कि वह इस रचना को पूरा पढ़ते। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं, यह श्यामसुन्दर की तमाम आदतों में से एक नहीं है!

दूसरी बात यह है कि यदि मार्क्स के ही लेखन को सम्पूर्णता में देखें तो हम पाते हैं कि वह निषेध का निषेध के नियम को एक सार्वभौमिक नियम मानते थे, जो कि प्रकृति और समाज में विकास का आम नियम है। वास्तव में, ड्यूहरिंग ने मार्क्स पर उनके इसी विचार के लिए हमला किया था और एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में निषेध का निषेध पर लिखे गये अध्याय को मार्क्स के इसी विचार की ड्यूहरिंग से हमले से हिफ़ाज़त के लिए लिखा था। इसमें एंगेल्स साफ तौर पर दिखलाते हैं कि निषेध का निषेध का नियम समाज और प्रकृति में विकास का एक आम नियम है। लेकिन श्यामसुन्दर को अब यह दिखलाना है कि निषेध का निषेध "हर क्षेत्र में लागू होता है, मगर हर क्षेत्र की हर जगह पर नहीं" तो वह मार्क्स और एंगेल्स के विचारों के साथ भी बदसलूकी करने से बाज़ नहीं आएंगे।

इसके बाद श्यामसुन्दर दोबारा दावा करते हैं कि निषेध का निषेध के ज़रिये चीज़ें अपने विपरीत में बदल जाती हैं, जिसका हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं। **तत्पश्चात श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमारा यह कहना कि पूंजीवादी समाज में श्रम और पूंजी एक दूसरे के एण्टीथीसिस होते हैं, ग़लत है; सच्चाई यह है कि हर थीसिस के भीतर विपरीत तत्वों की एकता होती है और हर एण्टीथीसिस के भीतर विपरीत तत्वों की एकता होती है। हमने ऊपर दिखलाया है कि श्रम और पूंजी को मार्क्स और एंगेल्स ने खुद ही पूंजीवादी समाज के भीतर मौजूद थीसिस और एण्टीथीसिस कहा है।** साथ ही, उन्होंने सिर्फ एण्टीथीसिस शब्द का प्रयोग 'अन्तरविरोध' के पर्यायवाची के तौर पर भी किया है, जिसका अर्थ है कि एण्टीथीसिस के भीतर एक थीसिस और एण्टीथीसिस हैं। लेकिन उन्होंने विपरीत तत्वों जैसे कि श्रम और पूंजी को थीसिस और एण्टीथीसिस कहा है जिसे हम ऊपर देख चुके हैं; लेकिन श्यामसुन्दर, जैसा कि हमने ऊपर भी इंगित किया है, शब्दों के अर्थों को सन्दर्भों में नहीं समझते, बल्कि उनकी जड़सूत्र परिभाषाओं पर जोंक के समान चिपक जाते हैं और कुछ ही देर में उसकी सारी अन्तर्वस्तु सोख जाते हैं। इस पद्धति से कठमुल्लावादी लोग कैसे फंस जाते हैं, यह भी हम ऊपर दिखा चुके हैं। श्यामसुन्दर एंगेल्स का जो उद्धरण पेश करते हैं, उसमें एंगेल्स एण्टीथीसिस शब्द का प्रयोग अन्तरविरोध के पर्यायवाची के रूप में कर रहे हैं। इसके दर्जनों उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, जहां मार्क्स और एंगेल्स ने इन शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया है। मिसाल के तौर पर, मार्क्स 'पूंजी' के पहले खण्ड में ही माल के भीतर उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के बीच के सम्बन्ध को एण्टीथीसिस भी कहते हैं और अन्तरविरोध भी कहते हैं। यही वह मौके हैं जिसमें कठमुल्लावादी लोग चक्कर खा जाते हैं, क्योंकि वे तो हर शब्द की जड़सूत्र परिभाषा से चिपके हुए हैं; और अगर हम श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों की बात कर रहे हों, जो कि कोई पुस्तक पूरी पढ़ते भी नहीं तब तो उन्हें अपनी विसंगति के बारे में तब तक पता भी नहीं चलता जब तक कि कोई उन्हें उंगली रखकर बताए नहीं।

इसके बाद श्यामसुन्दर मार्क्स के उस उद्धरण को दोबारा पेश करते हैं, जो कि *दर्शन की दरिद्रता* से है और इस बहस में कई बार उद्धृत किया जा चुका है। इस उद्धरण में मार्क्स सामन्ती एकाधिकार के निषेध के ज़रिये मुक्त व्यापार के पूंजीवाद के पैदा होने और फिर मुक्त व्यापार के निषेध के ज़रिये आधुनिक पूंजीवादी एकाधिकार के पैदा होने की बात कर रहे हैं। मार्क्स इसमें निजी सम्पत्ति और इजारेदारी के रूपों के बदलने की व्याख्या कर रहे हैं और उसे निषेध का निषेध के ज़रिये दिखला रहे हैं। श्यामसुन्दर इसके आधार पर कहते हैं कि इस उद्धरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि थीसिस और एण्टीथीसिस एक दूसरे के विपरीत नहीं होते हैं, बल्कि स्वयं दो विपरीत तत्वों में विभाजित होते हैं। आइये पहले पुस्तक के इस पूरे हिस्से को देख लेते हैं:

"M. Proudhon talks of nothing but modern monopoly engendered by competition. But we all know that competition was engendered by feudal monopoly. **Thus competition was originally the opposite of monopoly and not monopoly the opposite of competition. So that modern monopoly is not a simple antithesis, it is on the contrary the true synthesis.**

"Thesis: Feudal monopoly, before competition.

"Antithesis: Competition.

"Synthesis: Modern monopoly, which is the negation of feudal monopoly, in so far as it implies the system of competition, and the negation of competition in so far as it is monopoly. ***Thus modern monopoly, bourgeois monopoly, is synthetic monopoly, the negation of the negation, the unity of opposites.***"

निजी सम्पत्ति और इज़ारेदारी सामन्ती दौर में जो रूप अख्तियार करती है, उसके साथ छोटे पैमाने की निजी सम्पत्ति का, जो कि मुक्त व्यापार की हिमायत करती है, संघर्ष सामन्ती दौर में ही प्रारम्भ हो जाता है। **मार्क्स ऊपर के पैरा में स्पष्ट तौर पर बताते हैं कि मुक्त व्यापार सामन्ती इजारेदारी का विपरीत था, लेकिन उनके द्वन्द्व से पैदा हुई आधुनिक इजारेदारी मुक्त व्यापार का विपरीत नहीं है।** मुक्त व्यापार और सामन्ती इजारेदारी के अन्तरविरोध के फलस्वरूप सामन्ती इजारेदारी का निषेध हुआ, लेकिन मुक्त व्यापार अपनी नैसर्गिक गति से आधुनिक इजारेदारी में परिणत होता है और स्वयं अपना निषेध करता है। इस रूप में आधुनिक इजारेदारी एक वास्तविक सिंथेसिस है, जिसमें प्रतिस्पर्द्धा भी है और इजारेदारी भी है और दोनों ही एक-दूसरे में परिवर्तित होती रहती हैं। इसीलिए मार्क्स ने ऊपर लिखा है, "Thus modern monopoly, bourgeois monopoly, is synthetic monopoly, the negation of the negation, *the unity of opposites.*" **ये विपरीत तत्व क्या हैं? सामन्ती इजारेदारी और मुक्त व्यापार/प्रतिस्पर्द्धा, यानी आरंभिक थीसिस और उसकी एण्टीथीसिस, जो कि अपने अन्तरविरोध के फलस्वरूप उस सिंथेसिस को जन्म देती हैं, जिसमें कि वे संश्लेषित रूप में ऐक्यबद्ध होती हैं।** आगे मार्क्स लिखते हैं:

"...But what is not good is the reality of monopoly and the reality of competition. What is still worse is that competition and monopoly devour each other. What is to be done? Look for the synthesis of these two eternal thoughts, wrest it from the bosom of God, where it has been deposited from time immemorial. ***In practical life we find not only competition, monopoly and the antagonism between them, but also the synthesis of the two, which is not a formula, but a movement. Monopoly produces competition,***

competition produces monopoly. Monopolists are made from competition; competitors become monopolists." (Marx, *Poverty of Philosophy*)

मार्क्स ने इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर स्पष्ट किया है कि **हर वस्तु दो में विभाजित होती है। नतीजतन, थीसिस स्वयं अपने भीतर एक थीसिस और एण्टीथीसिस लिए होती है; इस थीसिस और एण्टीथीसिस के अन्तरविरोध के तौर पर सिंथेसिस पैदा होती है। जो सिंथेसिस पैदा होती है, वह स्वयं हमेशा पहले से ही थीसिस और एंटीथीसिस में विभाजित होती है और उनके अन्तरविरोध से एक नयी सिंथेसिस पैदा होती है।** निम्न उद्धरण को देखें:

"*But once it has managed to pose itself as a thesis, this thesis, this thought, opposed to itself, splits up into two contradictory thoughts – the positive and the negative, the yes and no. The struggle between these two antagonistic elements comprised in the antithesis constitutes the dialectical movement. The yes becoming no, the no becoming yes, the yes becoming both yes and no, the no becoming both no and yes, the contraries balance, neutralize, paralyse each other. The fusion of these two contradictory thoughts constitutes a new thought, which is the synthesis of them. This thought splits up once again into two contradictory thoughts, which in turn fuse into a new synthesis.*" (Marx, Poverty of Philosophy)

इस उद्धरण में हम देख सकते हैं कि मार्क्स द्वन्द्वात्मक गति के सार को कितनी स्पष्टता से पेश कर रहे हैं। मार्क्स अनुसार हर थीसिस दो में विभाजित होती है और इनके विपरीतों के टकराव से सिंथेसिस पैदा होती है। **लेकिन श्यामसुन्दर द्वन्द्वात्मक गति को नहीं देखते बल्कि जड़सूत्र पर अटक जाते हैं। मिसाल के तौर पर, मार्क्स ने ऊपर निषेध का निषेध को लागू करने के लिए जो ऐतिहासिक सन्दर्भ चौखटा चुना है, उसमें सामन्ती एकाधिकार थीसिस है जो स्वयं दो में विभाजित होती है: सामन्ती निजी सम्पत्ति और उसका विपरीत, यानी प्रत्यक्ष उत्पादकों की निजी सम्पत्ति जिनके बीच अन्तरविरोध के फलस्वरूप सामन्ती निजी सम्पत्ति का निषेध होता है; यह पहला निषेध है। लेकिन यह व्यवस्था स्वयं अपना निषेध करके आधुनिक इजारेदारी की व्यवस्था में पहुंचती है, जिसमें कि इजारेदारी की पुनर्स्थापना होती है, लेकिन सामन्ती इजारेदारी की नहीं बल्कि पूंजीवादी इजारेदारी की, जो कि स्वयं प्रतिस्पर्द्धा का विपरीत नहीं है और न ही इजारेदारी का विपरीत है; बल्कि उनकी सिंथेसिस है। लेकिन मार्क्स 'पूंजी' में निषेध का निषेध को लागू करने के लिए एक अलग ऐतिहासिक सन्दर्भ चौखटा चुनते हैं जिसमें वे व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति से शुरुआत करते हैं और उसे थीसिस के रूप में पेश करते हैं; इस थीसिस का निषेध बड़ी पूंजी यानी पूंजीवादी निजी सम्पत्ति द्वारा होता है; लेकिन इसका निषेध का निषेध निजी सम्पत्ति के नाश के साथ होता है, लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति एक नये रूप में बनी रहती है: यानी उपभोग की वस्तुओं के रूप में। जो बात यहां स्पष्ट होती है कि निषेध का निषेध के नियम को भी किसी जड़ फार्मुले की तरह प्रयोग नहीं करना चाहिए; बल्कि इतिहास की समूची गति में इसे किसी भी कालखण्ड पर लागू किया जा सकता है।** जो चरण विश्लेषण के उद्देश्य से थीसिस के रूप में लिया जाता है, वह स्वयं अपने से पूर्ववर्ती चरणों की सिंथेसिस के रूप में ही पैदा होता है; जो चरण सिंथेसिस के रूप में लिया जाता है, वह अपने से अगले चरणों के सापेक्ष थीसिस की भूमिका में होता है। लेकिन यही एक चीज़ है जो कि

श्यामसुन्दर नहीं समझते: सन्दर्भ और सन्दर्भ चौखटा (frame of reference)। इसीलिए वह स्वयं जिन उद्धरणों को पेश करते हैं, उनका मतलब नहीं समझते हैं।

श्यामसुन्दर की जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास पर निषेध का निषेध के नियम को लागू करने की मांग के जवाब में

श्यामसुन्दर फिर से निषेध का निषेध को भारत की जाति व्यवस्था के विकास के इतिहास पर लागू करने के प्रश्न पर लौटते हैं और पूछते हैं: "...यदि अतीत की जाति व्यवस्था को 'वाद' की संज्ञा दी जाए तो उसका 'प्रतिवाद' क्या था? क्योंकि निषेध का निषेध नियम से कोई भी परिघटना जब विकसित होती है तो उस परिघटना का उसके पहले निषेध के द्वारा उसके प्रतिवाद, जो उस परिघटना का विपरीत होता है, आना अनिवार्य है क्योंकि उसके बाद ही वह संवाद के चरण में प्रवेश करेगी। दो टूक सवाल यह है कि अतीत की जाति व्यवस्था रूपी वाद का प्रतिवाद क्या था?" यह दो टके का सवाल, माफ कीजियेगा, "दो टूक सवाल" कितना मूर्खतापूर्ण और जड़सूत्रवादी है, यह देखा जा सकता है। हमने अपने शोध-पत्र में, अपने पिछले जवाब में और इस जवाब में भी स्पष्ट किया है कि जाति व्यवस्था और वर्ग संरचना के बीच एक संगति का सम्बन्ध है और वर्ग संरचना इस सम्बन्ध में प्रभुत्वशाली भूमिका निभाती है; हर नयी वर्ग संरचना के आने के साथ जाति व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन आते हैं, उसके पदानुक्रम, आनुवांशिक पेशों, विचारधारा, सभी में बदलाव आ जाता है। जाति अन्तरविरोध में वर्ग अन्तरविरोध ही एक विचारधारात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं, यानी वे मिसआर्टिक्युलेट होकर प्रकट होते हैं। **इसलिए जाति व्यवस्था में निषेध का निषेध उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध और उसके फलस्वरूप होने वाले निषेध के आधार पर ही काम करता है। यही तो कारण है कि हम जाति व्यवस्था को अलग-अलग दौरों में उन दौरों की उत्पादन पद्धति के अनुसार अलग-अलग चरणों में विभाजित करते हैं: मसलन, प्राक्-सामन्ती दौर की प्राक्-सामन्ती जाति व्यवस्था (जो कि इस दौर के उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के अन्तरविरोध, जो कि वर्ग अन्तरविरोध के रूप में सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति पाते हैं, को मिसआर्टिक्युलेटेड रूप में अभिव्यक्त करती थी), सामन्ती दौर की सामन्ती जाति व्यवस्था, पूंजीवादी दौर की पूंजीवादी जाति व्यवस्था। जाति व्यवस्था के विकास में ये चरण वर्ग संघर्ष के विकास के चरणों से कोई स्वतन्त्र चरण नहीं हैं, बल्कि उनके साथ संगति रखते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि 2000 वर्ष पहले जो ईसाई धर्म पैदा हुआ था, उसने सामन्ती, आरंभिक पूंजीवादी और उन्नत पूंजीवादी दौर में अलग-अलग रूप अख्तियार किया; यही कारण है कि व्याख्याशास्त्र (exegesis) ईसाई धर्म शास्त्र में एक अलग शाखा है, जिसका काम ही यही होता है कि वह उन्हीं धर्मग्रंथों को बदलते दौर के अनुसार नये रूपों में व्याख्यायित करे। अब कोई पूछे कि ईसाई धर्म ने 2000 वर्ष पहले अपने जन्म के समय से अपना निषेध करते हुए अपना रूप किस प्रकार बदला और वह उत्पादन सम्बन्धों के विशिष्ट दौर से इस प्रश्न को काट दे, तो उसका क्या जवाब दिया जा सकता है?** श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादियों के साथ यही दिक्कत होती है कि वे जवाब समझना तो दूर, सही सवाल उठाना भी नहीं जानते हैं। लेकिन फिर भी औंधी खोपड़ी में इस ग़लत सवाल की वजह से जो अंधड़ चल पड़ा है, उसे शान्त करने के लिए एक जवाब हम दे देते हैं।

प्राक्-सामन्ती जाति व्यवस्था का निषेध सामन्ती जाति व्यवस्था थी, जो कि गुणात्मक रूपों में प्राक्-सामन्ती जाति व्यवस्था से भिन्न थी; प्राक्-सामन्ती व्यवस्था के भीतर का अन्तरविरोध, उसके भीतर मौजूद थीसिस और एण्टीथीसिस और कुछ नहीं थी, बल्कि बदलते वर्ग सम्बन्ध और पुराने धार्मिक-कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण के बीच का अन्तरविरोध था; दूसरे शब्दों में नयी उत्पादक शक्तियों और पुराने उत्पादन

सम्बन्धों के बीच का अन्तरविरोध ही इस अन्तरविरोध में मिसआर्टिक्युलेटेड रूप में अभिव्यक्त हो रहा था; जब यह अन्तरविरोध तीव्र होते हुए अपने चरम पर पहुंचा तो पुरानी जाति व्यवस्था का निषेध हुआ और वह एक नयी सिंथेसिस में परिणत हुआ, यानी सामन्ती जाति व्यवस्था। हर सिंथेसिस के समान यह सिंथेसिस भी हमेशा, पहले से ही (always-already) दो में विभाजित थी और एक नये विपरीत तत्वों की एकता का प्रतिनिधित्व करती थी। संक्षेप में, सामन्ती जाति व्यवस्था प्राक्-सामन्ती जाति व्यवस्था का निषेध थी, क्योंकि यह जाति व्यवस्था के हर कोऑर्डिनेट में गुणात्मक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करती थी, चाहे वह पेशागत विभाजन हो, पदानुक्रम हो, या फिर जातिगत विचारधारा। निषेध का निषेध के नियम को या विपरीत तत्वों की एकता के नियम को इतिहास पर लागू करने के लिए एक रचनात्मक मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। आर्थिक श्रेणियां स्वयं यथार्थ नहीं होती हैं, बल्कि वह एक निश्चित दिक-काल के यथार्थ का अमूर्तन होती हैं; यही कारण हैं कि स्वयं आर्थिक श्रेणियां भी तभी प्रासंगिक बनी रह सकती हैं, जबकि बदलते यथार्थ के अनुसार उनको विकसित किया जाय। लेकिन कठमुल्लावादी समझते हैं कि जड़सूत्रों से इतिहास निसृत होता है, जबकि सच्चाई यह है कि इतिहास से तार्किक सूत्र निसृत किये जाते हैं। ऐसे कठमुल्लावादियों के लिए ही मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' में लिखा था:

"***Economic categories are only the theoretical expressions, the abstractions of the social relations of production, M. Proudhon, holding this upside down like a true philosopher, sees in actual relations nothing but the incarnation of the principles, of these categories, which were slumbering*** – so M. Proudhon the philosopher tells us – in the bosom of the “impersonal reason of humanity.”

...

"The same men who establish their social relations in conformity with the material productivity, produce also principles, ideas, and categories, in conformity with their social relations.

"***Thus the ideas, these categories, are as little eternal as the relations they express. They are historical and transitory products.***

"There is a continual movement of growth in productive forces, of destruction in social relations, of formation in ideas; the only immutable thing is the abstraction of movement – *mors immortalis*."

उपरोक्त उद्धरण कठमुल्लावादी मार्क्सवादियों पर मार्क्स की टिप्पणी है, जो मार्क्स के वैज्ञानिक तर्कों को जड़सूत्र बना देते हैं और श्यामसुन्दर जैसे कठमुल्लावादी तो यह कार्य बिना समझे हुए करते हैं, जैसा कि हम पिछले दर्जनों पेजों में देख चुके हैं। आगे बढ़ते हैं।

अमूर्त निषेध और निर्धारित निषेध में अन्तर समझ पाने में श्यामसुन्दर की जारी अक्षमता

श्यामसुन्दर अरविन्द ट्रस्ट की शोध टीम के पेपर से एक कथन उद्धृत करते हैं: "...सुनिश्चित योजना के अभाव में पुरानी जमीन पर खड़े होकर लड़ी गयी लड़ाई जीती नहीं जा सकी और अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है।"

इस कथन की श्यामसुन्दर की व्याख्या यह है: "क्या अभिनव सिन्हा बताएंगे कि जिस निषेध का निषेध नियम की गति को वे विपरीतों की एकता वाले नियम के समान सार्वभौमिक बता रहे हैं यानी जो हर पल और हर जगह पर जारी रहती हो तो फिर वह निषेध का निषेध करते हुए आगे बढ़ने वाली गति सन् 1857 में मर कैसे गयी? और दूसरा सवाल यह कि सन् 1857 में निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर ही गयी थी जिसकी आज तक भरपाई न हो सकी तो फिर अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध का निषेध इतिहास की कौन-सी गति के आधार पर हुआ?" एक बार फिर एक सच्चे कठमुल्लावादी के समान श्यामसुन्दर हर चीज़ को सन्दर्भों से काटकर देखने की अपनी पुरानी आदत पर अमल करते हैं। **यदि पाठक हमारे उपरोक्त कथन को हमारे पेपर में जांचें तो पाएंगे कि यहां पर बात हो रही भारत में नैसर्गिक गति से पूंजीवाद के विकास की; 1857 पुराने भारतीय समाज का अन्तिम प्रतिरोध युद्ध था, जिसकी पराजय के बाद अंग्रेजी शासन राजनीतिक तौर पर निर्णायक तौर पर सुदृढ़ हुआ। इस तौर पर इसने पूंजीवादी विकास के नैसर्गिक विकास की सम्भावना-सम्पन्नता को समाप्त कर दिया। भारतीय समाज में निषेध का निषेध के आधार पर ही विकसित हो रही नैसर्गिक प्रक्रिया को एक बाह्य शक्ति द्वारा खत्म कर दिया गया। एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में लिखा है कि किसी भी प्रक्रिया के निषेध का एक निश्चित विशिष्ट तरीका है; केवल तभी वह प्रक्रिया अगले निषेध को जन्म दे सकती है। यदि इस प्रकार का determinate negation न हो जो कि अगले निषेध की ज़मीन तैयार करता है, तो वह प्रक्रिया ही नष्ट हो जाती है और उसका स्थान कोई दूसरी प्रक्रिया लेती है। मिसाल के तौर पर, एक व्यक्ति का शरीर भी एक चरण से दूसरे चरण में निषेध का निषेध द्वारा ही विकसित होता है; परन्तु यदि किसी बाह्य कारण से, मिसाल के तौर पर, किसी दुर्घटना में यह शरीर ही नष्ट हो जाये, तो यह निर्धारित (determinate) निषेध नहीं है, बल्कि एक अमूर्त (abstract) निषेध है। इस अमूर्त निषेध के साथ एक नयी प्रक्रिया आरम्भ हो जायेगी; मृत शरीर के विघटन की। वह प्रक्रिया भी निषेध का निषेध के ज़रिये ही अगले चरणों में प्रवेश करेगी। कोई अगर यह कहे कि शरीर के विकास की निषेध का निषेध की प्रक्रिया का नष्ट हो जाना दिखलाता है कि निषेध का निषेध सार्वभौमिक नियम नहीं है, तो यह कुढ़मगजी नहीं तो और क्या है?** देखें एंगेल्स इसके विषय में क्या लिखते हैं:

"But someone may object: the negation that has taken place in this case is not a real negation : I negate a grain of barley also when I grind it, an insect when I crush it underfoot, or the positive quantity a when I cancel it, and so on. Or I negate the sentence: the rose is a rose, when I say : the rose is not a rose; and what do I get if I then negate this negation and say : but after all the rose is a rose ?--**These objections**

are in fact the chief arguments put forward by the metaphysicians against dialectics, and they are wholly worthy of the narrow-mindedness of this mode of thought.

"Negation in dialectics does not mean simply saying no, or declaring that something does not exist, or destroying it in any way one likes. Long ago Spinoza said: Omnis determinatio est negatio-every limitation or determination is at the same time a negation. And further: the kind of negation is here *determined*, firstly, by the general and, secondly, by the particular nature of the process. I must not only negate, but also sublate the negation. I must therefore so arrange the first negation that the second remains or becomes possible."

यदि किसी प्रक्रिया का द्वन्द्वात्मक निषेध किया जाता है तो इसका अर्थ ही यह होता है कि अगले निषेध की ज़मीन तैयार होती है; यह प्रक्रिया आन्तरिक अन्तरविरोधों के फलस्वरूप ही होती है। लेकिन यदि किसी देश की कोई आन्तरिक नैसर्गिक प्रक्रिया किसी बाह्य शक्ति द्वारा बाधित और नष्ट कर दी जाय, तो फिर यह एक निरपेक्ष और अमूर्त निषेध है न कि एक निश्चित प्रकार का (determinate) निषेध जो कि अगले निषेध का सन्दर्भ तैयार करे। **तो फिर अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के ज़रिये 1857 में क्या नष्ट हुआ? भारत में नैसर्गिक और आन्तरिक गति से पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया। नतीजा क्या हुआ? एक आरोपित औपनिवेशिक संरचना जिसमें औपनिवेशिक सत्ता के मातहत कई उत्पादन प्रणालियां विकृत रूप में आर्टिक्युलेट हुईं।** आज भारत में जिस प्रकार का रुग्ण और बीमार पूंजीवाद है, उसके पीछे हमारे इतिहास का यह दंश भी मौजूद है। ऐसे ही पूंजीवाद के बारे में मार्क्स की वह उक्ति दुहराई जा सकती है कि "हम जर्मनी में पूंजीवाद के विकास से उतना पीड़ित नहीं हैं जितना कि पूंजीवाद के विकास न होने से।" *(यहां याद दिला दें कि यह एक रूपक है, वरना औंधी खोपड़ी इस पर भी टूट पड़ेगी!)* लेकिन जब कोई प्रक्रिया इस प्रकार के अमूर्त निषेध द्वारा नष्ट होती है, तो एक दूसरी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है; भारत के औपनिवेशिकीकरण के निर्णायक रूप से स्थापित होने के साथ औपनिवेशिक संरचना के रूप में एक नयी पूर्णता (totality) पैदा हुई, जिसके अपने आन्तरिक अन्तरविरोध थे और तत्पश्चात भी विकास किसी श्यामसुन्दरीय नियम से नहीं बल्कि निषेध का निषेध से ही हुआ। इस औपनिवेशिकीकरण ने भारत की कुछ निश्चित नैसर्गिक प्रक्रियाओं को बाधित, नष्ट या विकृत किया। जाति व्यवस्था भी नैसर्गिक गति से पूंजीवादी विकास होने पर, जनवादी क्रांति के रास्ते पूंजीवादी विकास होने पर दूसरे रूप में परिवर्तित हुई होती और इस रूप में आये पूंजीवाद में किसी अन्य रूप में तन्तुबद्धीकृत हुई होती। वह रूप क्या होता उसके बारे में कुछ प्रतितथ्यात्मक प्रेक्षण और अटकलें ही लगाई जा सकती हैं, जिनमें अभी जाने की कोई उपयोगिता नहीं है। लेकिन औपनिवेशिक संरचना ने निश्चित तौर पर जाति व्यवस्था को भी ज्यादा रूढ़, अनमनीय और सुदृढ़ बनाया और जितनी आन्तरिक गतिशीलता उसमें थी, उसे बाधित किया। इस रूप में इस सन्दर्भ में भी औपनिवेशिक शासन का प्रभाव नकारात्मक रहा। हमारे पेपर में जिस नैसर्गिक प्रक्रिया के बाधित होने की बात की गयी है, वह है भारत में पूंजीवादी विकास की सम्भावनाएं, न कि यह कहा गया है कि भारत ही किसी सेटलर कॉलोनी के समान नष्ट हो गया, जैसे कि अमेरिका या ऑस्ट्रेलिया में उपनिवेशवादियों ने समूची मूल आबादी, उनकी सभ्यता और संस्कृति का ही समूल नाश कर डाला। इस विशिष्ट सन्दर्भ को श्यामसुन्दर या तो जानबूझकर गोल कर गये हैं, या उनकी समझ में ही नहीं आया है।

दूसरी बात, जो कि आप श्यामसुन्दर के उपरोक्त उदाहरण में फिर से देख सकते हैं वह है द्वैतवाद, जिसका मार्क्सवाद ने हमेशा से विरोध किया है। वह निषेध का निषेध के नियम को विपरीत तत्वों के एकता के नियम के कार्य करने के प्रभाव के रूप में देखने की बजाय दो अलग नियमों के रूप में देखते हैं, और समझते हैं कि इनमें से एक सार्वभौमिक है और दूसरा सार्वभौमिक नहीं है। वस्तुत: नियम सार्वभौमिक ही होता है, इसीलिए वह नियम होता है। खैर, हम इस विषय में श्यामसुन्दर की समझदारी की दरिद्रता को ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं।

आधुनिक पूंजीवाद द्वारा दास श्रम के उत्सादन के प्रश्न पर श्यामसुन्दर की बौद्धिक बेईमानी और कठदलीली

अब आते हैं इस प्रश्न पर कि दास श्रम उत्सादित रूप में अमेरिकी पूंजीवादी दास व्यवस्था में मौजूद था या नहीं। **हमने अपने पिछले जवाब में बताया था कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था तमाम प्राक्-पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक रूपों (forms) और संरचनाओं (structures) को उत्सादित करती है और अपने भीतर समेट सकती है, मिसाल के तौर पर, अस्वतन्त्र श्रम के तमाम रूप जैसे कि दास श्रम। लेकिन श्यामसुन्दर जानबूझकर इसे इस रूप में पेश करते हैं मानो हम कह रहे हों कि रोमन दास व्यवस्था के बाद अमेरिकी पूंजीवादी दास व्यवस्था कालिक तौर पर अगली मंजिल थी जो कि निषेध का निषेध से पैदा हुई है।** श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा ने एक तो यह कहा कि अमरीकन दास प्रथा प्राचीन रोम की दास प्रथा का निषेध का निषेध थी और दूसरी बात वे यह कहते हैं कि वर्तमान जाति व्यवस्था प्राचीन जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध है।" **इसमें से पहली बात तो बिल्कुल ही बेईमानी से भरी हुई मिस्कोटिंग है।** हमने जो लिखा है वह यह है: "इसलिए एक पूंजीवादी जाति व्यवस्था की उसी रूप में बात की जा सकती है, जैसे कि पूंजीवादी अस्वतन्त्र श्रम या अन्य प्रकार के श्रम रूपों की बात की जा सकती है, जो कि अस्तित्व में तो प्राक्-पूंजीवादी दौर में आये थे, लेकिन पूंजीवाद के प्रादुर्भाव के बाद पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने उन्हें सहयोजित किया और अपने अनुसार समायोजित भी किया। आइये, इसके एक ठोस उदाहरण की बात करते हैं, जिसकी मार्क्स ने चर्चा की है: दास प्रथा (slavery)। मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खण्ड में स्पष्ट तौर पर बताया है कि प्राक्-पूंजीवादी रोमन व ग्रीक दास प्रथा व संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण में 1860 के पहले मौजूद दास प्रथा में क्या अन्तर था और किस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने दास प्रथा को अपने अनुसार सहयोजित और समायोजित किया था। निश्चित तौर पर, इस उदाहरण को जाति प्रथा के पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा तन्तुबद्धीकरण, उत्सादन और सहयोजन पर हूबहू लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि हर तुलना अधूरी होती है और इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है।" इसके बाद हमने मार्क्स का निम्न उद्धरण पेश किया:

"इसलिए अमेरिकी यूनियन के दक्षिणी प्रान्तों में नीग्रो श्रम का तब तक एक माध्यमिक रूप से पितृसत्तात्मक चरित्र बना हुआ था जब कि उत्पादन तात्कालिक स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्देशित था। लेकिन जैसे-जैसे कपास का निर्यात उन राज्यों का प्रमुख हित बनता गया, वैसे-वैसे नीग्रो लोगों से अतिरेकपूर्ण काम लेना, और कभी कभी श्रम के सात वर्षों में ही उसके जीवन को पूर्णत: खपा देना एक अच्छी तरह परिकलित और योजनाबद्ध व्यवस्था में एक कारक बन गया। अब उससे उपयोगी उत्पादों की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करना कोई प्रश्न नहीं था, बल्कि स्वयं अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना एक प्रश्न बन गया था। यही बात, मिसाल के तौर पर, <u>दैन्यूबियन राज्यों के कॉर्वी व्यवस्था</u> पर भी लागू होती है।" (कार्ल मार्क्स, 1990, 'कैपिटल', खण्ड-1, पेंगुइन, लंदन)

उसके बाद हमने यह लिखा: "मार्क्स यहां बेहद स्पष्टता के साथ बता रहे हैं कि प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में दास प्रथा अमेरिका में अधिक से अधिक उपयोग मूल्यों के उत्पादन के लिए दिशा-निर्देशित थी और वहां श्रम व उसके उत्पादों से जुड़े सारे पहलू किसी व्यवस्थित गणना का विषय नहीं बने थे; लेकिन जैसे ही पूंजीवादी व्यवस्था ने जड़ जमाई वैसे ही दास प्रथा उसके द्वारा सहयोजित हुई, समायोजित हुई और अब उसका मकसद अधिक से अधिक विनिमय मूल्य पैदा करना था और वह एक व्यवस्थित और सख्त पूंजीवादी एकाउंटिग तन्त्र के मातहत आ गया था।" तत्पश्चात हमने यह लिखा था: "यह एक *पूंजीवादी दास प्रथा* थी न कि रोमन दास उत्पादन पद्धति या यूनानी दास उत्पादन पद्धति के दौर की दास प्रथा।" और अन्त में यह लिखा: "मार्क्स के लिए यह स्पष्ट है कि यह दास प्रथा क्लासिकीय प्राचीन युग की रोमन या यूनानी दास प्रथा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति ने इसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदला है, सहयोजित और समायोजित किया है..."

पहली बात तो यह है कि हमने कहीं भी नहीं लिखा है कि रोमन या ग्रीक दास प्रथा का निषेध का निषेध अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा के रूप में सामने आया; हमने मार्क्स के हवाले से ही लिखा है कि *अमेरिका में ही* पहले दास प्रथा एक प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था के मातहत लागू थी जिसमें दास श्रम का उपयोग मात्र अधिक से अधिक "उपयोग मूल्य के उत्पादन" के लिए किया जा रहा था; यह दास प्रथा नये-नये सेटलर उपनिवेश अमेरिका में क्यों थी और प्राचीन ग्रीको-रोमन प्राचीन दास प्रथा से उसका क्या रिश्ता था, इस पर हम थोड़ा आगे आएंगे। लेकिन हमने मार्क्स के हवाले से ठीक यही बात ऊपर लिखी है कि अमेरिका में ही प्राक्-पूंजीवादी दास प्रथा पहले से मौजूद थी और अमेरिका के दक्षिण में पूंजीवादी व्यवस्था के हावी होने के साथ वह पूंजीवादी व्यवस्था में सहयोजित हो गयी, उत्सादित हो गयी। श्यामसुन्दर हमारा एक भी कथन नहीं दिखला सकते जिसमें कि हमने लिखा हो कि रोमन या ग्रीक प्राचीन दास प्रथा के निषेध का निषेध के तौर पर अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा पैदा हुई।

दूसरी बात, हमने इस बात पर बल दिया है कि पूंजीवाद तमाम प्राक्-पूंजीवादी श्रम रूपों, विशेष तौर पर, अस्वतन्त्र श्रम के रूपों को सहयोजित करता है और उनका नये रूप में इस्तेमाल करता है। कोई ज़रूरी नहीं कि ये श्रम रूप पूंजीवाद के ठीक पहले की व्यवस्था में मौजूद रहे हों; वे उससे भी पहले की व्यवस्था के श्रम रूप हो सकते हैं। मिसाल के तौर पर, ऋण-बंधुआ प्रथा (debt bondage) सामन्ती दौर में पैदा हुई प्रथा नहीं थी, बल्कि वर्ग समाज के प्रादुर्भाव के समय हर जगह इस प्रथा के प्रमाण मौजूद हैं; लेकिन पूंजीवाद ने भी इस प्रथा को सहयोजित करके एक नया रूप दिया है। इसके प्रमाण भारत में भी मौजूद हैं और दूसरे देशों में भी। गुजरात की हाली प्रथा जो कि भारत में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभुत्वशील होने के बाद भी लम्बे समय तक मौजूद रही थी, और कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में अभी भी मौजूद है, वास्तव में इसी प्रकार के सहयोजन का एक उदाहरण है। इसको समझने के लिए यान ब्रीमन की पुस्तक 'लेबर बॉण्डेज इन वेस्ट इण्डिया: फ्रॉम पास्ट टू प्रेज़ेण्ट' का अध्ययन किया जा सकता है।

तीसरी बात, हमने इन्हीं पुराने श्रम रूपों के पूंजीवाद द्वारा उत्सादन का जिक्र करते हुए दास श्रम की अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूदगी, मार्क्स द्वारा दैन्यूब के कॉर्वी सिस्टम की मौजूदगी के जिक्र का और अन्य अस्वतन्त्र श्रम रूपों के पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूदगी का जिक्र करते हुए यह बताया कि पूंजीवाद ऐसे तमाम श्रम रूपों का उत्सादन कर सकता है, जो कि कालिक या स्थानिक तौर पर उनसे सीधे सम्पर्क में न हों, यानी कि उनके ठीक पहले की व्यवस्था या उससे पहले की व्यवस्था में मौजूद न हों।

चौथी बात, रोमन कानून व विधि तन्त्र ने दास श्रम को सबसे व्यवस्थित रूप से कानूनी स्वरूप प्रदान किया था। यही रोमन कानून व विधि तन्त्र समूचे पश्चिमी यूरोपीय पूंजीवादी देशों की कानून व्यवस्था की बुनियाद है क्योंकि निजी सम्पत्ति के कानूनी सैद्धान्तिकीकरण को इसने सर्वाधिक पूर्ण रूप में अंजाम दिया। अमेरिका को जिन लोगों ने औपनिवेशिकीकृत किया, वे इन्हीं देशों से आने वाले लोग थे। यही कारण था कि अमेरिका के दक्षिण में जो प्लाण्टेशन व्यवस्था अस्तित्व में आयी, वह आरंभिक तौर पर पूंजीवादी पैटर्न पर आधारित नहीं थी, बल्कि एक प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था थी और सूत के अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के लिए उत्पादन शुरू करने से पूर्व उसका पूंजीवादी रूपान्तरण शुरू भी नहीं हुआ था; यहां पर दास श्रम को वैध ठहराने के लिए रोमन कानून का ही प्रयोग किया गया था और दास उसी कानून के आधार पर दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका में चैटल दास ही थे, यानी कि एक बोलने वाला औज़ार जिन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था और जिन्हें कानूनी तौर पर इंसान का दर्जा ही नहीं प्राप्त था। इसलिए निरंतरता की एक डोर भी मौजूद थी, जो कि अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा को प्राचीन रोमन दास प्रथा से जोड़ती थी। एंगेल्स के इस उद्धरण पर एक बार फिर से ग़ौर करें:

"Under the Roman Empire all these distinctions gradually disappeared, except the distinction between freemen and slaves, and in this way there arose, for the freemen at least, that equality as between private individuals **on the basis of which Roman law developed – the completest elaboration of law based on private property which we know.** *But so long as the antithesis between freemen and slaves existed,* ***there could be no talk of drawing legal conclusions from general equality of men; we saw this even recently, in the slave-owning states of the North American Union.***" (Engels, *Anti Duhring*)

श्यामसुन्दर उत्सादन की पूरी अवधारणा को ही नहीं समझते और इसीलिए वह यह भी नहीं समझ पाते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था शोषणकारी समाज की पराकाष्ठा के तौर पर न सिर्फ सामन्ती बल्कि पिछली तमाम शोषक व्यवस्थाओं के निश्चित रूपों और संरचनाओं को अपने साथ सहयोजित और समायोजित कर सकती है और करती रही है। हमने ऊपर मार्क्स के उद्धरण के ज़रिये भी इस तथ्य को प्रदर्शित किया है। इस पर दुनिया भर में इतने अध्ययन हुए हैं, जिनकी कोई गिनती नहीं है। लेकिन श्यामसुन्दर जानबूझकर हमारे मुंह में यह बात डालने का प्रयास करते हैं कि हमने अमेरिकी दास प्रथा को ग्रीको रोमन दास प्रथा का निषेध का निषेध करार दिया है। हम पाठकों से इतना ही कहेंगे कि हमारे पिछले जवाब को फिर से सन्दर्भित करें।

निषेध का निषेध का नियम और श्यामसुन्दर की त्रयीवादी समझदारी का केंचुल नृत्य

अब एक बार फिर से यहां पर हम श्यामसुन्दर के निषेध का निषेध की समझदारी की ओर लौटते हैं, **क्योंकि पृष्ठ 78 से 81 के बीच इन्होंने अपनी इस "समझदारी" का ऐसा प्रदर्शन किया है कि अपनी मूर्खता के विषय में हर प्रकार के सन्देह को समाप्त कर दिया है!** पहले तो श्यामसुन्दर बिना समझे एंगेल्स और लेनिन को उद्धृत करते हैं और फिर उनके उद्धरणों की हास्यास्पद रूप से ग़लत व्याख्या करते हैं।

उन्हें लगता है कि थीसिस, एण्टीथीसिस व सिंथेसिस तीन चरण या तीन मंजिलें हैं। देखिये कि श्यामसुन्दर क्या लिखते हैं: "तो फिर वे जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की इस परिघटना के सम्बन्ध में ***वाद, प्रतिवाद और संवाद के तीन चरणों*** को प्रमाणित करने से भाग क्यों रहे हैं?" और देखें: "यानी जब 'वाद' के निषेध से 'प्रतिवाद' और फिर इस 'प्रतिवाद' के निषेध से 'संवाद' की मंजिल आ जाती है, तो यह 'संवाद' एंगेल्स के शब्दों में पुराने का अर्थात् 'वाद' का उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन और लेनिन के शब्दों में 'प्रतीतिगत दुहराव' कहलाता है।" मतलब कि एक मंजिल वाद की होती है, फिर उसका निषेध होता है और दूसरी मंजिल आती है, यानी प्रतिवाद की और फिर प्रतिवाद का भी निषेध हो जाता है तो तीसरी मंजिल आती है, जो कि संवाद की होती है, जिसमें कि वाद की मंजिल का प्रतीतिगत दुहराव होता है। **इसे ही हेगेल के थीसिस, एण्टीथीसिस और सिंथेसिस के 'त्रयी' की समझदारी कहा जाता है, जो कि सिंथेसिस के रूप में नये के उद्भव को थीसिस और एण्टीथीसिस के अन्तरविरोध के परिणाम के तौर पर नहीं देखते हैं, बल्कि तीन अलग चरणों के रूप में देखते हैं।** मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ ने हमेशा इस समझदारी का विरोध किया था। इसका कारण यह है कि जब थीसिस, एण्टीथीसिस और सिंथेसिस को तीन अलग चरणों के रूप में देखा जाता है तो परिवर्तन का स्रोत आन्तरिक अन्तरविरोध नहीं रह जाता है। स्वयं हेगेल ने स्पष्ट किया था कि ये तीन चरण नहीं हैं और इनके तीन चरणों का दिखना पूरे मसले की महज़ कृत्रिम और सतही प्रस्तुति है। अगर इस त्रयीवादी समझदारी को लागू करें तो फिर तीन ही चरणों की ही बात नहीं होती है क्योंकि हर थीसिस भी वास्तव में अपने पहले के चरण के सापेक्ष एक सिंथेसिस होती है; इसलिए आप चार, पांच या दस चरणों की भी बात कर सकते हैं। मिसाल के तौर पर, त्रयी (triad) की समझदारी के चलते श्यामसुन्दर 'तीन चरणों' पर अटक गये हैं और यह भी समझ लेना चाहते हैं कि मानव समाज पांच प्रमुख चरणों से यानी आदिम समाज, दास समाज, सामंती समाज, पूंजीवादी समाज और समाजवादी समाज और फिर अन्त में कम्युनिस्ट समाज तक किस प्रकार संक्रमण करता है। आप त्रयी की समझदारी से, यानी कि वाद, प्रतिवाद और संवाद को तीन चरण समझने की समझदारी से यह कभी समझ ही नहीं सकते। **सिर्फ एक रूप में ही इसे समझा जा सकता है, यदि संवाद को स्वयं वाद और प्रतिवाद के अन्तरविरोध के परिणाम के तौर पर समझा जाये।** यही कारण है कि श्यामसुन्दर एंगेल्स के जौ के दाने के उदाहरण, या लेनिन द्वारा assertion, negation और फिर unity with the asserted के उदाहरण और फिर लेनिन द्वारा पार्टी में वाद, प्रतिवाद और संवाद के ज़रिये नये धरातल पर एकता स्थापित होने के उदाहरणों को भी नहीं समझ पाए हैं। लेकिन उससे पहले कुछ उद्धरणों से समझते हैं कि श्यामसुन्दर की त्रयीवादी समझदारी किस कदर दरिद्र है। चूंकि श्यामसुन्दर पांच महान शिक्षकों के स्रोतों को समझ ही नहीं पाते हैं *(क्योंकि ये महान शिक्षक पाठ्यपुस्तक नहीं लिख रहे थे, और श्यामसुन्दर को अभी जरूरत है कि कुछ सरल पाठ्यपुस्तकें पढ़कर मार्क्सवाद को समझें)*, इसलिए हम फिर से 1931 की सोवियत पुस्तक 'ए टेक्स्टबुक ऑफ मार्क्सिस्ट फिलॉसफी' से उद्धृत करेंगे, जिसमें इन सभी उद्धरणों को बड़े शानदार तरीके से समझाया गया है। इसके बाद हम मार्क्स और एंगेल्स को भी उद्धृत करेंगे, ताकि औंधी खोपड़ी के भीतर भी कुछ वाद, प्रतिवाद और संवाद हो सके। आइये पहले 1931 की इस सोवियत पाठ्यपुस्तक से इन नुक्तों को समझते हैं। आइये देखें:

"In the development of a plant the appearance of its fruits, its seeds, emerges as a negation of it, i.e., as a negation of the negation of the original seed. **But seeds are brought forth by the development of the plant; they make up a moment of the plant, but such a moment as denotes the end of the development of the plant.** The plant withers, the seed remains. *(इसी बात को आप सामन्ती इजारेदारी के दौर में प्रत्यक्ष उत्पादकों की छोटे पैमाने की निजी सम्पत्ति और प्रतिस्पर्द्धा के पैदा होने पर भी लागू कर सकते हैं, जो कि सामन्ती इजारेदारी के विकास की*

प्रक्रिया में ही एक क्षण है, लेकिन उसके एण्टीथीसिस के तौर पर मौजूद है और उसके अन्त की नुमाइन्दगी करती है; लेकिन श्यामसुन्दर इसे एक दूसरा कालिक चरण समझते हैं-लेखक) The cycle of development is finished.

"Kautsky is perplexed: what is this negation of negation when we have *simultaneously,* both the plant (the negation of the seed) and the new seeds (the negation of the negation)? As a mechanist, he would like to separate these two stages by an absolute interval in time, not understanding that in actual development the destruction of the old is also the emergence of the new." *(क्या श्यामसुन्दर की ठीक यही हालत नहीं है? -लेखक)*

बेचारे श्यामसुन्दर की यही समस्या है, हालांकि बेहद-बेहद निम्न स्तर पर। उन्हें लगता है कि वाद, प्रतिवाद और संवाद तीन भिन्न कालिक अवस्थाएं हैं। यही कारण है कि वह त्रयी के यांत्रिकतावादी सिद्धान्त पर पहुंच जाते हैं। **सच्चाई यह है कि हर थीसिस स्वयं थीसिस व एण्टीथीसिस में बंटती है, इसी प्रकार हर एण्टीथीसिस भी स्वयं थीसिस और एण्टीथीसिस में बंटती है और हर सिंथेसिस भी थीसिस और एंटीथीसिस में बंटती है। इस बात को मैंने ऊपर भी समझाया है और मार्क्स के सन्दर्भ से इसे स्पष्ट भी किया है। लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर पाठ्यपुस्तकों से ही समझने के योग्य हैं (और वे पढ़ते भी हैं, तो संशोधनवादी दौर की पाठ्यपुस्तकें पढ़ते हैं) इसलिए हम उन्हें सोवियत संघ के समाजवादी दौर की पाठ्यपुस्तक से समझाने का प्रयास करते हैं:**

"Materialist dialectics besides this stresses ***the relativity of the stages in the development of processes; every stage, be it thesis, antithesis or synthesis, by being a special form of the impulsive contradiction takes on the forms of thesis and antithesis and completes its development in synthesis.*** *Therefore the whole point of the problem of negation of negation lies just in this very problem of the emergence of the new law-system through development of the contradictions of the foregoing processes of actuality."*

यानी कि हर थीसिस, एण्टीथीसिस या सिंथेसिस स्वयं थीसिस और एंटीथीसिस में विभाजित होती है और उनके बीच का अन्तरविरोध ही एक *नये चरण* के रूप में विकसित होता है, जिसे हम सिंथेसिस कहते हैं। लेकिन यह सिंथेसिस स्वयं नये स्तर के आगे के विकास के लिए एक थीसिस की भूमिका निभाता है और स्वयं थीसिस और एण्टीथीसिस में विभाजित होता है। यही विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है और इसी में विपरीत तत्वों की एकता और संघर्ष के नियम के विस्तार और अभिव्यक्ति के तौर पर हम निषेध का निषेध के नियम को काम करते हुए देख सकते हैं। जो इस अन्तरविरोध के नियम को नहीं समझ पाते हैं वे इसे त्रयी या तीन चरणों के सिद्धान्त के रूप में देखते हैं; ऐसे ही यांत्रिक कठमुल्लावादियों के बारे में उपरोक्त पुस्तक में लिखा गया है:

"By being unable either to state or to resolve the problem of historical synthesis, mechanistic methodology finds it impossible to disclose the essence of the law of negation of negation; this law is reduced to a "triad". This is characteristic of all those who do not find themselves in sympathy with dialectic."

यही समस्या सोवियत संघ में बुखारिन और साराब्यानोव की थी। इनके बारे में ही इसी पुस्तक में लिखी गयी ये पंक्तियां यहां विशेष तौर पर अहम हैं (हालांकि हम श्यामसुन्दर की तुलना बुखारिन या साराब्यानोव से करने की ग़लती नहीं कर रहे हैं, क्योंकि एक यांत्रिकतावादी भटकाव के शिकार वामपंथियों की गलती होती है और एक ग़लती *बस सीधे न समझ पाने की मूर्खतापूर्ण गलती* होती है):

"Sarabyanov, too, takes the same mechanistic position; he demonstrates the existence of two triads in Hegel's philosophy. A triad is expressed in the following way:

"(1) proposition,

"(2) negation of proposition,

"(3) negation of the negation of the proposition.

"With this triad, Sarabyanov is fully in accord after giving it a mechanistic trim."

श्यामसुन्दर भी तीन चरणों के सिद्धान्त पर अटक गये हैं, जबकि ये केवल अवधारणात्मक श्रेणियों के रूप में तीन चरण हैं; कालिक या स्थानिक तौर पर इन्हें तीन चरणों में बांटना एक कठमुल्लावादी यांत्रिक पद्धति की निशानी है। **यह पद्धति यह समझने में नाकाम रहती है कि थीसिस स्वंय एंटीथीसिस के साथ ही संघर्षरत होती है और इस अन्तरविरोध के समाधान के रूप में ही सिंथेसिस पैदा होती है। एक हमेशा दो में विभाजित होता है और इन दो पहलुओं के बीच संघर्ष के फलस्वरूप नयी मंजिल सामने आती है, जो कि स्वयं दो में विभाजित होती है। इसी प्रक्रिया से नया एक छलांग के जरिये पैदा होता है और यह प्रक्रिया जारी रहती है। तीन, चार या पांच चरणों का प्रश्न ही नहीं है।** एंगेल्स लिखते हैं:

"A true, natural, historic and dialectical negation is (formally) the initial impulse of every development -- *the division into opposites, their conflict and resolution, in which (in history, partly, in thought, fully), on the basis of actual experience, the starting point reached anew, but at a higher stage."* (Engels, *Anti-Duhring*)

यहां एंगेल्स ठीक यही पहलू समझा रहे हैं कि वाद का प्रतिवाद कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि वाद के ही वाद और प्रतिवाद में विभाजित होने से आता है और संवाद भी कहीं बाहर से नहीं आता है बल्कि वाद और प्रतिवाद के इसी संघर्ष के फलस्वरूप पैदा होता है, जिसमें वाद और प्रतिवाद की आलोचना के फलस्वरूप उनके

कुछ निश्चित पहलू नये रूप में उत्सादित होते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि पौधे का निषेध बीज से होने का यह मतलब नहीं कि यह कालिक रूप में दो चरण हैं; ये केवल अवधारणात्मक रूप में विकास के दो चरणों को दिखलाते हैं, जैसा कि हमने ऊपर इस मार्क्सवादी दर्शन की सोवियत पाठ्यपुस्तक में एंगेल्स के जौ के दाने के उदाहरण को समझाते हुए बताया गया है। आगे इसी बात को विस्तृत तौर पर समझाते हुए इस पाठ्यपुस्तक में लिखा गया है:

"But how is a return to the beginning possible? ***It is possible only in virtue of the fact that the final point is the completion of the processes within the given law-system and becomes the point of departure of a new law-system, or of a new cycle...Each particular stage in the processes indicated itself disintegrates (because of the development of internal contradictions) into the more partial thesis and antithesis and finds a new completion in a synthesis that raises the whole system to a higher stage...*****Because of the fact that each phenomenon in the course of its development brings forth its own opposite and *this latter* is in turn converted into *its* opposite** *(जिसका अर्थ है कि अन्तरविरोध में विपरीत पहलू अपने स्थान बदल लेते हैं - लेखक)*, **there is a regression to a number of the features of the external form of the initial stage, now enriched by all the succeeding development."**

इसी बात को एंगेल्स ने सान्द्र रूप में कहा है, जैसा कि सभी महान शिक्षक अपनी रचनाओं में करते हैं क्योंकि उन्होंने इन्हें लिखते वक्त सपने में भी नहीं सोचा था कि कैसी-कैसी औंधी खोपड़ियां इसे पढ़ेंगी और इससे क्या-क्या अर्थ निकाल लेंगी! एंगेल्स कहते हैं:

"Processes which are antagonistic in their nature, contain in themselves a contradiction, ***a conversion of a known extreme into its opposite and finally as the basis of all--a negation of negation."*** (Engels, *Anti-Duhring)*

एंगेल्स यहां यही बता रहे हैं कि हर प्रक्रिया या वस्तु दो में विभाजित होती है; ये दो विपरीत एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं (जिसे श्यामसुन्दर ने एक चरण के दूसरे चरण के विपरीत होने के रूप में समझ लिया है!) और उनके अन्तरविरोध के फलस्वरूप निषेध का निषेध होता है जो कि हर परिवर्तन का आधार है (लेकिन श्यामसुन्दर को लगता है कि निषेध का निषेध सारे परिवर्तनों पर लागू नहीं होता, कुछ-कुछ पर लागू होता है!)। श्यामसुन्दर एंगेल्स और लेनिन से जो भी उद्धरण पेश करते हैं, उसकी एक यांत्रिकतावादी व्याख्या करते हैं जो कि हेगेलीय त्रयी के सिद्धान्त पर अटकी रह जाती है। विडम्बना की बात है उनके द्वारा पेश हरेक उदाहरण में सिंथेसिस का जन्म थीसिस और एण्टीथीसिस के अन्तरविरोध के फलस्वरूप होता है, जिसे औंधी खोपड़ी समझ नहीं पाती है। चाहे वह जौ के दाने का तथा समानता से असमानता और वापस समानता तक की यात्रा का एंगेल्स द्वारा दिया गया उदाहरण हो (क्योंकि समानता के बाद असमानता कहीं बाहर से नहीं आती बल्कि

समानता की ही मूल थीसिस समानता और असमानता की थीसिस और एण्टीथीसिस में विभाजित होती है और उनके संघर्ष के नतीजे के तौर पर उच्चतर स्तर की समानता एक सिंथेसिस के रूप में प्रकट होती है) या फिर लेनिन द्वारा आंतरिक पार्टी संघर्ष का उदाहरण हो।

लेनिन के आंतरिक पार्टी संघर्ष के द्वन्द्वात्मक रूप से विकसित होने की श्यामसुन्दर ने फिर से त्रयीवादी व्याख्या की है, जिसके अनुसार पहले एक वाद उपस्थित था, फिर प्रतिवाद आ गया और फिर उसके परिणामस्वरूप संवाद स्थापित हो गया, यानी नये स्तर पर वैचारिक एकता स्थापित हो गयी। **इसकी हम स्वयं व्याख्या करते लेकिन 1931 की सोवियत पाठ्यपुस्तक में इसकी इतनी सटीक व्याख्या है, कि हमें तकलीफ उठाने की कोई आवयश्कता नहीं है। इसमें यह बताया गया है कि मूल एकता ही एकता और असहमति में विभाजित हुई; एकता का पहलू असहमति के पहलू के सापेक्ष गौण हो गया, इनके जारी अन्तरविरोध के फलस्वरूप एक नयी एकता, एक नये स्तर पर स्थापित हुई, जिसमें पुरानी एकता और असहमति, दोनों के ही आलोचित पहलू एक सिंथेटिक रूप में मौजूद थे।** आइये देखते हैं कि इस पुस्तक में लेनिन के 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' के उसी उद्धरण की क्या व्याख्या की गयी है जिसे समझने में श्यामसुन्दर की थुक्काफजीहत हो गयी है!

"Lenin in *One Step Forward, Two Steps Back*, vividly discloses the dialectical character of the Party conflict at the Second Congress of the Party, between the revolutionary and opportunist wings of the Party. Lenin analyses the basic groups at the Congress -- they are "Iskra" supporters of the majority, of the minority, and of the centre, and the anti-"Iskra" group. **He shows how according *to the measure of the intensification and growth of disagreement* on principle the composition of the majority and minority at the Congress was changed.** The original majority at the Congress united all the "Iskra"-supporters and a large part of the centre against the anti-"Iskra" group in the vote on questions not dealing with fundamental principles. On questions of organisation, all the "Iskra" supporters voted against the centre and the anti-"Iskra" group. Later, on quite a number of questions, ***there began a movement*** of part of the "Iskra" supporters, both of the majority and minority, to the side of the anti-"Iskra" group and the centre; so the majority became a minority. The voting on the first paragraph of the program sharply stressed the division into revolutionary and opportunist wings. Against the revolutionary wing, voted the anti-"Iskra" group, an important part of the centre, almost all the minority supporters of "Iskra" and the vacillating members of the pro-"Iskra" majority. *The majority became the minority and the minority the majority.* At last, with the departure of the anti-"Iskra" group from the Congress, the vote on the election of the central committee gave the victory to the majority group of the "Iskra"

supporters against the minority groups and the centre and this denoted the final division of the Congress into its majority and minority."

इसके बाद यह पुस्तक लेनिन का वही उद्धरण प्रस्तुत करती है। **लेकिन जैसा कि आप उपरोक्त व्याख्या में देखते हैं कि वाद, प्रतिवाद और संवाद के बीच यह रिश्ता नहीं होता कि वे तीन कालिक चरण होते हैं; यानी ऐसा नहीं होता कि वाद नष्ट हो जाता है फिर प्रतिवाद पैदा होता है और जब प्रतिवाद नष्ट हो जाता है तो संवाद पैदा होता है, जैसा कि श्यामसुन्दर को लगता है। निषेध का यह अर्थ ही नहीं होता, जोकि श्यामसुन्दर की समझ में ही नहीं आया है। इस विवरण में ठीक यही बात समझाई गयी है कि वाद के उपस्थिति होते ही प्रतिवाद भी उपस्थित होता है; दरअसल, बिना प्रतिवाद के वाद को परिभाषित करना भी मुश्किल होगा। जब तक समाज में कोई असमानता नहीं थी, तब तक कोई समानता को भी परिभाषित नहीं कर सकता था; इस स्थिति को बाद के प्रभाव से (retrospectively या post-festum) ही समानता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जबकि समाज में असमानता के तत्व भी पैदा हो चुके हों। जब तक ऐसे तत्व ही नहीं थे, तब तक समानता की कोई determinate व्याख्या ही असम्भव थी। इसीलिए हर assertion या determination एक negation भी होता है, जैसा कि स्पिनोज़ा ने कहा था और मार्क्स और एंगेल्स ने दुहराया था। कोई वस्तु क्या है, यह बताने के लिए यह अनिवार्य होता है कि यह बताया जाय कि वह क्या नहीं है। इसीलिए हर वस्तु या प्रक्रिया या हर यथार्थ हमेशा विपरीत तत्वों की एकता रूप में ही प्रकट होता है।** पार्टी के भीतर विचारधारात्मक संघर्ष में भी बिना प्रतिवाद के वाद नहीं होता, बल्कि वाद अपने प्रतिवाद को स्वयं ही उपस्थित कर देता है, जैसा कि हमने ऊपर एक उद्धरण में देखा है। **इसलिए वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से ही संवाद पैदा होता है, अन्यथा संवाद में मौजूद संश्लेषण की व्याख्या किसी न किसी बाह्य स्रोत से करनी होगी। यहां भी लेनिन यही दिखाते हैं कि वाद स्वयं दो में विभाजित होता है और फिर वाद और प्रतिवाद के संघर्ष के परिणामस्वरूप ही संवाद पैदा होता है। लेकिन श्यामसुन्दर ने यहां भी अपनी त्रयीवादी समझदारी को ठेल दिया है और वाद, प्रतिवाद और संवाद की तीन अलग कालिक चरणों के रूप में व्याख्या की है, जिसके अनुसार पहले वाद नष्ट हो जाता है तब प्रतिवाद पैदा होता है और जब प्रतिवाद नष्ट हो जाता है तो संवाद पैदा होता है!**

और इसी मूर्खतापूर्ण समझदारी को जाति व्यवस्था पर लागू करने के लिए वह हमसे ज़ोर-ज़बर्दस्ती करने का भी शर्मनाक प्रयास करते हैं! औंधी खोपड़ी के ऐसे ही कमाल होते हैं। देखिये वह क्या लिखते हैं: "अब, जब अभिनव सिन्हा यह कहते हैं कि 'वर्तमान जाति व्यवस्था' अतीत की जाति व्यवस्था का निषेध का निषेध है ***तो उन्हें पहले तो यह दिखाना होगा कि अतीत की जाति व्यवस्था (वाद) का निषेध हो गया था यानी उसका अस्तित्व मिट गया था और उसका स्थान जाति व्यवस्था के प्रतिवाद ने ले लिया था, जो जाति व्यवस्था का निषेध था। और फिर उन्हें यह दिखाना होगा कि जाति व्यवस्था के उस प्रतिवाद के निषेध द्वारा 'वर्तमान जाति व्यवस्था' (संवाद) यानी वाद की उच्चतर स्तर पर पुन: स्थापना हुई है...जैसा कि अभिनव सिन्हा लिखते हैं तो फिर वे जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की इस परिघटना के सम्बन्ध में वाद, प्रतिवाद और संवाद के तीन चरणों को प्रमाणित करने से भाग क्यों रहे हैं?***"

माने कि यह कैसी बेहूदा ज़बर्दस्ती है! हम आपकी मूर्खतापूर्ण त्रयीवादी समझदारी लागू करने के लिए बाध्य थोड़े ही हैं! वह आप लागू करिये! <u>जैसा कि प्रत्यक्ष है, श्यामसुन्दर को निषेध का निषेध का नियम समझ में</u>

ही नहीं आया है। लेकिन आइये थोड़ा मनोरंजन करते हैं और उनकी इस समझदारी को समाज विकास के चरणों पर लागू करके देखते हैं, माने कि सिर्फ मज़े के लिये! अगर उनकी समझदारी को लागू किया जाय, तो इसका अर्थ होगा कि सामन्तवाद (वाद) का निषेध पूंजीवाद (प्रतिवाद) है, सामन्तवाद नष्ट हो जाता है; फिर पूंजीवाद (प्रतिवाद) का निषेध कर समाजवाद आता है और वह सामन्तवाद को उच्चतर स्तर पर पुन: स्थापित करता है! और इसी नियम से यदि पूंजीवाद को वाद माना जाय तो कम्युनिस्म उच्चतर स्तर पर पूंजीवाद की स्थापना है! देखिये, आप लोग हंसिये मत! हम बस श्यामसुन्दर के निषेध का निषेध की समझदारी को समाज विकास के चरणों पर लागू कर रहे हैं। इसमें हमारी क्या ग़लती है!? इसलिए हंसिये मत!

हमने ऊपर दिखलाया है कि जाति व्यवस्था के उत्सादन के ज़रिये अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों के साथ विकसित होने का क्या अर्थ है। **यदि समाज निषेध का निषेध के ज़रिये विकसित होता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि समाज नष्ट हो जाता है, बल्कि एक विशेष प्रकार के समाज का निषेध होता है। उसी प्रकार जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध से विकसित होने का अर्थ यह नहीं है कि हम यह दिखलाने को बाध्य हों कि जाति व्यवस्था नष्ट हो गयी और फिर उच्चतर स्तर पर प्रकट हो गयी। इसका अर्थ है कि एक विशिष्ट और निश्चित रूप में (determinate form) में जाति व्यवस्था का निषेध हो गया और उसने अगले चरण में एक नया रूप धारण किया। यही बात आप निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति से लेकर निजी सम्पत्ति के विकास के आखिरी चरण यानी पूंजीवाद तक के दौर पर लागू कर सकते हैं, जबकि निजी सम्पत्ति कई रूपों से होकर गुज़रती है और हर चरण में उत्पादक शक्तियों के विकास और उत्पादन सम्बन्धों के रिश्तों के अनुसार नया रूप धारण करती है, जैसा कि मार्क्स ने हमारे द्वारा उपरोक्त उद्धृत एक कथन में कहा है।** किसी भी प्रक्रिया या वस्तु के जीवन काल में उसके निषेध का निषेध द्वारा विकास का यही अर्थ होता है, जो थीसिस, एण्टीथीसिस और सिंथेसिस की अपनी त्रयीवादी समझदारी के कारण श्यामसुन्दर के ऊपर से गुजर गया है, और वह फिर चकित हिरणी के समान चारों ओर ताक रहे हैं, कि यह हुआ क्या है!

मज़ेदार बात यह है कि लेनिन के दो उद्धरण श्यामसुन्दर पेश करते हैं जो कि ठीक इस त्रयीवादी समझदारी का खण्डन करते हैं, लेकिन श्यामसुन्दर के ऊपर से बाउंसर के बाद बाउंसर चले जा रहे हैं! देखिये वह उद्धरण क्या है:

"...From assertion to negation -- from negation to 'unity' with the asserted -- without this dialectics becomes empty negation, a game, or scepsis."

इसका अर्थ श्यामसुन्दर ने अपने त्रयीवादी दिमाग़ से यह लगाया है कि पहले assertion आता है, फिर negation आता है, जो कि assertion को नष्ट कर देता है और फिर negation का negation आता है जो कि asserted के साथ एकता को स्थापित कर देता है! **इन महोदय को यह भी नहीं पता कि हर assertion स्वयं अपने negation को अपने भीतर लिये हुए होता है, क्योंकि उसके बिना उस assertion को कोई निश्चित रूप मिल ही नहीं सकता है, वह assertion बन ही नहीं सकता है। यह assertion ही अपने विपरीत, यानी अपनी एण्टीथीसिस को जन्म देता है और उसके साथ अन्तरविरोध के नतीजे के तौर पर ही synthesis पैदा होती है जो कि प्रतीतिगत तौर पर थीसिस का दुहराव होती है, मगर एण्टीथीसिस द्वारा निषेध से समृद्ध होकर।**

<u>ये तीन कालिक चरण नहीं हैं।</u> लेनिन के पूरे उद्धरण को पढ़ा होता, तो *शायद* श्यामसुन्दर के समझ में कुछ आया होता; यह है पूरा उद्धरण:

"In relation to the simple and original, “first,” positive assertions, propositions,etc., the “dialectical moment,” i.e.,scientific consideration, **demands the demonstration of difference, connection, transition. Without that the simple positive assertion is incomplete, lifeless, dead**. In relation to the “second,” negative proposition, the “dialectical moment” demands the demonstration of “unity,” i.e., of the connection of negative and positive, the presence of this positive in the negative. From assertion to negation—from negation to “unity” with the asserted—without this dialectics becomes empty negation, a game, or scepsis."

जैसा कि आप देख सकते हैं लेनिन पहले ही स्पष्ट कर देते हैं कि बिना नकारात्मक assertion के सकारात्मक assertion अधूरा है, यानी कि immediate है, जिसका दार्शनिक भाषा में अर्थ होता है unmediated. वास्तव में, हेगेल के लिए केवल एक ही चीज़ immediate होती है, वह है Nothing; और Nothing केवल एक तार्किक उपकरण है यह दिखलाने के लिए कि हर चीज़ mediated होती है, यानी उसके चरित्र और गुणों का निर्धारण तभी किया जा सकता है, जबकि यह बताया जाय कि वह क्या नहीं है। यहां भी हम द्वन्द्ववाद के प्रयोग को देख सकते हैं कि mediated को प्रदर्शित करने के लिए Nothing की अवधारणा एक तार्किक उपकरण के रूप में अनिवार्य है। हर assertion कि 'यह है' तभी कोई अर्थ रखता है कि वह साथ-साथ ही यह अर्थ अन्तर्निहित तौर पर रखे कि वह बताये कि 'क्या नहीं है'। यही कारण है कि हर determined वस्तु या प्रक्रिया हमेशा दो में विभाजित होती है और उनके अन्तरविरोध से ही वह वस्तु या प्रक्रिया एक नये चरण में प्रवेश करती है, जिसका चरित्र ही सिंथेटिक होता है। वहां यह प्रक्रिया रुकती नहीं बल्कि सिंथेसिस एक नये विपरीत तत्वों की एकता को हमेशा, पहले से ही (always-already) अपने अन्दर समेटे होती है, यही एकता उस पूर्णता को संघटित करती है। लेकिन लेनिन द्वारा खुद स्पष्ट किये जाने पर भी श्यामसुन्दर की त्रयी पूर्णत: उनके पावन मस्तिष्क में सुरक्षित रहती है और वह लेनिन के उद्धरण की ग़लत व्याख्या पूरे आत्मविश्वास के साथ हमारे सामने पेश करते हैं। **लेकिन यह सबसे मज़ेदार वाला उदाहरण नहीं था। वह हम आपके द्वारा इस वायदे के साथ आपके सामने पेश करेंगे कि आप हंसेंगे नहीं। क्योंकि बाद में लोग हम पर इल्जाम लगाते हैं कि हमने दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र की खिल्ली उड़ाई, जबकि हमारा तो बुनियाद आग्रह ही यही है कि हमें ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

देखिये श्यामसुन्दर लेनिन का क्या उद्धरण पेश करते हैं: "This negation of the negation is the third term, says Hegel.. but its can also be taken as the fourth...counting two negations." इसके बारे में श्यामसुन्दर की व्याख्या देखें: "और अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद के साथ यही खेल खेल रहे हैं क्योंकि उन्हें तो इतना भी नहीं पता कि वाद, प्रतिवाद और संवाद क्या होते हैं...हेगेल ने संवाद (सिंथेसिस) यानी थर्ड टर्म को ही निषेध का निषेध बताया है।" ***(!!!)*** हद हो गयी! **इसीलिए हमने पिछले पत्र में कहा था कि सबसे**

ऊबाऊ मूर्ख वह होता है, जिसे पता नहीं होता कि वह मूर्ख है। लेकिन यहां हमारा सामना एक ऐसे मूर्ख से है, जिसे न सिर्फ यह नहीं पता कि वह मूर्ख है, बल्कि उसे एक हास्यास्पद पाण्डित्यदम्भ भी है। हे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र! लेनिन यहां संवाद के थर्ड टर्म होने की हिमायत नहीं कर रहे हैं, बल्कि हेगेल के वाद, प्रतिवाद और संवाद की इसी त्रयीवादी समझदारी की ग़लती को दर्शाते हुए बता रहे हैं कि यदि समाज या प्रकृति के समूचे इतिहास के विकास को तीन चरणों में हो रहा दिखाना हो, तो थर्ड टर्म ही क्यों, फोर्थ टर्म की बात की जा सकती है। लेनिन अपनी दार्शनिक नोटबुक्स में ही इस बात को स्पष्ट भी कर देते हैं कि अन्तरविरोध का नियम ही यह दिखा देता है कि निषेध का निषेध की यह थर्ड टर्म वाली त्रयीवादी समझदारी ग़लत है। लेकिन फिर वही बात आ जाती है; हमारे दोन किहोते कोई पुस्तक पूरी नहीं पढ़ते हैं, वरना उन्होंने यह भी पढ़ा होता:

"*This negation of the negation is the third term, says Hegel (343)—**"if number is applicable"**—but it can also be taken as the fourth (Quadruplicität), (344) counting two negations...*

"That this unity, as well as the whole form of the method, ***is a triplicity is wholly, however, the merely superficial and external side of the manner of cognition"*** (344) — but, he says, that is already "an infinite merit of Kant's philosophy" that it at least (even if ohne Begriff - *without any concept*) demonstrated this.

"***Formalists, it is true, have also seized upon triplicity, and have held fast to its empty framework; and this form has been rendered tedious and of ill-repute by the shallow misuse and the barrenness of modern so-called philosophic construction, which consists simply in attaching the formal framework without concept and immanent determination to all sorts of matter and employing it for external arrangement.*** But its inner value cannot be diminished by this vapid misuse, and it must still be deemed of high value that the outward form of the rational has been discovered, albeit not understood." (344-345)

The result of the negation of the negation, this third term is "not a quiescent third term, but, as this unity" (of contradictions), "is self-mediating movement and activity..." (345)"

हाशिये पर लेनिन यह टिप्पणी लगाते हैं: "the triplicity of dialectics is its external superficial side" और उसके बाद यह टिप्पणी भी हाशिये पर करते हैं : "Hegel savagely attacks formalism, tedious and idle play with dialectics." यहां पर हम पहले उद्धरण में स्वयं हेगेल के विचार

देखते हैं कि वह त्रयीवादी और थर्ड टर्म की समझदारी को किस प्रकार खारिज करते हैं और दिखलाते हैं कि जो भी लोग सिंथेसिस को थर्ड टर्म समझते हैं, वह किसी भी वस्तु के भीतर मौजूद थीसिस और एंटीथीसिस के संघर्ष के नतीजे के तौर पर उसकी आत्मगति को नहीं समझ सकते। यह थर्ड टर्म नहीं होती, बल्कि किसी भी वस्तु या प्रक्रिया के भीतर थीसिस और एण्टीथीसिस के बीच मौजूद संघर्ष का परिणाम होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि मार्क्स ने मुद्रा का विश्लेषण करते हुए बताया था कि माल में उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के बीच मौजूद एंटीथीसिस के परिणामस्वरूप मुद्रा की सिंथेसिस अस्तित्व में आती है और पूंजी की गति की उत्तरोत्तर विकसित होती प्रक्रिया में स्वयं मुद्रा और माल के बीच एक एंटीथीसिस विकसित हो जाती है, जो कि माल रूप के साथ जुड़ी होती है और जिसका समाधान माल रूप के समाप्त होने के साथ ही होता है।

लेकिन बेचारे दोन किहोते को अपनी त्रयीवादी समझदारी साबित करने के लिए एक जगह 'थर्ड टर्म' लिखा हुआ दिखायी दिया और उसने बिना सोचे-समझे इसे लपक लेने के चक्कर में अपनी ही थुक्का-फजीहत करा ली। इसी लिए हम कॉमरेड श्यामसुन्दर से हमेशा कहते हैं कि हर पुस्तक को पूरा पढ़ें, उद्धरण छांटने के चक्कर में सन्दर्भ अनाथ रह जाता है और बाद में शर्मिन्दगी का सामना करना पड़ता है।

जैसा कि हम देख सकते हैं, श्यामसुन्दर ने यह भीष्म-प्रतिज्ञा ली है कि चाहे जो हो जाए, वह निषेध का निषेध के नियम को नहीं समझेंगे। हमारे पिछले ही जवाब में हमने निषेध का निषेध के नियम को हेगेल और मार्क्स को उद्धृत करके स्पष्ट करने का प्रयास किया था। लेकिन वह औंधी खोपड़ी के लिए बाउंसर साबित हुए; इसीलिए हमने अपने इस आखिरी जवाब में महान शिक्षकों के अलावा अच्छी सोवियत क्रांतिकारी दौर की पाठ्यपुस्तकों से भी उद्धरण पेश किये हैं, जो कि वहां युवाओं और छात्रों को मार्क्सवादी दर्शन से परिचित कराने के लिए लिखी गयी थीं। लेकिन जब किसी ने भीष्म प्रतिज्ञा ही ले रखी हो कि वह नहीं समझेगा, तो फिर दीवार को धक्का मारने का कोई अर्थ नहीं है। अब हम आते हैं अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा के उत्सादन और निषेध का निषेध के प्रश्न पर।

श्यामसुन्दर की एक और नयी उत्पादन पद्धति: 'अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा'

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "हम अभिनव सिन्हा को बताना चाहते हैं कि मार्क्स को केवल इतना ही स्पष्ट नहीं है कि अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम प्राचीन युग की दास प्रथा नहीं है, बल्कि उन्हें यह भी स्पष्ट है कि अमरीकी पूंजीवादी दास श्रम प्राचीन युग की रोमन दास प्रथा के निषेध का निषेध भी नहीं है, जैसा कि अभिनव सिन्हा उसे सिद्ध करने की कुचेष्टा कर रहे हैं।" इसके बाद श्यामसुन्दर फिर से अपनी त्रयी को बीच में ले आते हैं और कहते हैं: "अपने इस कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्राचीन रोमन दास प्रथा को 'वाद' मानकर उसका 'प्रतिवाद' बताना होगा और फिर यह सिद्ध करना होगा कि पूंजीवादी दास प्रथा उस प्रतिवाद का निषेध थी यानी संवाद। अब प्रश्न यह है कि प्राचीन गुलामी व्यवस्था का निषेध अथवा प्रतिवाद क्या था? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वह सामंतवाद था। अब सवाल है कि क्या अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा सामन्तवाद का निषेध थी? नहीं। तो फिर अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा प्राचीन रोमन दास प्रथा का निषेध का निषेध (उत्सादन) कैसे हुई?" इसमें भी गज़ब बेवकूफी की बातें हैं!

पहली बात तो अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा अलग से कोई उत्पादन पद्धति नहीं थी, बल्कि अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था एक उत्पादन पद्धति थी जिसने दास श्रम को सहयोजित और समायोजित किया था। पहले हमें शक़ हुआ कि शायद श्यामसुन्दर ऐसा नहीं कह रहे होंगे कि 'अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा' एक अलग

उत्पादन पद्धति है; लेकिन अगले ही पेज पर मार्क ट्वेन के शब्दों में श्यामसुन्दर ने 'मुंह खोला और सारा शक़ दूर कर दिया': "प्राचीन रोमन दास प्रथा एक उत्पादन पद्धति थी, उसके उत्पादन के सम्बन्ध थे; अमरीकी पूंजीवादी दास प्रथा भी एक उत्पादन पद्धति थी जो अपने उत्पादन के संबंधों पर आधारित थी।" मतलब कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से अलग 'अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा' एक भिन्न उत्पादन पद्धति थी! ऐसी अन्तदृष्टि तो मार्क्स के पास भी नहीं थी!

दूसरी बात, जैसा कि हमने पहले ही जिक्र किया, हमने यह कहा ही नहीं है कि रोमन दास प्रथा का निषेध का निषेध हुआ और अमेरिकी दास प्रथा सामने आयी। हमने अपने पिछले जवाब से वह पूरा हिस्सा ऊपर उद्धृत किया है, ताकि श्यामसुन्दर के झूठ-फरेब की पोल खुल जाय। श्यामसुन्दर ने जानबूझकर एक पुतला खड़ा किया है, जिसे वह ध्वस्त कर सकें, क्योंकि असली तर्कों से निपट पाने में उनके "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की छीछालेदर हो जाती है।

तीसरी बात, हमने स्पष्ट तौर पर ऊपर दिखलाया कि अमेरिका के दक्षिण में ही एक प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था का दौर था जो कि अपनी दास प्रथा के वैधीकरण के लिए प्राचीन रोमन दास प्रथा और उसके विधिक ढांचे का ही प्रयोग करते थे। अमेरिकी दक्षिण में इस प्राक्-पूंजीवादी दौर के बारे में ही लिखते हुए मार्क्स बताते हैं कि इस दौर में दास श्रम का उपयोग केवल उपयोग मूल्यों के उत्पादन के लिए किया जाता था; जब पूंजीवादी व्यवस्था ने दक्षिण के भूभाग को भी समेकित कर लिया, तो उस दास श्रम का उपयोग जारी रहा, लेकिन अब एक दास के जीवन के ऊपर श्रम सघनता का कितना असर पड़ता है, उसे खरीदने में आये खर्चे को निकालने के लिए उसे कितनी श्रम सघनता में कितना कार्य करवाया जाय और कितने वर्ष तक जीवित रखा जाय, ताकि मुनाफा बना रहे; इन सब चीज़ों की गणना पूंजीवादी बही-खातों से की जाने लगी। **हमने अपने पिछले जवाब में भी दिखलाया था और यहां भी हम ऊपर दिखला चुके हैं कि श्रम के तमाम अस्वतन्त्र रूपों का पूंजीवादी व्यवस्था, हमेशा से ही इस्तेमाल करती रही है और ऐसे रूपों का भी जो कि न सिर्फ सामन्ती दौर में या किसी अन्य प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था के दौर में मौजूद रहे हों, बल्कि दास व्यवस्था के दौर में मौजूद रहे हों।** इन श्रम रूपों को वास्तव में सामन्तवाद ने भी अपने रूप में ढाला और उत्सादित किया था। यदि आप यूरोप में या भारत या एशिया के अन्य हिस्सों की बात करें, तो सामन्तवाद के दौर में भी दास श्रम का उपयोग किया जा रहा था; वह सामन्तवाद का दौर इसलिए था, क्योंकि अभी भूदास श्रम प्रमुख श्रम रूप बन चुका था और सामन्ती लगान अधिशेष विनियोजन का प्रमुख रूप बन चुका था। लेकिन दास श्रम को भी सामन्ती व्यवस्था ने अपने उत्पादन सम्बन्धों के चौखटे और दायरे के भीतर उत्सादित किया था। और तमाम प्राक्-पूंजीवादी श्रम रूपों को पूंजीवाद ने भी अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग रूप में उत्सादित किया और अपने भीतर समेकित किया। इसका अर्थ यदि कोई यह निकाले कि पूंजीवादी व्यवस्था प्राचीन रोमन काल की दास व्यवस्था का निषेध का निषेध है, तो यह उसके दिमाग के बारे में बहुत कुछ बताता है। **विशिष्ट श्रम रूपों का उत्सादन होने का अर्थ यह नहीं होता कि जिस व्यवस्था में वे पैदा हुए थे, उस व्यवस्था का निषेध का निषेध करके वह नया चरण आया है, जो कि उनका उत्सादन कर रहा है। लेकिन जैसा कि हमने पहले ही बताया, सन्दर्भ और सन्दर्भ चौखटा समझने की क्षमता औंधी खोपड़ी में है ही नहीं!**

चौथी बात, क्या अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था सामन्ती व्यवस्था का निषेध थी? हां, थी! श्यामसुन्दर को जो सबसे पहली बात समझ में नहीं आती है कि अमेरिका एक सेटलर कॉलोनी थी, जो कि ब्रिटिश राजतन्त्र के मातहत रहने के बाद 1776 में मुक्त हुई थी। अमेरिका के ब्रिटिश, डच, जर्मन, फ्रांसीसी, स्पैनिश सेटलर उपनिवेशवादियों ने जिस व्यवस्था और सरकार के विरुद्ध स्वतन्त्रता युद्ध लड़ा था, वह मूलत: और मुख्यत:

सामन्ती सरकारें और व्यवस्थाएं ही थीं, हालांकि ब्रिटेन में पूंजीवादी आर्थिक सम्बन्ध प्रभुत्वशाली सम्बन्ध बन चुके थे, लेकिन कारखाना व्यवस्था का दौर अभी भ्रूण अवस्था में था और राजनीतिक तन्त्र अभी पूंजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग के तत्वों के संलयन पर आधारित था, जिसमें कि भूस्वामी तत्वों का पूंजीवादी रूपान्तरण जारी था। स्पेन जिसके खिलाफ अमेरिका ने युद्ध लड़ा वह अभी सामन्ती दौर में ही था; फ्रांस में अभी बुर्जुआ जनवादी क्रांति हुई नहीं थी। **अमेरिकी क्रांति के बुनियादी सिद्धान्तों जो कि 'आज़ादी की घोषणा' और 'मनुष्य के अधिकारों की घोषणा' में सूत्रबद्ध किये गये थे और साथ ही आगे भी अमेरिकी क्रांति के नेताओं की तमाम रचनाओं, जैसे कि बेंजामिन फ्रैंकलिन की 'पूअर रिचर्ड्स एल्मानैक', एमर्सन की रचनाओं आदि में पेश किये जा रहे थे, वे मूलत: सामन्तवाद-विरोधी जनवादी क्रांति के ही विचार थे, वे एक क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग के ही विचार थे, हालांकि यह सेटलर कलोनियल पूंजीपति वर्ग इन उसूलों को दासों पर लागू नहीं कर रहा था।** स्वयं जॉर्ज वाशिंगटन और बेंजामिन फ्रैंकलिन जैसे बुर्जुआ नेता सैंकड़ों दासों के स्वामी थे। उत्तरी अमेरिका में विकसित होते औद्योगिक पूंजीवाद ने दक्षिणी अमेरिका के जागीर आधारित दास श्रम की प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था को एक पूंजीवादी दास व्यवस्था में तब्दील किया। इसी रूप में अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था ने दास श्रम को सहयोजित किया और उत्सादित किया। **बहरहाल, प्रश्न है कि क्या अमेरिकी पूंजीवादी व्यवस्था ने सामन्ती व्यवस्था का निषेध किया था? जी हां, इसलिए किया था क्योंकि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि स्वयं उत्तरी अमेरिका में सामन्तवाद का कोई इतिहास था या नहीं; यूरोप में सामन्तवाद का इतिहास था और अमेरिका के पूंजीवादी गणराज्य को यूरोप के ही कलोनियल सेटलरों ने बसाया था और स्वतन्त्रता से पूर्व वे ब्रिटेन समेत तमाम यूरोपीय शक्तियों के प्रभुत्व के मातहत थे। उनकी अपनी मातृदेशों के विरुद्ध बग़ावत सामन्तवाद और राजशाही के निरंकुश प्रभुत्व के खिलाफ बुर्जुआ जनवादी स्वतन्त्रता के लिए की गयी बग़ावत थी। यही कारण था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, *पर्स्यूट ऑफ हैपीनेस,* अमेरिकी जनवादी क्रांति के केन्द्रीय नारे थे। ये नारे अमेरिकी पूंजीपति वर्ग ने किसके विरुद्ध दिये थे? कोई भी determination हमेशा अपने विपरीत से अन्तरविरोध में ही विकसित हो सकता है और हर नारा एक बहुत ही निश्चित और विशिष्ट प्रकार का राजनीतिक determination होता है। श्यामसुन्दर ने निषेध का निषेध और उत्सादन की एक ऐसी समझदारी पेश की है, जिस पर सिर्फ हंसा जा सकता है। अमेरिकी पूंजीवाद का एक आदि है, उसका एक आरम्भ है; तो निश्चित तौर पर यह भी किसी प्रक्रिया/वस्तु के निषेध के तौर पर ही सामने आया है। श्यामसुन्दर के अनुसार, वह सम्भवत: अमेरिका के मूल निवासियों की आदिम सभ्यता के निषेध के तौर पर सामने आया था! यह है हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र की समझदारी।**

पांचवी बात, श्यामसुन्दर किसी निश्चित आर्थिक रूप [जैसे कि दास श्रम (जो कि अपने आप में दास उत्पादन व्यवस्था नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे माल उत्पादन अपने आप में पूंजीवादी व्यवस्था नहीं है, बल्कि सामान्यीकृत माल उत्पादन पूंजीवादी व्यवस्था है), कॉर्वी श्रम व्यवस्था, जिसका कि मार्क्स ने ऊपर उदाहरण दिया है, या निजी सम्पत्ति की आर्थिक श्रेणी जो कि अलग-अलग उत्पादन व्यवस्थाओं के साथ उत्सादित होती है] के उत्सादित होने और उसके निषेध का निषेध होने और किसी उत्पादन व्यवस्था के निषेध का निषेध में कोई अन्तर नहीं समझते। **उन्हें एक किसी विशिष्ट आर्थिक रूप, संरचना (structure) अथवा आर्थिक श्रेणी का निषेध का निषेध अथवा उत्सादन और किसी एक उत्पादन व्यवस्था के निषेध का निषेध या उत्सादन में कोई अन्तर नहीं समझ आता।** हमने ऊपर देखा है कि मार्क्स निजी सम्पत्ति के रूप के आदिम समाज और समाजवादी व्यवस्था के बीच बहुविध रूपों की बात की है, जो कि अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों अलग-अलग रूपों में उत्सादित होकर आधुनिक पूंजीवादी इजारेदारी के रूप में परिणत होते हैं। यहां तक कि स्वयं पूंजीवाद के इतिहास के दायरे के भीतर निजी सम्पत्ति ने बहुविध रूप धारण किये, जिनकी उपरोक्त एक उद्धरण में मार्क्स

ने चर्चा की है। **यह एक निश्चित आर्थिक श्रेणी अथवा रूप का विभिन्न दौरों में विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुसार उत्सादन है। लेकिन यह स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था का निषेध नहीं है। आपका सन्दर्भ चौखटा (frame of reference) क्या है और आप किस पूर्णता (totality) का अध्ययन कर रहे हैं, उसके अनुसार ही आप विज्ञान के नियमों को लागू कर सकते हैं। लेकिन वही बात है कि यह सन्दर्भ चौखटा एक चीज़ है जो कि औंधी खोपड़ी में बिल्कुल नहीं घुसता है। हमने दास श्रम की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया कि पूंजीवाद कई प्राक्-पूंजीवादी श्रम रूपों को उत्सादित करता है, जिसमें कि दास श्रम भी एक है। लेकिन श्यामसुन्दर ने हम पर क्या बात थोप दी? कि हमने अमेरिकी पूंजीवादी दास प्रथा को रोमन दास प्रथा का निषेध का निषेध बताया है!** जैसा कि हमने पहले ही बताया, अपने विरोधी के विचार को सटीक तरीके से प्रस्तुत करना आलोचना का पहला कदम होता है; लेकिन श्यामसुन्दर में "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के तहत इतनी बौद्धिक नैतिकता भी नहीं बची है; खैर, जब वह महान शिक्षकों के ही उद्धरणों के गलत अनुवाद और गलत व्याख्याएं पेश कर रहे हैं, तो उनसे किसी भी स्तर की बौद्धिक ईमानदारी की उम्मीद करना बेकार है।

अन्त में श्यामसुन्दर लिखते हैं कि मार्क्स ने तो दास प्रथा को अमेरिकी पूंजीवाद के माथे पर कलंक बताया था और फिर से चकित हिरणी के समान चारों ओर देखते हैं! **तो? इससे इस पूरी बहस का कोई भी तर्क-वितर्क कैसे जुड़ा हुआ है? पूंजीवाद ऐसे बहुत से कार्य करता है, जिसपर उसे अपने ही क्लासिकीय जनवादी उसूलों के अनुसार शर्मिंदा होना चाहिए। इस बात से इस बहस का क्या रिश्ता है?**

श्यामसुन्दर मार्क्स के एक साधारण से उद्धरण को भी समझ नहीं पाते हैं। मार्क्स का वह उद्धरण यह है: "*प्रत्यक्ष दास प्रथा बुर्जुआ उद्योग की वैसे ही धुरी है जैसे कि मशीनरी, क्रेडिट, आदि। बिना दास प्रथा के आपके पास कपास नहीं होगा; बिना कपास के आपको पास कोई आधुनिक उद्योग नहीं रहेगा...दास प्रथा सर्वाधिक महत्व की आर्थिक श्रेणी है। बिना दास प्रथा के उत्तरी अमेरिका, सभी देशों में सबसे प्रगतिशील देश, एक पितृसत्तात्मक देश में तब्दील हो जाएगा। विश्व के नक्शे से उत्तरी अमेरिका को हटा दीजिये, और आपको अराजकता मिलेगी--आधुनिक वाणिज्य और सभ्यता का पूर्ण क्षरण...*इस प्रकार दास प्रथा, क्योंकि यह एक आर्थिक श्रेणी है, हमेशा से लोगों की संस्थओं में मौजूद रही है। आधुनिक राष्ट्रों ने अपने देशों में दास प्रथा को केवल ढंकने में सफलता हासिल की है, लेकिन नयी दुनिया में उन्होंने इसे बिना किसी नकाब के लागू कर दिया है।"

हुआ क्या कि श्यामसुन्दर यह लम्बा उद्धरण लिखते-लिखते भूल गये कि बहस किस बात पर हो रही थी। बहस का मूल बिन्दु था कि क्या पूंजीवादी व्यवस्था प्राक्-पूंजीवादी श्रम रूपों को सहयोजित और समायोजित कर सकती है, महज़ अवशेषों के रूप में योगात्मक तौर पर नहीं बल्कि जैविक अंग के तौर पर? इसके जवाब में हमने यह उदाहरण दिया था कि पूंजीवादी व्यवस्था न सिर्फ ऐसा कर सकती है बल्कि ऐसा करती रही है। इस पर श्यामसुन्दर ने क्या जवाब दिया है? देखिये: "अभिनव सिन्हा द्वारा दिय गये उद्धरण में तिरछी पंक्तियों का तात्पर्य महज इतना है कि मार्क्स ने अमरीकी पूंजीवादी प्रत्यक्ष दास प्रथा को वैसे ही धुरी बताया है, जैसे कि मशीनरी आदि। लेकिन मार्क्स ने अन्य पूंजीवादी देशों और अमेरिका (नई दुनिया) की पूंजीवादी दासता में अन्तर स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि अन्य पूंजीवादी देशों में पूंजीवादी दासता ढंकी हुई है और अमेरिका में वह प्रत्यक्ष और बेनकाब है।" **इसे कहते हैं मिस्कोट और मिसरेप्रजेण्ट करना। मार्क्स ने यह नहीं कहा है कि 'पूंजीवादी दासता' अन्य देशों में ढंकी हुई है, बल्कि उन्होंने दास प्रथा की बात की है। उसके ठीक पहले की पंक्ति में मार्क्स लिखते हैं कि दास प्रथा एक आर्थिक श्रेणी है और वह हमेशा से लोगों की संस्थाओं का**

अंग बनी रही है। दूसरी बात, मार्क्स सिर्फ इतना बता रहे हैं कि उजरती गुलामी के रूप में श्रम का अधीनस्थ रूप छिपा रहता है (जैसा कि तमाम यूरोपीय देशों में है) लेकिन अमेरिका में दास प्रथा के मातहत यह खुलकर सामने आ गया है। क्या इसका यह अर्थ है कि मार्क्स यह कह रहे हैं कि दोनों जगहों पर दास प्रथा लागू है, बस एक जगह वह खुली हुई है और दूसरी जगह वह छिपी हुई है? नहीं! श्यामसुन्दर इसे क्यों नहीं समझ पाए? श्यामसुन्दर के अन्दर साहित्यिक अभिव्यक्तियों को समझ पाने की एक गहरी अक्षमता है; यही कारण है कि वह हमारे द्वारा माओ द्वारा इस्तेमाल एक कहावत को भी नहीं समझ पाए थे और व्योम के बदलने की भौतिकी समझाने लगे थे! यह भी देखा जा सकता है कि कठमुल्लावादियों के साथ यह अक्सर एक आम समस्या होती है।

दूसरी बात यह है कि यहां इस बात पर चर्चा हो ही नहीं रही थी कि पूंजीवाद के लिए दास प्रथा की भूमिका मशीनरी के समकक्ष थी या नहीं; चर्चा यह थी कि प्राक्-पूंजीवादी श्रम रूप, न सिर्फ अवशेषों के रूप में योगात्मक तौर पर, बल्कि जैविक तौर पर पूंजीवाद के साथ सहयोजित होते हैं या नहीं। मूल प्रश्न पर आने की बजाय श्यामसुन्दर फिर से झाड़ियों पर डण्डा मार रहे हैं।

आगे उत्सादन की अवधारणा के विषय में हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र ने विचित्र प्रकार के 3 पेज लिखे हैं। आइये ज़रा इन पर भी विचार कर लेते हैं।

उत्सादन और निषेध का निषेध के बीच के सम्बन्ध को समझने में श्यामसुन्दर की जारी अक्षमता

अपने पिछले जवाब में हमने इंगित किया था कि श्यामसुन्दर ने यह लिखकर कि उत्सादन के पहलू पर निषेध का निषेध के दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है और किसी और दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है, यह दिखला दिया है कि उन्हें न तो निषेध का निषेध की समझ है, और न ही उत्सादन की अवधारणा की। इस पर हमें श्यामसुन्दर ने हमें एक अजीबो-गरीब जवाब दिया है। वह कहते हैं कि तब फिर आपने मेरे किसी अन्य तरीके से उत्सादन को लागू करने के उदाहरण की तभी, यानी अपने पहले पत्र में ही आलोचना क्यों नहीं की? श्यामसुन्दर दुखी हैं! कि हमने तभी उनके ग़लत उदाहरण को भी दुरुस्त क्यों नहीं कर दिया! और अब वह उसके लिए हमें दण्डित करने पर आमादा हो गये हैं! **हमारा जवाब यह है: हमारा यह काम नहीं है कि आपके एक-एक मूर्खतापूर्ण उदाहरण का खण्डन करें! जब हमने यह कहा कि उत्सादन के प्रश्न पर निषेध का निषेध के दृष्टिकोण से ही विचार किया जा सकता है, क्योंकि निषेध का निषेध बिना उत्सादन हो ही नहीं सकता है या कहें कि ये दोनों ही सम्बद्ध अवधारणाएं हैं, तो हम सिर्फ यह दिखा रहे थे कि श्यामसुन्दर को इन दोनों ही अवधारणाओं का कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन श्यामसुन्दर हमसे आग्रह कर रहे हैं कि हम बिना निषेध का निषेध के उत्सादन के उनके उदाहरण पर बात करें, तो हम उनका आग्रह स्वीकार करते हैं।**

यह रहा श्यामसुन्दर का उदाहरण: "गति के यांत्रिक रूप को लीजिए जो कि गति का एक सरलतम रूप है लेकिन गति का यह सरलतम रूप गति के उच्चतर रूप ऊष्मा में भी विद्यमान होता है पर ऊष्मा में यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर विद्यमान होती है। ऊष्मा, यांत्रिक गति की परिघटना की अपेक्षा एक उच्च संश्लिष्ट स्तर की परिघटना होती है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु यानी यांत्रिक गति संसाधित रूप में मौजूद रहती है। विकास की प्रक्रिया में यह कोई प्रतिक्रियावादी चीज नही होती बल्कि एक आगे बढ़ी हुई मंजिल होती है। विद्युत गति भी यांत्रिक गति के बिना संभव नहीं है, यांत्रिक गति विद्युत गति में उत्सादित तौर पर विद्यमान रहती है; रासायनिक और जैव गतियां, गति के और भी संश्लिष्ट रूप है जिनमें यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है। तो हम देखते हैं कि उत्सादन की प्रक्रिया के जरिये यांत्रिक गति, गति के उच्चतर रूपों में वस्तुनिष्ठ

तौर पर उत्सादित रूप में मौजूद रहती है पर गति के उच्चतर संश्लिष्ट रूप के नामकरण में उसे कोई स्थान नहीं मिलता।"

पहली बात तो यह है कि यांत्रिक गति से रासायनिक या जैविक गति या विद्युत गति तक की प्रक्रिया कोई क्रमिक प्रक्रिया है ही नहीं मानो कि प्रकृति में पहले यांत्रिक गति आयी, फिर रासायनिक व विद्युत गति आयी। वास्तव में श्यामसुन्दर ने प्रकृति विज्ञान के विकास और प्रकृति के विकास की प्रक्रिया को गड्ड-मड्ड कर दिया है। एंगेल्स ने 'प्रकृति का द्वन्द्ववाद' में ही इन दोनों के बीच के फर्क को स्पष्ट किया था। वास्तव में, इन गतियों के रूपों के बीच कोई स्पष्ट कालिक क्रम बनाना ही सम्भव नहीं है। पिछली बार श्यामसुन्दर ने अपनी ऐसी मान्यता के बारे में थोड़ा सन्देह छोड़ दिया था कि वह इन गति के रूपों में एक क्रम देखते हैं और मानते हैं यांत्रिक गति का उत्सादन हुआ तो रासायनिक और जैविक गति पैदा हुई, वगैरह। **लेकिन एक बार फिर से मार्क ट्वेन की उक्ति को सही साबित करते हुए उन्होंने फिर से अगले ही पृष्ठ पर मुंह खोला है और हर प्रकार का सन्देह मिटा दिया है: "यह तो सम्भव है कि रासायनिक गति का किसी काल और स्थान में अस्तित्व न रहे...लेकिन समूचे जगत में ऐसा कभी भी और कहीं भी नहीं हो सकता है कि यांत्रिक गति का अस्तित्व न रहे।"** यह एकदम मूर्खतापूर्ण बात है। **विज्ञान की नवीनतम खोजों ने दिखलाया है कि एक ऐसा दौर था जब कि द्रव्यमान युक्त पदार्थ ही अस्तित्व में नहीं था; ऐसे में, यांत्रिक गति की परिभाषा ही बेकार हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भौतिक यथार्थ नहीं था और गति ही मौजूद नहीं थी; लेकिन चूंकि द्रव्यमानयुक्त पदार्थ (massive matter) नहीं था, इसलिए यांत्रिक गति की बात ही नहीं की जा सकती है। एंगेल्स ने 'प्रकृति का द्वन्द्ववाद' में ठीक इसी नज़रिये की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह एक भोण्डा भौतिकवादी नज़रिया है, जो कि हर गति को अन्ततः अपचयित करके यांत्रिक गति पर ले आता है कहता है कि संश्लिष्ट से संश्लिष्ट गति के रूपों में कहीं न कहीं यांत्रिक गति विद्यमान है। देखें एंगेल्स क्या लिखते हैं:**

"Mechanics-in the wider or narrower sense- knows only quantities, it calculates with velocities and masses, and at most with volumes. Where the quality of bodies comes across its path, as in hydrostatics and aerostatics, it cannot achieve anything without going into molecular states and molecular motions, it is itself only an auxiliary science, the prerequisite for physics. In physics, however, and still more in chemistry, not only does continual qualitative change take place in consequence of quantitative change, thetransformation of quantity into quality, **but there are also many qualitative changes to be taken into account whose dependence on quantitative change is by no means proven.** That the present tendency of science goes in this direction can be readily granted, but does not prove that this direction is the exclusively correct one, that the pursuit of this tendency will exhaust the whole of physics and chemistry. All motion includes mechanical motion, change of place of the largest or smallest portions of

matter, and the first task of science, but only the first, is to obtain knowledge of this motion. **But this mechanical motion does not exhaust motion as a whole. Motion is not merely change of place, in fields higher than mechanics it is also change of qualitv... If all differences and changes of quallty are .to be .reduced to quantitative differences and changes, to mechanical dIsplacement, then we inevitably arrive at the proposition that all matter consists of identical smallest particles, and that all qualltatIve dIfferences of the chemical elements of matter are caused by quantitative differences in number and by the spatlal grouplng of those smallest particles to form atoms. But we have not got so far yet."**

इसलिए गति के हर रूप में यांत्रिक गति मौजूद हो यह आवश्यक नहीं है, जैसा कि एंगेल्स उपरोक्त कथन में कह रह हैं। यदि विज्ञान कल उस स्तर पर पहुंच भी जाए कि वह एक समान बुनियादी कण को ढूंढ ले जिससे कि समस्त पदार्थ जगत बना है, तो भी यही सिद्ध होगा कि सभी गतियां वास्तव में यांत्रिक गतियों का ही अलग-अलग किस्म योगात्मक समुच्चय हैं, न कि यह सिद्ध होगा कि यांत्रिक गति गति के अन्य रूपों में उत्सादित रूप में मौजूद होती है। **यहां भी श्यामसुन्दर दिखलाते हैं कि उन्हें उत्सादन का अर्थ नहीं पता है। उत्सादन का अर्थ होता है किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया के निश्चित पहलुओं को समाप्त करना, कुछ को संरक्षित करना और उन्हें स्तरोन्नयित करना। यांत्रिक गति के कौन से पहलू विद्युत, रासायनिक, या जैविक गति में समाप्त होते हैं, कौन से पहलू संरक्षित और स्तरोन्नयित होते हैं? यदि रासायनिक गति को अणुओं की गति के रूप में देखा जाय, जैसा कि एंगेल्स ने उसे 'प्रकृति के द्वन्द्ववाद' में परिभाषित भी किया है, तो भी यह एक सूक्ष्म स्तर पर स्थान का परिवर्तन, यानी की यांत्रिक गति ही है; इस रूप में कोई रासायनिक गति भी यांत्रिक गतियों का एक योगात्मक समुच्चय ही माना जायेगा, न कि कोई ऐसा रूप में जिसमें कि यांत्रिक गति उत्सादित रूप में मौजूद हो। जो भी हो, श्यामसुन्दर ने उत्सादन (बिना निषेध का निषेध के!) का जो उदाहरण भी पेश किया है, वह बस यही करता है कि श्यामसुन्दर की दरिद्र समझदारी को पूर्णत: नंगा कर देता है।**

इसके अलावा, श्यामसुन्दर कहते हैं कि यांत्रिक गति का गति के उच्चतर रूपों में उत्सादन तो होता है, लेकिन उसका निषेध नहीं होता क्योंकि वह नष्ट नहीं होती है। यानी उसका उत्सादन होता है लेकिन उसका निषेध का निषेध नहीं होता है। **पहली बात तो यह बात ही दिखला देती है कि श्यामसुन्दर को उत्सादन की अवधारणा के बारे में पता नहीं है। उत्सादन का अर्थ ही होता है, समाप्त करना, संरक्षित करना, स्तरोन्नयित करना। इस पूरी अवधारणा पर हमने अपने पिछले जवाब में विस्तार से विचार किया है, दिलचस्पी रखने वाले पाठक पिछले जवाब को देख सकते हैं। हमने ऊपर एक उद्धरण में दिखलाया है कि निषेध का अर्थ सीधे नष्ट कर देने के अर्थों में लिया ही नहीं जा सकता है, ठीक इसीलिए क्योंकि द्वन्द्वात्मक निषेध का अर्थ ही होता है नये निषेध की ज़मीन तैयार करना। इसलिए वे पहलू समाप्त हो जाते हैं, जो नये चरण के अनुसार जीवक्षम नहीं हैं और वे पहलू संरक्षित करके स्तरोन्नयित कर दिये जाते हैं, जो कि नये चरण के साथ अनुकूल होते हैं।** हमने सोवियत पाठ्यपुस्तक में दी गयी व्याख्या से दिखलाया है कि उसने काऊत्स्की के निषेध का निषेध की

समझदारी का किस प्रकार खण्डन किया है। **काऊत्स्की भी इस बात पर चकित थे कि निषेध (पौधा) और निषेध का निषेध (बीज) एक साथ कैसे मौजूद है, क्योंकि निषेध को तो नष्ट हो जाना चाहिए, तभी तो तीसरा टर्म उपस्थित होगा! श्यामसुन्दर भी इसी यांत्रिक समझदारी के शिकार हैं, बस काऊत्स्की के समान नहीं, बल्कि बेहद दरिद्र और दयनीय रूप में।**

आखिरी बात यह कि श्यामसुन्दर अपने उदाहरण में स्वयं ही कह रहे हैं कि बिना निषेध का निषेध के भी उत्सादन हो सकता है (जो कि गलत है, उत्सादन निषेध का निषेध की प्रक्रिया का ही एक अंग होता है) लेकिन इसे केवल अपने उदाहरण पर लागू करना चाहते हैं, जोकि रासायनिक, जैविक, विद्युत और यांत्रिक गति के बारे में उन्होंने दे दिया है, लेकिन जाति और दास श्रम के बारे में इसे लागू नहीं करना चाहते! वैसे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उनकी यह समझदारी ही मूर्खतापूर्ण है! इसे कहते हैं श्यामसुन्दरीय बौद्धिक चमत्कार! **श्यामसुन्दर एक तो विज्ञान के नियमों को समझते नहीं और उसके बाद अपनी ग़लत समझदारी को जहां-तहां उल्टे-सीधे तरीके से अन्धाधुन्ध घुसा देते हैं। जब उनकी गलती की तरफ इशारा किया जाता है, तो कहते हैं कि मेरा मन नहीं है कि यह नियम यहां लागू हो, इसलिए मैं यहां इसे लागू नहीं करूंगा और न ही तुम्हें करने दूंगा! अपने मौजूदा जवाब में वह स्वयं हर जगह उत्सादन के आगे कोष्ठकों में 'निषेध का निषेध' और निषेध का निषेध के आगे कोष्ठकों में 'उत्सादन' लिखते हैं, लेकिन पृष्ठ 87-88 पर आकर आपको पता चलता है कि श्यामसुन्दर के पास एक ऐसा उत्सादन भी है, जो कि बिना निषेध का निषेध के होता है! जैसा कि हम ऊपर भी दिखा चुके हैं, ऐसी मूर्खतापूर्ण है हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र की समझदारी।**

इसके बाद, श्यामसुन्दर अपने बचाव का आखिरी प्रयास करते हुए हमारे पेपर के उस मूल्यांकन को फिर से उद्धृत करते हैं, जहां हमने लिखा है कि पूंजीवादी विकास की नैसर्गिक गति औपनिवेशिकीकरण के कारण नष्ट हो गयी और फिर हमसे वही मूर्खतापूर्ण सवाल पूछते हैं कि फिर जाति व्यवस्था के निषेध का निषेध जारी कैसे रहा। हम ऊपर इसका जवाब दे चुके हैं, जिसे दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब हम अगले उपशीर्षक पर आते हैं जिसमें कि श्यामसुन्दर दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद को आदि शंकराचार्य के एकात्म मानववाद से जोड़कर फंसने के बाद अपनी आत्मरक्षा का एक और दयनीय प्रयास करते हुए मिलते हैं। आइये उनकी इस दिलचस्प करतब की पड़ताल करते हैं।

13. दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानवतावाद के बारे में श्यामसुन्दर द्वारा अपनी मूर्खतापूर्ण गलतियों को छिपाने की और भी मूर्खतापूर्ण कोशिश के बारे में

'पहले अपने तथ्य इकट्ठा करो, उसके बाद तुम उन्हें जैसे चाहे तोड़-मरोड़ सकते हो।'

-मार्क ट्वेन

हमने अपने पिछले जवाब में दिखलाया था कि श्यामसुन्दर ने इतिहास के विषय में अपनी अज्ञानता के कारण दीन दयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का मूल आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन को बताया था। श्यामसुन्दर ने बाद में पढ़ा और उन्हें पता चला कि वास्तव में ऐसा नहीं है; तो इसका श्यामसुन्दर ने क्या इलाज निकाला? जी नहीं, अपने अज्ञान के लिए आत्मालोचना नहीं बल्कि वह इस बात से ही मुकर गये हैं कि उन्होंने ऐसा कुछ कहा है! वह कह रहे हैं कि वह तो बस आदि शंकराचार्य के दोगलेपन और आर.एस.एस. वालों के दोगलेपन की तुलना कर रहे थे कि वे दोनों ही बात एकात्म मानववाद की करते हैं और यकीन मनुस्मृति और वर्णाश्रम व्यवस्था में करते हैं! हाय, क्या भोलापन है! हुजूर, दीन दयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का अर्थ ही यही था! लेकिन जैसा कि हमने दिखाया है और आगे के दो उपशीर्षकों में और भी स्पष्टता से दिखाएंगे, श्यामसुन्दर शब्दों को पढ़ते हैं, अर्थों को नहीं और उनके ऐतिहासिक सन्दर्भों को तो बिल्कुल नहीं। यहां भी अपने इस भोलेपन से वह यही प्रदर्शित कर रहे हैं। लेकिन मूल बात यह है कि वह झूठ बोल रहे हैं।

आइये, एक बार फिर से उनके उद्धरण को देखते हैं: "आज आरएसएस, भाजपा और इनसे जुड़े अन्य संगठन अपने नेता दीन दयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' की बहुत दुहाई देने में लगे हुए हैं और देश के दलितों, मेहनतकशों, महिलाओं यानी सबको समझा रहे हैं कि इस दर्शन का मायने है कि सबको एक समान बल्कि एक ही समझना एवं किसी भी प्रकार के भेदभाव को न मानना। ***असल में यह एकात्म मानववाद का दर्शन उपनिषदों में वर्णित वेदांत दर्शन है, जिसे अन्तिम रूप 9वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा दिया गया था जिसने भारत में चार पीठों की स्थापना भी की थी।*** शंकराचार्य की भी क्या विडंबना है! उनकी कथनी और करनी में कितना बड़ा विरोधाभास है। एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की और दूसरी तरफ उस मनुस्मृति की भी प्रशंसा की जो घोर सामाजिक असमानता यानी ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था की रक्षा का संविधान थी। आज भी कथनी करनी का यह दोगलापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक तरफ तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिये जाने और उसे पाठ्यक्रमों में लागू किए जाने के इरादे बना रहे हैं जिस भगवद्गीता में 'भगवान' श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के चार वर्णों की रचना उन्होंने ही की है।"

जैसा कि आप रेखांकित शब्दों से देख सकते हैं कि श्यामसुन्दर दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद को ही उपनिषदों में वर्णित वेदांत दर्शन बता रहे हैं और उसे आदि शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से जोड़ रहे हैं। **लेकिन इस बार श्यामसुन्दर ने अद्भुत बन्दरपलटी मारी है! मतलब, हम तो देखते ही रह गये!** श्यामसुन्दर लिखते हैं: "पहली बात तो यह कि पाठक स्वयं देख लें कि हमने दीनदयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' को एकल उद्धरण चिन्हों में लिखा है।' **पहली बात तो यह कि अगली ही पंक्ति में जब**

दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का जिक्र होता है, तो उसे एकल उद्धरण चिन्हों में नहीं रखा गया है और वहीं उसे आदि शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन बता दिया गया है। लेकिन आइये पहले श्यामसुन्दर के पूरे झूठ को पढ़ लेते हैं जिससे कि पता चल जाये कि वह आत्मरक्षा में किस कदर झूठ-फरेब पर आमादा हैं: "दूसरी बात यह कि हमने शंकराचार्य के 'एकात्म मानववाद' की कथनी और करनी के विरोधाभास को दिखाया है कि एक तरफ तो शंकराचार्य 'एकात्म मानववाद' की बात करते हैं और दूसरी ओर उस मनुस्मृति की प्रशंसा करते हैं जो घोर सामाजिक असमानता और ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था का संविधान है, यानी हमने साफ तौर पर शंकराचार्य के 'एकात्म मानववाद' के दर्शन का पाखंड जाहिर किया है। इसके बाद हमने आरएसएस, भाजपा आदि शंकाराचार्य के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटने वालों को निशाना बनाते हुए साफ कहा है कि वही शंकराचार्य वाला दोगलापन और कथनी-करनी का अंतर आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है और 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटने वालों को एक और दोगलेपन का भी निशाना बनाया है कि एक तरफ तो ये दीनदयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' की बात करें और दूसरी तरफ भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिये जाने की बात करें जिसमें श्रीकृष्ण 'भगवान' द्वारा साफ-साफ कहा गया है कि चारों वर्णों की रचना उन्होंने की है। हमारे द्वारा कही गयी इन सभी बातों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि असल में न तो हम दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' को, न ही उनके मूल स्रोत जिसका कि वे दावा करते हैं, शंकराचार्य के एकात्म मानववाद को, मानववाद मानते हैं।"

देखिये श्यामसुन्दर बहस के मूल मुद्दे से ही कैसे पूंछ उठाकर भाग खड़े हुए हैं। बहस का मूल मुद्दा यह था कि हमने यह आलोचना पेश की थी कि श्यामसुन्दर को यह तक नहीं पता कि दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का मूल या स्रोत उपनिषदों का दर्शन या शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन नहीं है; वह तो सावरकर और गोलवलकर के ही फासीवादी दर्शन की एक अभिव्यक्ति है। हमने अपने पिछले जवाब में दीन दयाल उपाध्याय को ही उद्धृत करके यह दिखलाया भी एकात्म मानववाद वास्तव में हिन्दुत्व फासीवादी दर्शन ही है। इस पर कुछ बोलने की बजाय श्यामसुन्दर अपनी ही 'ट्रिप' पर हैं! यह बहस का मुद्दा कब था कि न तो दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद वास्तव में मानवतावादी है और न ही आदि शंकर का दर्शन मानववादी है! उल्टे हमें तो श्यामसुन्दर के इस आश्चर्य पर आश्चर्य था : "एक तरफ तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिये जाने और उसे पाठ्यक्रमों के लागू किए जाने के इरादे बना रहे हैं..." या "एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की और दूसरी तरफ उस मनुस्मृति की भी प्रशंसा की..." **महोदय, यहां कोई "दूसरी तरफ" नहीं है!**

चूंकि श्यामसुन्दर अपनी ही बातों में उलझ गये हैं क्योंकि वह अपने अज्ञान को छिपाने का प्रयास कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने *एक भयंकर द्वन्द्वात्मक वाक्य के साथ इस उपशीर्षक को समाप्त किया है, जिसका अर्थ हम अभी भी समझने का प्रयास कर रहे हैं*: "लेकिन दीनदयाल उपाध्याय के इस दावे को खारिज नहीं किया जा सकता कि उनके 'एकात्म मानववाद' का मूल शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदांत में नहीं हो सकता जिसका सामाजिक दर्शन मानव-मानव के बीच अभेद्य यानी 'एकात्म मानववाद' ही हो सकता है, जिसकी पुष्टि के लिए हमने ऊपर स्वामी विवेकानन्द को उद्धृत किया है।" (!!!) क्या मतलब है? मतलब दीनदयाल उपाध्याय का क्या दावा था? आपका क्या दावा है? यह पूरा वाक्य तो हिन्दी व्याकरण के मानकों से भी कोई अर्थ नहीं पैदा कर रहा है! जब बिल्ला ऊन के गोले में इस कदर उलझ जाता है तो ऐसे ही म्याऊं-म्याऊं करता है!

14. कारस्तानी किसने की? दयानन्द ने? मैंने? या दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र ने?

'अगर आप कभी झूठ न बोलें, तो आपको कभी कुछ याद नहीं रखना पड़ेगा।'

-मार्क ट्वेन

हमने पिछले जवाब में दिखलाया था कि एक पुराने औपनिषदीय व पौराणिक ब्राह्मणवादी नियम को श्यामसुन्दर ने दयानन्द पर थोप दिया है, जो कि सिर्फ इसे दुहरा रहे थे। इस पर श्यामसुन्दर ने कहा है कि उन्होंने दयानन्द को उद्धृत किया था जो खुद कह रहे थे कि : "यह मत अनेक आचार्यों का है।" श्यामसुन्दर कहते हैं कि इसी से साबित हो जाता है कि उनका, यानी कि श्यामुसन्दर, का भी यही अर्थ था कि दयानन्द उसे मात्र दुहरा रहे थे। **<u>जी नहीं, नहीं साबित होता! सारे धार्मिक ग्रंथों के लिखने वाले पुराने वेदों, पुराणों, उपनिषदों और आचार्यों से वैधीकरण प्राप्त करने का दावा करते हैं। यहां पर श्यामसुन्दर ने केवल दयानन्द को उद्धृत किया है।</u> जहां वह अपनी बात कर रहे हैं वह यह है: "*स्वामी दयानंद ने* मानव जीवन के संस्कारों को लेकर एक ग्रंथ लिखा है जिसका नाम है 'संस्कार विधि'। इस पुस्तक में *उन्होंने मनुष्य जीवन के सोलह संस्कार बताएं हैं*, गर्भ से लेकर श्मशान में अंतिम संस्कार तक। इन्हीं सोलह संस्कारों में एक संस्कार 'नामकरण' संस्कार भी है, अर्थात् जन्मे बच्चे का नाम धरने का संस्कार...अब देखिये! क्या यह घोर सामाजिक अन्याय नहीं है कि शूद्र के घर जन्मे किसी बालक के नाम के पीछे उसके जन्म के ग्यारहवें दिन ही 'दास' का लेबल चस्पां कर दें और फिर दावा करें कि हम तो वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म, स्वभाव से मानते है जन्म से नहीं। 'संस्कार विधि' में दिए गए एक अन्य संस्कार का जिक्र करना भी प्रासंगिक होगा। वह संस्कार है 'उपनयन संस्कार' यानी बच्चे को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण कराए जाने वाला संस्कार। *स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के घर जन्मे बालक को ही उपनयन संस्कार का अधिकारी और पात्र बताया है।* उन्होंने शूद्र के घर जन्मे बालक का उपनयन संस्कार किया जाना नहीं लिखा और साथ में यह भी लिखा हे कि उपनयन संस्कार का दिन ही वेदारंभ यानी वेदों के अध्ययन आरंभ करने का दिन होता है। *अत: स्वामी दयानंद ने क्योंकि शूद्र के घर जन्मे बालक का उपनयन संस्कार ही नहीं लिखा तो साफ है कि उस बालक को वेदों के अध्ययन का भी अधिकार प्राप्त नहीं होता।*" इसके बाद वह दयानन्द के शब्दों को उद्धृत करते हैं, जिसमें दयानन्द इस नियम को बताने के बाद कहते हैं कि ऐसा मत अनेक आचार्यों का है। इसके आधार पर श्यामसुन्दर दावा करते हैं कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह वैदिक या औपनिषदीय परम्परा ही है, जिसे दयानन्द दुहरा रहे थे। यह अपनी ग़लती छिपाने का एक शर्मनाक तरीका है।

इसके बाद बस यह देखिये कि स्वामी दयानन्द पर श्यामसुन्दर का कैसा अटूट विश्वास है! वह लिखते हैं: "दूसरी बात यह जो शायद अभिनव सिन्हा को नहीं पता कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का दावा है और जिस पर उनके सभी अनुयायी सभी आर्यसमाजी पूरा यकीन करते हैं *(यहां पर आप औंधी खोपड़ी में पुरानी आर्य समाजी आत्मा को प्रवेश करते हुए अनुभव कर सकते हैं - लेखक)* कि किसी भी सामाजिक अथवा प्राकृतिक विषय पर स्वामी दयानन्द का मत उनका निजी मत न होकर वेदमत होता है। स्वामी दयानंद खुद कहते हैं कि हर विषय पर उनका मत वेदमत है, वे वेदों पर ऑथोरिटी हैं और उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं कही जो कि

वेदानुकूल न हो। *(यहां पर आप पुरानी आर्य समाजी आत्मा के प्रवेश को सीधे देख सकते हैं - लेखक)* इसलिए अभिनव सिन्हा द्वारा की गयी यह आपत्ति भी महत्वहीन है कि स्वामी दयानंद ने क्या पहली बार शूद्र को संस्कार विधि में उपनयन संस्कार से वंचित किया है **क्योंकि उनका पहली बार कहना ही वेद वाक्य होता है।" *(यहां पर आप देख सकते हैं कि औंधी खोपड़ी दरअसल आर्य समाजी औंधी खोपड़ी ही है-लेखक)* मुझे पुख्ता शक़ है कि श्यामसुन्दर भी कहीं पहले आर्यसमाजी तो नहीं थे? क्योंकि आस्था अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है!**

आइये अब इस पूरे कथन में मौजूद आश्चर्यजनक मूर्खताओं की थोड़ी चीर-फाड़ करते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई एक वेदमत है ही नहीं क्योंकि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में ही बहुत मतान्तर है; यह नैसर्गिक भी है क्योंकि इनकी रचना के युगों में फर्क था। यह दयानन्द का दावा है कि वह किसी एक एकल वेदमत को अभिव्यक्त करते हैं क्योंकि उनके लिए एक हिन्दू पुनरुत्थानवादी के तौर पर एक एकल वेदमत का निर्माण (construction) अनिवार्य है। लेकिन श्यामसुन्दर एक सच्चे आर्यसमाजी चेले के समान इस निर्मिति को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं। सच्चाई यह है कि दयानन्द एकल वेदमत को *निर्मित* करते हैं। इसके बाद, मानो श्यामसुन्दर की सोई हुई आर्यसमाजी आत्मा जाग उठती है क्योंकि वह भी मानते हैं कि जो दयानन्द ने कह दिया वह तो *ऑटोमैटिकली* वेद वाक्य ही होता है, और इसलिए हमारी आपत्ति भी ग़लत है कि पहले किसने कहा! क्या मूर्खतापूर्ण तर्क है! लेकिन इसके बाद श्यामसुन्दर इससे भी मूर्खतापूर्ण सवाल पूछते हैं: "... जब हमने तुलसीदास द्वारा रचित *रामचरितमानस* के हवाले यह कहा कि 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकरी।' तो क्या इससे अभिनव सिन्हा यह मतलब निकालेंगे कि ब्राह्मणवादी विचारधारा की इस प्रकार की अवधारणाओं को तुलसीदास ने पहली बार शुरू किया और यह उनकी कारस्तानी है?" यदि आप स्वयं कहते कि *तुलसीदास ने यह विधि बतायी है*, तो हम अवश्य ऐसा ही कहते। दयानन्द के बारे में आपने ऐसा ही कहा, और इसलिए हमने भी वह कहा जो कि हमने कहा।

श्यामसुन्दर की एक सस्ती और अश्लील चाल

इसके बाद, श्यामसुन्दर एक बड़ी सस्ती चाल चलते हैं, जिससे एक बार फिर ज़ाहिर होता है कि एक व्यक्ति अपनी उजड़े बौद्धिक सम्मान के आखिरी कतरे बटोरने की हताश कोशिश कर रहा है और राजनीतिक अश्लीलता के किसी भी स्तर पर उतरने को तैयार है। हमने अपने पिछले जवाब में लिखा था कि स्वामी दयानन्द के विचारों के ब्राह्मणवाद को अनावृत्त करने के लिए श्यामसुन्दर ने बिना वजह पन्ने काले किये हैं। इस पर श्यामसुन्दर ने अवसरवादिता का प्रदर्शन करते हुए यह कहा है: "यहां अभिनव सिन्हा का दोगला चरित्र साफ तौर पर उजागर हो जाता है। डा. भीमराव अम्बेडकर के बारे में तो वे हमारी इस आधार पर आलोचना करते हैं कि हमने भीमराव अम्बेडकर की बेबाक मार्क्सवादी आलोचना करने की बजाय दलितों को रिझाने के लिए तुष्टिकरण की नीति अपनाई; तथा इस दुविधा का आरोप लगाया कि श्यमासुन्दर यदि अम्बेडकर की आलोचना नहीं करता तो उसके कार्यकर्ता क्या कहेंगे और यदि करता है तो दलित साथी बुरा मान जाएंगे वगैरह वगैरह। अब हमारा अभिनव सिन्हा से प्रश्न है कि उनकी स्वामी दयानन्द सरस्वती को लेकर क्या दुविधा है? वे ऐसा किस दबाव अथवा स्वार्थ में कहते हैं कि दयानंद सरस्वती के दर्शन के ब्राह्मणवादी चरित्र को बेनकाब करने की कोई जरूरत नहीं थी? क्या वह इस बात का खुलासा कर सकते हैं कि स्वामी दयानंद सरस्वती के ब्राह्मणवादी चरित्र की आलोचना के लिए उसी पैमाने और उसी आवश्यकता की जरूरत नहीं जिस पैमाने और जिस आवश्यकता की जरूरत डा. भीमराव अम्बेडकर के विचारों की आलोचना के लिए है?"

यहां श्यामसुन्दर ने अपने मौकापरस्त चरित्र को पूरी तरह उजागर कर दिया है और यह भी दिखला दिया है कि जब कोई उजड़ा हुआ मठाधीश अपने मठ को बचाने के लिए अफरा-तफरी करता है, तो कैसी घटिया और बेबुनियाद बकवास कर सकता है। लेकिन फिर भी इस बकवास के असली चरित्र को उजागर करने के लिए हम इसका जवाब देंगे। आइये, हम इन आरोपों की सच्चाई की थाह लेते हैं।

श्यामसुन्दर ने जिस पत्र में दयानन्द सरस्वती के ब्राह्मणवाद को अनावृत्त करने के लिए पन्ने काले किये हैं, वह व्यापक जनसमुदाय के बीच बांटा जाने वाला पर्चा नहीं है, बल्कि वामपंथी दायरे में चल रही एक बहस का दस्तावेज़ है। ऐसे दस्तावेज़ में आर्य समाज के ब्राह्मणवाद के विषय में प्रबोधन का बुड्ढे स्कूली मास्टर वाला ऊबाऊ काम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मगर ऐसे पर्चे में डा. अम्बेडकर के प्रश्न पर सांगोपांग आलोचनात्मक राजनीतिक अवस्थिति रखने की आवश्यकता थी, क्योंकि तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रांतिकारी इसी से भागते और बचते हैं। और इसलिए भी क्योंकि यह पर्चा ही जाति प्रश्न पर था। तीसरा कारण यह है कि या तो आप किसी विषय पर न लिखें, तो कोई शिकायत ही नहीं है, और या फिर लिखें तो तथ्यात्मक तौर पर गलत और मूर्खतापूर्ण बातें न लिखें। इसलिए श्यामसुन्दर बेकार में ही अपनी शर्लक होम्स की टोपी पहनकर हमारे नापाक मंसूबों की शिनाख़्त करने निकल पड़े हैं; जब आप ऐसे करतब करते हैं, तो अपनी ही फजीहत करा लेते हैं।

जिस व्यक्ति को जनता के बीच बांटे जाने वाली एजिटेशनल प्रचार सामग्री की विषय-वस्तु और वामपंथी आन्दोलन के भीतर जारी बहस में जारी एक राजनीतिक पेपर की विषय-वस्तु के बारे में अन्तर न पता हो, उससे कितनी देर तक बहस हो सकती है? और हमें किसी उजड़ते हताश मठाधीश के समक्ष यह सफाई देने की आवश्यकता नहीं है कि हमारा जाति विरोधी मंच ब्राह्मणवाद को बेनक़ाब करने के लिए क्या करता है। हर बात की एक जगह होती है; लेकिन कठमुल्लावादियों को एक ही टेप होता है, जो हर शादी में बजने लगता है। श्यामसुन्दर की कुछ ऐसी ही हालत हो गयी है। श्यामसुन्दर पृष्ठ 93 और 94 पर फिर से अपनी इस आदत को साबित करते हैं, जब वह बताने लगते हैं कि दलितों पर हमले किस प्रकार आर्य समाजी युवाओं ने किये, किस प्रकार ब्राह्मणवादियों ने उन युवाओं को बचाने की कोशिश की, वगैरह और फिर पूछते हैं कि क्या आर्य समाज की आलोचना करने और उसे अनावृत्त करने की आवश्यकता नहीं है? ***अरे है, महाराज, लेकिन हमारे बीच में ही क्यों लगे पड़े हो? मतलब कन्वर्टेड को ही कन्वर्ट करने में पूरी उमर लगा दोगे क्या? यह किसी पर्चे में छापिये और जाकर गांव-बस्ती में बांटिये! आप जैसे "प्रतिभावान लोग" क्रांतिकारी आन्दोलन को ही सत्यार्थ प्रकाश का मतलब समझाने में खर्च कर देंगे तो भारतीय क्रांति का क्या होगा!*** लेकिन श्यामसुन्दर एक टुच्चे मौकापरस्त व्यक्ति के समान, जो कि अपनी इज्जत के आखिरी तार समेटने में बदहवास इधर-उधर भाग रहा हो, हमारे ऊपर एक बेतुका आरोप मढ़कर भागने का प्रयास करते हैं। जैसा कि पाठक देख सकते हैं, 120 पेज का खर्रा इन जनाब ने इसी तरह की मौकापरस्त बातों और गैर-जरूरी चीजों को घुसाकर बनाया है! बेहतर होता कि ठोस सवालों को पढ़ते, उन्हें समझते और फिर उनका जवाब देते। लेकिन क्या इसकी उम्मीद हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र से की जा सकती है?

14. हिन्दू धर्म, हिन्दू पुनरुत्थानवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद और हिन्दुत्व फासीवाद: श्यामसुन्दर के न दूर होने वाले कुछ भ्रम, कुछ बन्दरपलटियां, कुछ झूठ और कुछ बेईमानियां

'अपना मुंह बन्द रखना और लोगों को यह कयास लगाने देना कि तुम मूर्ख हो ज्यादा बेहतर है बनिस्बत इसके कि मुंह खोल कर सारा शक़ दूर कर दिया जाय।'

-मार्क ट्वेन

इसमें सबसे पहले तो श्यामसुन्दर ने फिर से झूठ बोला है कि उन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व को एक नहीं बोला है। हम दिखलाएंगे कि उन्होंने ऐसा ही किया है और हिन्दुत्व का सारतत्व सनातनी हिन्दू धर्म को बताया है। हमने स्पष्ट किया था कि हिन्दुत्व भारत की फासीवादी विचारधारा है। यह फासीवादी विचारधारा हिन्दू धर्म का इस्तेमाल करती है, लेकिन हिन्दू धर्म इसका सारतत्व नहीं है। श्यामसुन्दर का कहना है कि यह सिर्फ हिन्दू धर्म का इस्तेमाल नहीं करती बल्कि हिन्दू धर्म ही हिन्दुत्व का सार है। पहली बात तो यह है कि श्यामसुन्दर को हिन्दुत्व विचारधारा का अर्थ ही नहीं पता है। वह यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि चूंकि पुण्यभूमि की जो सीमाएं सावरकर ने बताईं थीं, लगभग वही सीमाएं दयानन्द और विवेकानन्द ने भी बतायीं थीं, इसलिए हिन्दुत्व के जनक दयानन्द और विवेकानन्द हैं! ***(मानो या न मानो!)*** इससे पहले कि इस उपशीर्षक में श्यामसुन्दर द्वारा अपने अज्ञान का एक नये स्तर पर केंचुल नृत्य हम आपके सामने अनावृत्त करें, कुछ बुनियादी श्रेणियों को समझकर आगे बढ़ना पाठकों के लिए आसान होगा।

कुछ बुनियादी बातें

<u>हिन्दुत्व क्या है?</u> हिन्दुत्व शब्द का इस्तेमाल ही पहली बार वी. डी. सावरकर ने किया था। इससे पहले किसी भी हिन्दू धर्म के ग्रंथ या हिन्दू आचार्यों के लेखन में यह शब्द कभी नहीं प्रयोग किया गया है। यह शब्द सावरकर ने पहली बार 1923 में इस्तेमाल किया था। इस शब्द के अन्तर्गत सावरकर ने एक पूरी राजनीतिक विचारधारा पेश की थी। यह विचारधारा ही भारत की फासीवादी विचारधारा है और इसे ही हेडगेवार और मुख्य रूप से गोलवलकर ने आगे विकसित किया। **इसलिए जब हिन्दुत्व विचारधारा की बात होती है, तो उसका अर्थ होता है हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा, यानी कि फासीवादी विचारधारा का वह रूप जो कि भारत के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में पैदा हुआ।**

<u>फासीवादी विचारधारा क्या है?</u> फासीवादी विचारधारा वह विचारधारा है जो कि बड़ी पूंजी की सेवा करती है, लेकिन उसके पक्ष में वह टटपुंजिया वर्गों, विशेष तौर पर अरक्षित और उजड़ते टटपुंजिया वर्गों के वर्गीय असन्तोष को एक अन्धी प्रतिक्रिया में तब्दील करती है, ताकि उसे पूंजीवाद-विरोधी वर्ग चेतना में तब्दील होने से रोका जा सके। **यह कार्य कैसे किया जाता है?** एक बहुसंख्यावादी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन को खड़ा करके। **कैसे?** बरबादी और असुरक्षा झेल रही टटपुंजिया आबादी को एक नकली शत्रु दिया

जाता है, जिसे कि 'अन्य' (other) के रूप में निर्मित (construct) किया जा सके और सभी समस्याओं के लिए उसे जिम्मेदार ठहराया जा सके। इसके लिए एक शुद्ध रूप से विचारधारात्मक (purely ideological) राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण किया जाता है; इसका आधार नस्लीय हो सकता है, धार्मिक हो सकता है, क्षेत्रीय हो सकता है, जातीयतावादी (ethnic) हो सकता है, या कोई और हो सकता है। **यह किसी देश की ठोस ऐतिहासिक और समकालीन परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि फासीवादी उभार किस श्रेणी या ईकाई का उपयोग करेगा, ताकि वह एक काल्पनिक शत्रु का निर्माण कर सके।** जर्मनी में यह आर्य नस्ल ही हो सकता था, कई बाल्कन देशों के फासीवादी उभार में यह एथनिक पहचान ही हो सकती थी और भारत में यह हिन्दू धार्मिक पहचान ही हो सकती थी। **लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि नात्सीवाद का मूल और सार नस्लवाद था। नस्ल वह श्रेणी या ईकाई थी, जिसका जर्मन फासीवादी उभार ने इस्तेमाल किया क्योंकि उसे उस देश में ऐतिहासिक तौर पर पहले से उपलब्ध और पूर्वप्रदत्त इकाई या श्रेणी के तौर पर वही श्रेणी मिली।** किसी भी देश में फासीवादी उभार उस देश में ऐतिहासिक तौर पर उपलब्ध बहुसंख्यक पहचान का ही इस्तेमाल करता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि फासीवाद का विचारधारात्मक आधार उस पहचान के आधार पर पैदा होने वाली कोई सामान्य कट्टरता है।

बहुत से लोग मुसलमान विरोधी हो सकते हैं, हिन्दू कट्टरतावादी होते हैं, हिन्दू पुनरुत्थानवादी हो सकते हैं, और सप्तसिन्धु और हिमालय की भूमि को आर्यावर्त मान सकते हैं, अपनी पुण्य और पितृभूमि मान सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या इससे उनके विचारों और राजनीति के चरित्र को फासीवादी कहा जा सकता है? इस तर्क से बंकिम चन्द्र भी फासीवादी हो जाते हैं, कुछ शुरुआती राष्ट्रवादी जो कि युगान्तर और अनुशीलन जैसी संस्थाओं में थे, वे भी फासीवादी हो जाएंगे, तिलक भी फासीवादी हो जाएंगे। **यह समझ लेना बहुत जरूरी है कि हिन्दू पुनरुत्थानवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद, हिन्दू कट्टरता ही हिन्दुत्व फासीवाद नहीं है।** 'साफ्ट हिन्दुत्व्' एक पॉप्युलर मगर राजनीतिक तौर पर असटीक (**inaccurate**) शब्द है जो कि पत्रकारिता की शब्दावली में इसलिए चल गया क्योंकि हिन्दुत्व फासीवादी पार्टी भाजपा आक्रामक तरीके से हिन्दू पहचान का इस्तेमाल करती है, जबकि *रक्षात्मक मुद्रा में आकर* कांग्रेस हिन्दू पहचान का रक्षात्मक इस्तेमाल करती है। **हिन्दू पहचान के तुष्टिकरण को हिन्दुत्व कहना, इस शब्द को ही एक खाली 'कण्टेनर' बना देता है, जिसमें जो भी चाहे कुछ भी भर सकता है।** हिन्दुत्व विचारधारा का अर्थ केवल मुसलमान-विरोध या सप्तसिन्धु से हिमालय तक की भूमि को अपनी पुण्यभूमि और पितृभूमि कहना नहीं है; ये तो वे अवधारणाएं हैं जोकि हिन्दुत्व की विचारधारा इन निर्मितियों को देती है। **सावरकर की परिभाषा का मूल यह है कि इसमें अन्य और अनन्य (other and non-other) को स्पष्ट रूप में परिभाषित करके, दो समुदायों, यानी कि मुसलमानों और ईसाइयों को उससे बाहर किया गया है; सिख, जैन, बौद्ध सभी के लिए यह पितृभूमि और पुण्यभूमि हो सकती है क्योंकि वे इसी पुण्यभूमि में पैदा हुए धर्म हैं और इस रूप में हिन्दू अस्मिता और संस्कृति का अंग हैं;** लेकिन चूंकि मुसलमान और ईसाई धर्म और इन्हें मानने वालों की पुण्यभूमि बाहर है, इसलिए इसमें वे नहीं शामिल हो सकते। सावरकर ने फासीवाद के लिए जरूरी शुद्ध रूप से विचारधारात्मक राष्ट्रीय समुदाय के लिए यह परिभाषा क्यों बनायी? इसलिए क्योंकि भारतीय ऐतिहासिक सन्दर्भ में ऐसी परिभाषा गढ़ना ज्यादा आसान भी था और ज्यादा प्रभावी भी। **क्यों?** क्योंकि मुसलमानों और ईसाइयों को आसानी से आक्रान्ता के रूप में पेश किया जा सकता था। जर्मनी में हिटलर ने यहूदियों को अन्य के रूप में क्यों निर्मित किया? इसलिए क्योंकि उन्हें बाहर से आये लोगों के तौर पर आसानी से चित्रित किया जा सकता था, जो कि जर्मन आर्य नस्ल के लिए खतरा थे।

दूसरी बात, जो कि सावरकर को किसी भी अन्य हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवादी से अलग करती थी वह यह थी कि अपने प्रारंभिक दौर को छोड़कर, जबकि उसने अभी हिन्दुत्व विचारधारा के निर्माण के काम को शुरू भी नहीं किया था, **सावरकर का हिन्दुत्व फासीवाद कभी राष्ट्रवादी और उपनिवेशवाद-विरोधी नहीं था और न ही कभी देश की स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेजों से लड़ने की वकालत करता था।** हमने सावरकर की पूरी विचार-यात्रा को संक्षेप में अपने पिछले जवाब में पेश किया था कि वह किस तरह से फासीवादी विचारों के संपर्क में आया और किस तरह से उसने हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा के निर्माण के कार्य को शुरू किया। यह हिन्दुत्व की विचारधारा किन वर्गों का प्रतिनिधित्व करती थी? भारत के उभरते हुए टटपुंजिया वर्ग के, विशेष तौर पर दुकानदारों और छोटे पूंजीपतियों के वर्ग के और साथ ही पेशेवर मध्यवर्ग के एक हिस्से का, जो कि अपने भविष्य को असुरक्षित पाते थे, असुरक्षा की भावना में जी रहे थे और पुनरुत्थानवादी विचारों से प्रभावित थे। उनके सामने मुसलमानों को, न कि ब्रिटिश शासन को, प्रमुख शत्रु के तौर पर पेश करना आसान था। इस प्रारंभिक दौर में इन फासीवादियों और अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता के अपवित्र सम्बन्धों पर भी काफी शोध हो चुका है, जिससे शायद श्यामसुन्दर वाकिफ नहीं हैं।

इसलिए यह समझना बहुत जरूरी है कि एक ओर हिन्दू धर्म, हिन्दू कट्टरता, हिन्दू पुनरुत्थानवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद और दूसरी ओर हिन्दुत्व फासीवाद की विचारधारा में बहुत अन्तर है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हिन्दू धार्मिक पहचान हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा द्वारा इस्तेमाल की जाती है। यह तो लाजिमी सी बात है कि जो फासीवादी विचारधारा हर-हमेशा बहुसंख्यवाद (majoritarianism) को अपना आधार बनाती है, वह भारत में इसी सामुदायिक पहचान का इस्तेमाल करेगी। **श्यामसुन्दर इन्हीं चीज़ों में कोई फर्क नहीं समझते हैं।**

एक और चीज़ जो समझना अनिवार्य है वह यह है कि हिन्दुत्व फासीवाद एक प्रतिक्रियावादी *सामाजिक आन्दोलन* है। कांग्रेस कोई प्रतिक्रियावादी *सामाजिक आन्दोलन* नहीं है। जब वह सेण्टर से दोलन करके दक्षिण की ओर जाती है, तब भी वह एक धुर बुर्जुआ प्रतिक्रिया का ही प्रतिनिधित्व करती है। किसी फासीवादी आन्दोलन के समान उसके पीछे कोई काडर-आधारित पार्टी, एक फासीवादी विचारधारा और टटपुंजिया वर्गों का कोई प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन नहीं खड़ा होता। हो भी नहीं सकता है क्योंकि उसकी विचारधारा हिन्दुत्व फासीवादी है ही नहीं, चाहे वह कभी हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी भावनाओं का तुष्टिकरण करे, चाहे वह किसी अन्य धर्म का तुष्टिकरण करे, जैसा कि शाह बानो मामले के समय उसने किया था।

श्यामसुन्दर के हिन्दुत्व की फासीवादी विचारधारा और आन्दोलन के विश्लेषण से वर्ग विश्लेषण ग़ायब है। वह मूर्खतापूर्ण तरीके से हिन्दू धर्म की अस्मिता और प्रतीकों के प्रयोग के आधार पर हिन्दुत्व का मूल हिन्दू धर्म को बता देते हैं; ऐसे तर्क से भारत की हिन्दू आबादी का 90 प्रतिशत हिस्सा हिन्दुत्व फासीवादी हो जायेगा, जिसमें कि व्यापक मज़दूर आबादी भी शामिल होगी। सारे मूर्ख कठमुल्लावादियों के समान श्यामसुन्दर को प्रतीतिगत यथार्थ ही सारभूत यथार्थ नज़र आता है, हालांकि इस मामले में तो प्रतीतिगत यथार्थ भी ऐसा नहीं है।

अब आइये देखते हैं कि अपनी इस बुनियादी समझ के अभाव के कारण श्यामसुन्दर ने किस प्रकार दर्जन भर पन्ने गन्दे किये हैं, जिससे उनकी एक भी बात साबित नहीं होती।

हिन्दू धर्म, हिन्दू पुनरुत्थानवाद और हिन्दुत्व के बारे में श्यामसुन्दर का झूठ, बातबदलूपन और बहस से पलायन

पहले तो श्यामसुन्दर कहते हैं कि उन्होंने गांधी के हिन्दू पुनरुत्थानवाद और फासीवादी हिन्दुत्व में फर्क किया है और यह साबित करने के लिए अपने इस उद्धरण को दुबारा पेश करते हैं: "गांधी जी का हिन्दुत्व उनकी अपनी व्यक्तिगत आस्था का मामला था न कि अन्यों पर जबरदस्ती थोपे जाने वाला हिन्दुत्व। हमारा मकसद सिर्फ यह है कि गांधी जी ने यहां हिन्दुत्व का निचोड़ पेश कर दिया है और अपने बारे में भी खुलेआम और डंके की चोट पर स्वीकार किया कि वे एक सनातनी हिन्दू हैं, गौ-रक्षा और उन तमाम हिन्दू ग्रंथों पर विश्वास करते हैं जो वर्ण एवं जाति व्यवस्था के रक्षक हैं...***फिर दोहरा दें कि ऊपर गांधी जी के हवाले से जो उद्धृत किया गया वही हिन्दुत्व का निचोड़ है। चाहे इसे हिन्दू धर्म का आधार कहो और चाहे हिन्दुत्व के आधार पर जीवन शैली का।*** हिन्दुत्व की जीवन शैली निराधार नहीं हो सकती। और यदि गांधी जी का ऊपर उद्धृत किया गया उद्धरण ही हिन्दुत्व की जीवन शैली का आधार है तो फिर इस जीवन शैली को देश के मुसलमान और देश के दलित कैसे अपना सकते हैं?...हम देखते हैं कि कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राहुल गांधी मोदी जी के साथ हिन्दुत्व की प्रतिस्पर्धा में पीछे नहीं रहना चाहते हैं। वे भी मोदी जी की भांति अब मंदिरों में जाने लगे हैं, हाथ में पूजा की थाली लेकर और माथे पर चंदन, हल्दी, गेरू लगाकर हिन्दू भगवानों और देवी-देवताओं की आरती उतारते हैं और यहां तक कि अपने हिन्दू होने का प्रमाण देने के लिए अपने पहने हुए जनेऊ तक का भी प्रदर्शन करते हैं। लेकिन ***अभी*** वे देश को न तो हिन्दू राष्ट्र बनाने की बात करते हैं और न ही अपने हिन्दुत्व को अन्यों के ऊपर जबरदस्ती थोपे जाने का इरादा रखते हैं...वे यह भी नहीं कहते कि भारत में यदि रहना है तो 'वंदे मातरम' कहना होगा।"

अब पाठक स्वयं इस उद्धरण को पढ़ें। **क्या इन महोदय ने गांधी के हिन्दू पुनरुत्थानवादी विचारों को ही हिन्दुत्व का सारतत्व नहीं बताया है? क्या यह त्रुटि थी (क्योंकि श्यामसुन्दर कहते हैं कि उन्होंने एक पंक्ति में *गलती से (!!)* हिन्दू धर्म के निचोड़ को हिन्दुत्व का निचोड़ 'लिख दिया' है)? नहीं! श्यामसुन्दर फिर से झूठ बोल रहे हैं। इन्होंने बस गलती से 'लिख नहीं दिया' बल्कि इसके लिए पूरा तर्क पोषण किया है कि 'हिन्दुत्व की जीवन शैली कहो या हिन्दू धर्म का आधार कहो, एक ही बात है।' *अब यह अपनी बात से मुकर कर भागने का प्रयास कर रहे हैं।***

श्यामसुन्दर कहते हैं कि उन्होंने साफ कहा है कि कांग्रेस अपने हिन्दुत्व को थोपना नहीं चाहती, यही संघ के हिन्दुत्व से उनके हिन्दुत्व का एकमात्र अन्तर नहीं है, बल्कि उन्होंने यह भी कहा है कि कांग्रेस भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती। **पहली बात तो यह है कि इन दोनों बातों में कोई फर्क नहीं है; यदि कांग्रेस भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहती है, तो इसका यही अर्थ है कि वह अपने हिन्दुत्व को थोप रही है। दूसरी बात यह कि श्यामसुन्दर पूरी बेशर्मी से झूठ बोल रहे हैं; उन्होंने यह नहीं कहा कि कांग्रेस भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती, बल्कि यह कहा है कि वह *"अभी"* भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती; यानी कि कभी ऐसा समय आने की संभावना है, जबकि वह भी भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहे। हमने अपने पिछले जवाब में भी ठीक यही बात कही थी कि आपका "अभी" से क्या मतलब है। लेकिन अब श्यामसुन्दर बहस में इधर-उधर भाग रहे हैं और कह रहे हैं कि हमने तीन अन्तर बताए हैं: एक कि कांग्रेस अपना हिन्दुत्व थोपती नहीं, दूसरा कि वह हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती ("अभी" को वह गोल कर गये हैं) और तीसरा कि वह वन्दे मातरम बोलने पर मजबूर नहीं करते। अब पाठक ही बताएं कि यह तीन अलग-अलग बातें हैं, या एक ही बात। वास्तव में, एक ही बात है; बाद वाली दोनों चीजें तो पहली ही बात का उदाहरण मात्र हैं। वास्तव में, श्यामसुन्दर ये दोनों ही बातें कह रहे थे जिससे कि अब वह दुम दबाकर भाग रहे हैं: पहली बात, हिन्दू धर्म और**

<u>हिन्दुत्व का निचोड़ एक ही है और दूसरी बात, कि कांग्रेस और भाजपा के हिन्दुत्व में यही फर्क है कि कांग्रेस उसे अभी थोप नहीं रही है और भाजपा उसे थोप रही है।</u> बाद में, ऐसा लगता है कि शायद किसी सूझबूझ वाले व्यक्ति ने इन्हें समझाया है कि "गुरू, यहां तो तुम फंस गये हो, किसी तरह इस बात से ही कट लो।" लेकिन आप ऐसे अपनी लिखी गयी बात से कट थोड़े ही सकते हैं। **<u>याद रखें! लिखा हुआ कभी समाप्त नहीं होता!</u>** और देर-सबेर सांचो पांजा-टाइप लोग भी सच्चाई समझ ही जाते हैं! पाठक यदि श्यामसुन्दर के पहले पत्र को पूरा पढ़ें तो उन्हें तत्काल ही साफ हो जायेगा कि श्यामसुन्दर अपनी लिखी बातों में फंस गये हैं और अब उनसे पलायन करने के लिए उछल-कूद मचाते-मचाते बेढब अवस्था में पहुंच गये हैं।

मज़ेदार बात यह है कि अपनी इस बात से मुकरने के बाद अपने इस नये जवाब में श्यामसुन्दर फिर से बेताल की तरह जाकर उसी डाल से लटक गये हैं और यह साबित करने का प्रयास करने लगे हैं कि हिन्दुत्व की जड़ तो हिन्दू धर्म में ही है और हिन्दुत्व फासीवाद को जन्म देने का काम सावरकर या गोलवलकर ने नहीं किया है बल्कि स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने किया है! **यानी ये लोग भारत के पहले फासीवादी दार्शनिक थे! (देखिये, आप लोग फिर हंस रहे हैं! हंसिये मत!) इसके लिए उन्होंने दे उद्धरण पर उद्धरण ठोंक डाले हैं विवेकानन्द और दयानन्द से, यह साबित करने के लिए कि (1) इन्होंने भी भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि जैसा कुछ माना है (2) इन्होंने भी लगभग वही भौगोलिक क्षेत्र बताया है, जो कि सावरकर ने बताया था (3) ये भी मुसलमानों से घृणा और नफरत का प्रचार करते थे (4) ये भी राष्ट्र का आधार धर्म को मानते थे (सावरकर धर्म को नहीं मानते थे, चाहें उन्होंने अपने पुण्यभूमि और पितृभूमि की संकल्पना के लिए हिन्दू राष्ट्रवादियों या सन्तों द्वारा परिभाषित भौगोलिक सीमा का इस्तेमाल ही क्यों न किया हो)। इस प्रकार की समझदारी केवल यही दिखलाती है कि (1) श्यामसुन्दर को, फासीवाद क्या है, इसके बारे में *<u>किसी की मदद से</u>* अच्छी मार्क्सवादी पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता है, (2) *<u>किसी की मदद से,</u>* हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा का इतिहास पढ़ने की आवश्यकता है, (3) *<u>किसी की मदद से,</u>* हिन्दू पुनरुथानवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद का इतिहास पढ़ने की आवश्यकता है।**

अब आइये देखते हैं कि अपने गड्ड-मड्ड चिन्तन से श्यामसुन्दर क्या साबित करने का प्रयास कर रहे हैं और वह किस कदर अज्ञानतापूर्ण और हास्यास्पद है।

हमने पिछले जवाब में उद्धरणों समेत दिखलाया कि सावरकर के लिए हिन्दुत्व एक राजनीतिक विचारधारा थी, एक फासीवादी विचारधारा और यह हिन्दू धर्म का इस्तेमाल करती है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे ज़ायनवाद (Zionism) एक धुर दक्षिणपंथी और फासीवादी राजनीतिक विचारधारा है, लेकिन यह स्वयं जूडाइज्म (Judaism) नहीं है। **कोई भी धुर दक्षिणपंथी या फासीवादी राजनीतिक विचारधारा जिस ज़मीन पर पैदा होगी, उस ज़मीन पर इतिहास-प्रदत्त मूल्यों, मान्यताओं, निर्मितियों, कल्पनाओं, पहचानों आदि का ही प्रयोग करेगी।** दूसरी बात यह है कि नात्सीवाद हो, ज़ायनवाद हो, इतालवी फासीवाद हो, हिन्दुत्व फासीवाद हो या फासीवाद की कोई और किस्म, इन सबकी ख़ासियत मानवतावाद-विरोधी नीत्शेवाद और स्पेंग्लर जैसों का चिन्तन रहा है, जिसकी एक खासियत एक भोंड़े किस्म का भौतिकवाद भी रहा है। ठीक उसी प्रकार वी. डी. सावरकर पर निरीश्वरवाद और कर्मकाण्ड-विरोधी विचारों का असर केवल उनके द्वारा कहे गये शब्दों के आधार पर नहीं, बल्कि उनके ऊपर हुए तमाम शोध द्वारा सिद्ध तथ्य है। **लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर ने न तो सावरकर की रचनाओं को पढ़ा है और न ही सावरकर पर हुए शोध को, इसलिए वह समझ रहे हैं कि हम सावरकर के इन झूठे दावों में फंस गये हैं कि वह नास्तिक हैं और कर्मकाण्ड विरोधी हैं! <u>कैसी मूर्खतापूर्ण बात है</u>**

यह? सावरकर यह दावा किसके लिए और क्यों करेंगे? उनकी राजनीतिक विचारधारा और हितों के लिए तो ज्यादा उपयुक्त यह है कि वह हिन्दू बहुसंख्यक जनता के बीच यह दिखाएं कि वह कितने धर्म-परायण हिन्दू हैं और कितने कर्मकाण्डी हैं! हिन्दुत्व की विचारधारा को एक धार्मिक विचारधारा के रूप में पेश करना उनके लिए ज्यादा फायदेमन्द है। ऐसे में, सावरकर के पास कोई कारण नहीं है कि वे हिन्दुत्व को धर्म से स्वायत्त दिखाने की छद्म छवि का निर्माण करें। यही कारण है कि सावरकर के इन विचारों को संघ कभी प्रचारित नहीं करता। उल्टे सावरकर के इन विचारों को उन बौद्धिकों और शोधकर्ताओं ने प्रचारित किया और प्रकाश में लाया, जो कि हिन्दुत्व-विरोधी हैं। लेकिन बुनियादी सामान्य-बोध के अभाव के कारण श्यामसुन्दर यह लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा की समझ को देखिये कि वे सावरकर द्वारा किए गए ***दिखावटी दावों के जाल में*** (!!) फंस कर रह गए और उनके बारे में बिल्कुल वैसा ही मूल्यांकन करते हैं जैसा कि सावरकर चाहते थे। अभिनव सिन्हा ने सावरकर को 'कर्मकाण्डीय धर्म का धुर विरोधी' और 'नास्तिक' तक करार दे दिया जिसका मायने होगा कि सावरकर ***हिन्दुत्व धर्म*** (!!) से परे है और एक ***धर्मनिरपेक्ष नींव*** पर खड़ा है। अभिनव सिन्हा लिखते हैं कि 'हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर के लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था।' सावरकर भी तो यही चाहते थे कि ***लोग उनके झांसे में आ जाएं*** तथा उनके खाने और दिखाने के दांतों के बीच फर्क न कर पाएं। फासीवादी हिन्दुत्ववादियों का हमेशा ही यह कुप्रयास रहा है कि उनके फासीवादी हिन्दुत्व को हिन्दू धर्म से जोड़कर और हिन्दू धर्म पर आधारित करके न देखा जाये। जबकि हिन्दू धर्म के बिना हिन्दुत्व खड़ा ही नहीं रह सकता।"

यह पूरा कथन श्यामसुन्दर की अज्ञानता की सीमाओं को उजागर करता है। यहां एक बार फिर से श्यामसुन्दर ने अपनी शर्लक होम्स वाली टोपी पहन ली है और मूर्ख षड्यन्त्र सिद्धान्तकारों (conspiracy theorists) के समान सावरकर के "षड्यन्त्र" को बेनकाब करने निकल पड़े हैं! पहली बात तो यह कि सावरकर के इन विचारों को संघ परिवार कभी प्रचारित नहीं करता। **मिसाल के तौर पर, गोहत्या के विषय में हमने पिछले जवाब में सावरकर को उद्धृत किया था; उस पर श्यामसुन्दर की बत्ती गुल है, इसलिए उन्होंने कुछ कहा ही नहीं है। क्योंकि गोरक्षा उनके अनुसार सनातन हिन्दू धर्म का एक आधार है और सनातन हिन्दू धर्म हिन्दुत्व का सार है, या कम-से-कम उसका मूल स्रोत है। अब श्यामसुन्दर यह तो कह नहीं सकते कि गोहत्या पर सावरकर के विचार मूर्ख बनाने के लिए थे! क्योंकि कोई भी सामान्य-बोध वाला व्यक्ति पूछेगा : "किसको?"** मतलब कि किन लोगों के बारे में सावरकर मानते थे कि उन्हें यह लगे कि सावरकर गोहत्या को कोई अनमनीय सैद्धान्तिक मसला नहीं मानते हैं और मानते हैं कि कोई वृक्ष या कोई पशु मनुष्य के लिए अनुपयोगी हो जाये तो उसके अस्तित्व को समाप्त किया जा सकता है? क्या सावरकर हिन्दू बहुसंख्या को इससे मूर्ख बनाने का का प्रयास कर रहे थे? **षड्यन्त्र सिद्धान्तकारों की यही समस्या होती है; उन्हें 'अंगूर' फिल्म के संजीव कुमार की तरह हर जगह *"गैंSSSग"* की साजिश नज़र आती है!**

दूसरी बात, हमने हिन्दुत्व को धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा है। श्यामसुन्दर जानबूझकर हमारी बात को विकृत कर रहे हैं। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ होता है राज्य और सामाजिक जीवन से धर्म का पूर्ण अलगाव। जो भी शक्ति ऐसा न करती हो, उसे धर्मनिरपेक्ष नहीं माना जा सकता। सारे फासीवादियों ने धर्म का किसी न किसी रूप में इस्तेमाल किया है, जैसे कि मुसोलिनी ने चर्च का इस्तेमाल किया था; लेकिन इससे फासीवादी राजनीतिक विचारधारा का मूल ईसाई धर्म नहीं हो जाता है। श्यामसुन्दर जानबूझकर विरोध पक्ष की अवस्थिति को ऐसे पेश करते हैं कि अपने सांचो पांजाओं के समक्ष उसे ध्वस्त कर सकें। लेकिन ऐसा कभी हो नहीं पाता है; सारे

दोन किहोते इसी मुग़ालते में रहते हैं कि उन्होंने अपने सांचो पांजाओं को मूर्ख बना दिया है; लेकिन सांचो पांजा लोग सब समझते हैं!

उत्तर-वैदिक काल से लेकर सावरकर तक पुण्यभूमि की अवधारणा और श्यामसुन्दर का भारतीय इतिहास के बारे में निपट अपढ़पन

इसके बाद श्यामसुन्दर लिखते हैं: "पहली बात तो यह कि सावरकर की पुण्य भूमि की अवधारणा हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति से सराबोर है और दूसरी बात यह कि उनकी यह अवधारणा उनकी अपनी मौलिक न होकर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द के हिन्दू पुनरुत्थानवादी साहित्य से ली हुई है, जिसकी चर्चा थोड़ा आगे चलकर की जायेगी।" इसमें श्यामसुन्दर ने एक बार फिर अपने अज्ञान का केंचुल नृत्य कर डाला है। **पहली बात, जब भी कोई हिन्दू धर्म की बात करता है, तो पहला प्रश्न होता है कौन-सा वाला? वैष्णव, शाक्त, कश्मीरी शैववाद, या कोई और। इस विषय पर इतना विपुल शोध कार्य मौजूद है कि हमें ताज्जुब है कि अपने आपको मार्क्सवादी कहने वाला और भारत में रहने वाला कोई व्यक्ति कैसे ऐसी अज्ञानतापूर्ण बातें कर सकता है? रोमिला थापर, डी.एन. झा से लेकर डी.डी. कोसाम्बी और रामशरण शर्मा तक ने दिखलाया है कि भारत में ऐतिहासिक तौर पर कोई एक हिन्दू धर्म या संस्कृति रही ही नहीं है और आज भी नहीं है। इसीलिए तो संघ परिवार की मशीनरी आज तक हिन्दू धर्म और हिन्दू अस्मिता का एक एकलवादी संस्करण तैयार करने में लगी हुई है।**

दूसरी बात यह है कि सावरकर या कोई फासीवादी दार्शनिक अपनी राजनीतिक परिकल्पना के मूल तत्व अपने दिमाग़ में नहीं गढ़ता है, बल्कि इतिहास द्वारा प्रदत्त तौर पर इन तत्वों को चुनता और लेता है। **तीसरी बात, अगर श्यामसुन्दर को लगता है कि पुण्यभूमि और पितृभूमि की संकल्पना और उसकी भौगोलिक सीमा रेखा को दयानन्द और विवेकानन्द ने गढ़ा है, तो फिर उन्होंने एक बार फिर जबर्दस्त ज्ञान का प्रदर्शन कर दिया है! आर्यावर्त की संकल्पना और सिन्धु और सप्तसिन्धु के बीच मौजूद एक एकल भूमि की संकल्पना दयानन्द और विवेकानन्द से बहुत पुरानी है। वास्तव में, किसी विशिष्ट भूभाग की ऐसी संकल्पना कोई व्यक्ति कभी कर ही नहीं सकता, बशर्ते की पहले से उसकी राजनीतिक शर्तें मौजूद न हों। आज के भारतीय उपमहाद्वीप में पहली बार ऐसे साम्राज्यों के उदय के साथ ही ऐसी परिकल्पनाएं पैदा होने लगी थीं, जो कि मोटा-मोटी उस भूभाग को समेटते थे, जिसे हम आज के भारत के तौर पर जानते हैं।** आइये देखते हैं कि यह संकल्पना कब से मौजूद है और किस प्रकार विकसित हुई है।

'मनुस्मृति' में हिमालय और विन्ध्य के बीच और बंगाल की खाड़ी (पूर्वी समुद्र) और अरब सागर (पश्चिमी समुद्र) के बीच के पूरे क्षेत्र को आर्यावर्त कहा गया है। **'वशिष्ठ धर्म सूत्र'** में सरस्वती नदी के और अरब सागर से पूर्व में कालकवण तक और दक्षिण परियत्र पर्वत और विन्ध्य से लेकर उत्तर में हिमालय तक के क्षेत्र को आर्यावर्त कहा गया है। **'बौधायन धर्मसूत्र'** में भी आर्यावर्त की ऐसी ही परिभाषा दी गयी है, जो कि सप्त सिन्धु यानी भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमांत, हिमालय, पूर्वी समुद्र (बंगाल की खाड़ी) तथा पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) के बीच मौजूद है। **इन ग्रन्थों में यह परिकल्पना क्यों पैदा हुई? क्योंकि ये सभी ग्रन्थ तब रचे गये थे, जबकि भारतीय उपमहाद्वीप में पहला ऐसा साम्राज्य पैदा हो चुका था, जोकि मोटे तौर पर इस पूरी भूमि को अपने भीतर समेटता था।** 'मनुस्मृति' की रचना की तिथि आधुनिकतम शोधों के अनुसार दूसरी सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी ईसवी के बीच में है और अब इतिहासकारों के बीच यह एक हल मुद्दा है। इसी प्रकार,

अन्य दो धर्मशास्त्र भी पहले सर्वभारतीय साम्राज्यों के पैदा होने के बाद ही रचे गये हैं। **विवेकानन्द या दयानन्द ने इस संकल्पना को गढ़ा नहीं, बल्कि पुराने धर्मग्रन्थों से लिया है और पुराने धर्मग्रन्थों में यह संकल्पना तभी प्रकट हुई जब इसका भौतिक आधार निर्मित हुआ। खुदा का लाख-लाख शुक्र है कि श्यामसुन्दर को यह नहीं पता था कि इन प्राचीन धर्मग्रन्थों में ही यह भौगोलिक संकल्पना मौजूद थी, वरना वह मौर्य साम्राज्य को दुनिया का पहला फासीवादी राज्य घोषित कर देते। औंधी खोपड़ियां कुछ भी कर सकती हैं!**

एक एकल हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की हिन्दू पुनरुत्थानवादी, आर्यसमाजी और संघी अवधारणाएं और श्यामसुन्दर की इतिहासबोध-हीनता

अब आते हैं हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति पर। ब्रेष्ट की भाषा में जब कोई किसी एक "हिन्दू धर्म और संस्कृति" की बात करता है तो मन करता है कि उसकी टोपी हवा में उछाल दूं! आइये, जिस वस्तु को आज हिन्दू धर्म कहा जाता है, उस पर भी एक निगाह डाल ली जाय। इस मामले में शुरू से शुरुआत करना ही बेहतर होगा, ताकि श्यामसुन्दर की पूरी अज्ञानता को सही ढंग से अनावृत्त किया जा सके।

'हिन्दू' शब्द ईरानियों का दिया हुआ है, जिसके अनुसार जो सिन्धु के उस पार रहते थे, वे 'हिन्दू' थे, क्योंकि उस दौर की फारसी में 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में ही होता था। संस्कृत में 'सिन्धु' का अर्थ था नदी और भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त को ही सप्तसिन्धु की भूमि कहा जाता था, क्योंकि वहां प्राचीन काल में सात नदियां बहती थीं। **अगर 'हिन्दू' शब्द की बात करें, तो आदि शंकर के पूरे रचनाकर्म में कहीं भी यह शब्द नहीं आता है। वास्तव में, तेरहवीं सदी से पहले सनातन धर्म के या उसके किसी भी उपधर्म या उपसंस्कृति के किसी भी ग्रन्थ में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग धर्म के रूप में हुआ ही नहीं है, बल्कि एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र या फिर उसमें रहने वाले लोगों के अर्थ में हुआ है।** इससे पहले सनातन धर्म की सभी शाखाएं और उपशाखाएं अपनी दार्शनिक, आध्यात्मिक व भौतिक परम्पराओं और व्यवहार को अपने विशिष्ट नामों, जैसे कि वैष्णव, शाक्त, महायान, वज्रयान, अद्वैत, शैव आदि नाम से ही दर्ज करते थे। यदि आप छठीं या सातवीं सदी पूर्व के विदेशी स्रोतों में जाएं, जैसे कि **अवेस्ता-जेंद** (जिसमें कि वेदों में उल्लिखित 'सप्त सिंधवा' को **'हप्त हिन्दू'** लिखा गया है), या फारसी **राजा दारियस** के छठीं सदी ईसवी पूर्व के शिलालेख को देखें, जिसमें इस पूरी भूमि को **'हिंदूश'** कहा गया है। अगर थोड़ा आगे आएं और आठवीं सदी ईसवी की बात करें तो सप्तसिन्धु के पार रहने वाले लोगों और उनके देश को फारसी स्रोत **'चचनामा'** में **हिन्दुवान** या **हिन्दवी** कहा गया है। 11वीं सदी के अल-बरूनी के **'तारीखे-अल-हिन्द'** में सभी गैर-मुसलमानों को (जिसमें सनातन धर्म की सभी शाखाओं और उपशाखाओं को मानने वाले, बौद्ध, जैन, व मूल निवासी आस्था परम्पराएं सभी शामिल थीं) हिन्दू कहा गया है। बारहवीं सदी के चन्द बरदाई के **'पृथ्वीराज रासो'** में भी पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के बीच के युद्ध को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का युद्ध नहीं बल्कि हिन्दुओं और तुर्कों के बीच का संघर्ष बताया गया है; यानी, दो इलाकों के बसने वाले समुदायों के बीच का संघर्ष न कि दो धर्मों के बीच का संघर्ष। इसे इस रूप में केवल बाद में हिन्दू कट्टरपंथियों द्वारा पेश किया गया है।

हमें 'हिन्दू' का शब्द का इस्तेमाल एक धर्म या धार्मिक समुदाय यानी 'हिन्दू धर्म' के रूप में कब मिलता है? 16वीं से 18वीं सदी के बीच के कुछ बंगाली गौडिया वैष्णव स्रोतों ने पहली बार हिन्दू शब्द का इस्तेमाल यवनों, यानी विदेशियों से अपने आपको अलग करने के लिए किया गया। सोलहवीं सदी के *चैतन्य चरितामृत* और सत्रहवीं सदी के *भक्त माला* में हमें पहली बार 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग एक धर्म और धार्मिक समुदाय के रूप में मिलता है। लेकिन अभी भी हिन्दू धर्म का यह प्रयोग एक निश्चित क्षेत्र की सनातनी परंपराओं और धर्म

तक ही सीमित था न कि पूरे भारत में हिन्दू धर्म और हिन्दू परंपराओं के रूप में, क्योंकि ऐसी कोई एक चीज़ थी ही नहीं और आज भी, संघ परिवार के तमाम प्रयासों के बावजूद नहीं है। हिन्दू, हिन्दूवाद और हिन्दुस्तान शब्द के राजनीतिक अर्थ पहली बार औपनिवेशिकीकरण के बाद पैदा हुए, जब राष्ट्रवाद की पुनरुत्थानवादी धारा ने राष्ट्र के पुनरुत्थान और प्रगति के लिए हिन्दू धर्म और हिन्दू जनता को एक करने की आवश्यकता पर बल दिया। इनमें से अधिकांश अंग्रेजी शासन के विरुद्ध थे और स्वतन्त्रता या स्वशासन की मांग कर रहे थे; स्वयं दयानन्द सरस्वती ने 1876 में स्वराज्य की बात करते हुए इसे शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप बताया था। लेकिन श्यामसुन्दर को शायद अपनी पुरानी शिक्षाएं याद नहीं हैं! गुरुकुल में अच्छा चेला बनना भी सबके बूते की बात नहीं होती! भारतीय दर्शन के पूरे इतिहास को यदि आप अच्छे मार्क्सवादी शोध अध्ययनों के माध्यम से पढ़ें (जैसे कि देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, डी.डी. कोसांबी, एक हद तक दामोदरन आदि) तो आप इस पूरे इतिहास को समझ सकते हैं। **लेकिन अफसोस कि श्यामसुन्दर ने इस इतिहास का कोई अध्ययन नहीं किया है, और इसीलिए इतनी अज्ञानतापूर्ण बात करते हैं कि उनसे बहस करना भी मुश्किल हो जाता है।**

इसलिए हमारा सवाल यही है: **यदि हिन्दू धर्म कोई एक एकल परम्परा के तौर पर भारतीय उपमहाद्वीप के पूरे इतिहास में मौजूद ही नहीं रहा तो कौन-सा हिन्दू धर्म है, जो कि हिन्दुत्व का आधार और पूर्वशर्त है? हम बताते हैं: यह हिन्दू "धर्म" वास्तव में स्वयं एक राजनीतिक निर्मिति (political construct) है। इस राजनीतिक निर्मिति के निर्माण में कई लोगों का योगदान है, जिसमें कि हिन्दू राष्ट्रवादी, पुनरुत्थानवाद, और आरंभिक फासीवादी चिन्तक, सभी आते हैं। लेकिन इस राजनीतिक निर्मिति को धर्म से स्वायत्त करने का काम पहली बार फासीवादी चिन्तकों ने किया। धर्म और धर्म से जुड़ी पॉप्युलर भावनाओं, मिथकों, कल्पनाओं, निर्मितियों का फासीवादी राजनीति इस्तेमाल करती है। भारत में हिन्दुत्व फासीवाद हिन्दू धर्म का ही इस्तेमाल कर सकता है क्योंकि उसे यही सामाजिक-धार्मिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ पूर्वप्रदत्त है। जायनवाद, यहूदी धर्म का ही इस्तेमाल करेगा क्योंकि उसे एक फासीवादी विचारधारा के तौर पर वह सन्दर्भ ऐतिहासिक तौर पर पूर्वप्रदत्त है; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दुत्व की फासीवादी विचारधारा हिन्दू धर्म के दर्शन के ऊपर आधारित है या जायनवाद यहूदी धर्म के उसूलों पर आधारित है। ये दोनों ही धुर दक्षिणपंथी आधुनिक फासीवादी विचारधाराएं हैं, जो कि उन राजनीतिक निर्मितियों, कल्पनाओं, मिथकों आदि का इस्तेमाल कर रही हैं, जो कि उन्हें ऐतिहासिक तौर पर सहज प्राप्त हैं। यही बात श्यामसुन्दर की समझ में नहीं आ रही है।**

यही कारण है कि श्यामसुन्दर लगातार अप्रासंगिक तथ्य पेश किये जाते हैं। पृष्ठ 98, 99 पर वह सावरकर के शुद्धी अभियानों की बात करते हैं, भागवत द्वारा यह दावा किये जाने की बात करते हैं कि हिन्दुत्व का हिन्दू धर्म से सीधा रिश्ता नहीं है, बल्कि हिन्दू संस्कृति और अस्मिता से है, आदि और फिर यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि इन बातों से यह साबित होता है हिन्दुत्व का जड़, मूल, आधार हिन्दू धर्म है। हम बस यही कहेंगे कि इससे कुछ साबित नहीं होता है कि भागवत क्या बोलता है; **असल बात यह समझना है कि हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा एक विशिष्ट युग की पैदावार है: इजारेदार पूंजीवाद यानी साम्राज्यवाद के दौर की। यदि हिन्दू धर्म ने ही हिन्दुत्व फासीवाद को पैदा किया है, तो यह भी स्पष्ट करना पड़ेगा कि "हिन्दू धर्म" तो वेदों के काल से मौजूद है; तो फिर इसने वेदों के दौर में या उपनिषदीय दौर में, या पुराणिक दौर में या किसी और दौर में हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा को क्यों नहीं पैदा किया? यह 1910 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1920 के दशक में क्यों पैदा हुई?**

श्यामसुन्दर अगर यह मानते हैं कि आर्यावर्त की कल्पना, धर्म को भूमि से जोड़ने की शुरुआत दयानन्द और विवेकानन्द ने की थी और इस आधार पर उन्हें भारत का प्रथम फासीवादी चिन्तक माना जाना चाहिए, तो

इससे ज्यादा मूर्खतापूर्ण और कोई बात नहीं हो सकती है। इस तरह की सोच हिन्दू राष्ट्रवाद और हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा हिन्दुत्व फासीवाद में फर्क ही नहीं समझती। वास्तव में, इसे कहते हैं हिन्दुत्व फासीवादियों के झूठे दावों के झांसे में आ जाना! श्यामसुन्दर का यह कहना भारतीय इतिहास के विषय में उनकी प्रचण्ड मूर्खता को ही दिखलाता है: "बेशक हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म समानार्थी नहीं है पर हिन्दुत्व की जड़ हिन्दू धर्म में ही है। बिना हिन्दू धर्म के किसी भी प्रकार के हिन्दुत्व, यानी सॉफ्ट या हार्ड, की कल्पना करना असंभव है।" **केवल यह कथन श्यामसुन्दर के अज्ञान को अनावृत्त करने के लिए काफी है।**

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा अपने पूरे लेख में हिन्दुओं की पुण्यभूमि की कोई व्याख्या नहीं करते। यदि वे यह पता लगाते कि सावरकर का उस भूमि से जो हिन्दुओं की 'पितृभूमि' ही नहीं 'पुण्यभूमि' भी है और जिस भूमि के साथ एक हिन्दू का धर्म एकाकार हो चुका है तो उन्हें पता चल जाता कि वह 'पुण्यभूमि' असल में वही भूमि है जिस भूमि ने हिन्दुओं के वेदों, उपनिषदों, रामायण और महाभारत आदि महाकाव्यों, भवद्गीता, मनुस्मृति, पुराणों, हिन्दुओं के राम, कृष्ण आदि तमाम अवतारों को जन्म दिया।"

पहली बात, तो यह तथ्य ही गलत है जिस पर हम आगे आएंगे और दूसरी बात यह झूठ है कि हमने पुण्यभूमि की कोई व्याख्या नहीं की। देखिये हमने क्या लिखा था: "सावरकर के अनुसार, किसी एक भूखण्ड पर निवास करने वाले, उसे अपनी पितृभूमि (fatherland) और पुण्यभूमि (holy land) मानने वाले लोग एक राष्ट्र को संघटित करते हैं और इस राष्ट्र के हित की सेवा ही उनका धर्म होता है और इस रूप में धर्म को राष्ट्र-धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। वे लोग जो इसे अपनी पुण्यभूमि नहीं मानते, वे इस राष्ट्र के अंग नहीं हो सकते और यदि वे यहां रहते हैं तो उन्हें दोयम दर्जा स्वीकार करना होगा, जैसे कि मुसलमान और ईसाई, **जो कि मूलत: सप्तसिन्धु व सिन्धु (यानी सागर)** के बीच की भूमि के निवासी नहीं हैं। हिन्दुत्व का अर्थ सावरकर के लिए सीधे तौर पर धर्म से जुड़ा ही नहीं था। सावरकर ने लिखा था, "एक हिन्दू का धर्म हिन्दुओं की भूमि से एक हो चुका है; यह भूमि उसके लिए पितृभूमि ही नहीं पुण्यभूमि भी है।" *सावरकर के लिए हिन्दुत्व का आधार था एक राष्ट्र, एक जाति (नस्ल के अर्थ में) और एक संस्कृति। जैन, बौद्ध आदि इसका अंग हैं, मगर मुसलमान और ईसाई नहीं क्योंकि वे मूलत: इस भूमि, नस्ल, संस्कृति और राष्ट्र के अंग नहीं हैं और अपनी पुण्यभूमि किसी और स्थान को मानते हैं। यह सारी सोच हिन्दुत्व फासीवादी विचारधारा की बुनियाद का निर्माण करती है, जिसे आगे गोलवलकर ने विकसित किया।"* सावरकर के लिए हिन्दू की परिभाषा में जैन, बौद्ध, सिख भी शामिल हैं क्योंकि उनकी पितृभूमि और पुण्यभूमि भी यही है। जैसा कि आप देख सकते हैं इस भूमि को सावरकर ने सिन्धु नदी से प्रायद्वीपीय भारत के सागर तट तक परिभाषित किया है।

अब सवाल यह है कि क्या हिन्दू धर्म के वेद, उपनिषद, पुराण, तमाम अवतार इसी भूमि पर पैदा हुए? गलत! लगभग सभी गंगा के मैदानों में जन्मे हैं और हिन्दू धर्म की जिस परम्परा और शाखा को आधार बनाकर संघ परिवार हिन्दू धर्म का, रोमिला थापर के शब्दों में, *सेमिटाइज़ेशन* करना चाहता है, वह हिन्दू धर्म की वही परम्परा है। यदि श्यामसुन्दर पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के विषय में कुछ अध्ययन करते तो उन्हें पता चलता कि रामायण, महाभारत आदि के जो संस्करण प्रायद्वीपीय भारत में तैयार हुए, उसमें राम, रावण, सीता, आदि सभी की मिथक-कथाएं बिल्कुल भिन्न हैं। ये कथाएं पहले लोककथाओं के तौर पर मौजूद थीं, जिनको पहली बार पुरानिक काल में ब्राह्मणवादी लेखकों ने आज का रूप दिया। रामायण जिस लोककथा पर आधारित है, उसका नाम है 'श्री राम दसरथी'; महाभारत जिस लोककथा पर आधारित है, उसका नाम है 'कृष्ण वासुदेव'। ये किस प्रकार इन महाकाव्यों का आधार बने, यह कथाएं किस प्रकार न सिर्फ भारतीय उपमहाद्वीप के अलग-अलग हिस्सों तक बल्कि जावा द्वीप समूह और वर्तमान मलेशिया तक यात्रा करती हैं, इतिहास के इस

दिलचस्प अध्याय पर बहुत काम हुआ है। साथ ही इस पर भी बहुत काम हुआ है कि इन कथाओं के अलग-अलग रूप और संस्करण, जो कि गंगा के मैदानों में पैदा हुए संस्करण से बिल्कुल भिन्न थे, कैसे पैदा हुए। **दरअसल, श्यामसुन्दर का हिन्दू धर्म का विचार खुद ही एक सेमिटाइज्ड विचार है; इसीलिए हमने यह शक़ किया है कि कहीं वह आर्य समाज में काफी वक्त बिता कर तो नहीं आये हैं?** ऊपर से इतिहास के अध्ययन का अभाव! सम्भवत: इन दोनों पहलुओं ने मिलकर ही श्यामसुन्दर को हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व के सम्बन्ध पर ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें लिखने पर विवश कर दिया है।

ऐसी अहकाना बातें यहां खत्म नहीं होतीं। देखिये श्यामसुन्दर क्या लिखते हैं: "...यह फासीवादी विचारधारा हिन्दू धर्म और उससे जुड़ी भावनाओं का इस्तेमाल ही नहीं करती बल्कि 'पुण्यभूमि' के नाम से पूरी तरह हिन्दू धर्म पर आधारित है।" मतलब, हिन्दुत्व विचारधारा के नाम में पुण्यभूमि के नाम के तौर पर 'हिन्दू' होना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दुत्व विचारधारा का आधार-स्तम्भ हिन्दू धर्म है! 'पुण्यभूमि' वाली बात को हम ऊपर खारिज कर चुके हैं। **श्यामसुन्दर के इस तर्क से चूंकि ज़ायनवाद का नाम जेरूसालेम के पुराने यहूदी धार्मिक नाम ज़ायन (क्योंकि जेरूसालेम में एक ज़ायन पर्वत है, जिसका यहूदियों के लिए धार्मिक महत्व है और इस वजह से यहूदियों के पुराने राज्य को भी पहले ज़ायन कहा जाता था) से निकला है, इसलिए ज़ायनवाद का आधार स्तम्भ यहूदी धर्म है! हमारे तक तो यह बात ठीक है, यदि श्यामसुन्दर ने यह बात किसी ज़ायनवाद-विरोधी यहूदी से कह दी, तो वह लिखित आलोचना से आगे शारीरिक आलोचना तक भी जा सकता है!** यह बच्चों जैसा तर्क केवल श्यामसुन्दर ही दे सकते हैं। यदि भारत में बहुसंख्या यहूदी होती तो भारत में फासीवाद ज़ायनवाद का स्वरूप ग्रहण करता। फासीवाद एक राजनीतिक विचारधारा है जो कि पूंजीवाद के विकास के एक खास चरण की पैदावार है; अगर श्यामसुन्दर इतना भी नहीं जानते तो कम-से-कम उन्हें फासीवाद के विषय में कुछ बुनियादी मार्क्सवादी साहित्य पढ़ लेना चाहिए जैसे कि दिमित्रोव थीसिस, ग्राम्शी, गॉसवाइलर, रैबिनबाख़, पूलान्तज़ास, टिम मेसन, आदि। **भारत में भी यह एक निश्चित ऐतिहासिक सन्धि-बिन्दु (conjuncture) पर ही पैदा हो सकता था और हुआ और उसने उन्हीं पहचानों, मूल्यों-मान्यताओं, धार्मिक भावनाओं, परंपराओं, स्मृतियों, निर्मितियों और संकल्पनाओं का इस्तमोल किया जो कि उसे इतिहास से पूर्वप्रदत्त थीं। उसे उस दौर में पैदा होना था और हुआ; उसे कौन सी परंपराएं, संकल्पनाएं, मूल्य-मान्यताएं, आदि विरासत में मिलीं ये आकस्मिकता (contingent) का मुद्दा है। इससे उसके दार्शनिक मूल नहीं निर्धारित होते हैं। उसके दार्शनिक मूल पूंजीवाद के दौर के उत्तरार्द्ध में पैदा होने वाली मानवतावाद-विरोधी, प्रबोधन-विरोधी, तर्कणा-विरोधी विचारधाराएं हैं, जिन्हें स्पेंगलर, नीत्शे, आदि ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सूत्रबद्ध किया और अभिव्यक्ति दी। हम ऐसी बुनियादी बातें समझा-समझाकर थक जाते हैं और इसीलिए हमने यह तय किया है कि मूर्खता से बहुत देर तक इंगेज नहीं किया जा सकता है, और इसीलिए यह हमारा आखिरी जवाब है।** हमें उम्मीद है पाठक समझते हैं कि हम किस स्थिति से गुजर रहे हैं। यह पांचवीं में पांच बार फेल हो चुके लड़के को क्वाण्टम भौतिकी समझाने के प्रयास जैसा है।

एक जगह श्यामसुन्दर ऐसा प्रश्न पूछते हैं कि लगता है कि तुरन्त कुछ पैसा खर्च करके आधुनिक भारत के इतिहास पर कुछ अच्छी मार्क्सवादी शोध पुस्तकें खरीद कर इन्हें पार्सल करवा दी जाएं। श्यामसुन्दर पूछते हैं: "क्या सावरकर का दो राष्ट्रों का सिद्धान्त जिन्ना के दो राष्ट्रों के सिद्धान्त की भांति धर्म पर आधारित नहीं है?" नहीं महोदय! क्योंकि तब सावरकर को एक खालिस्तान, बौद्धिस्तान, जैनिस्तान भी मांगना चाहिए था; इन लोगों को सावरकर अलग धर्म का मानते थे (सावरकर के अनुसार ये सभी धर्म हिन्दू नस्ल, हिन्दू अस्मिता और हिन्दू संस्कृति का अंग थे, जो इस भूभाग में पैदा हुई थी और यह हिन्दू धर्म के समानार्थी नहीं थी), मगर उनकी पुण्यभूमि और पितृभूमि को सिन्धु नदी और सागर के बीच की भूमि को ही मानते थे, जो कि हिन्दुत्व

फासीवाद के उनके राष्ट्र की निर्मिति (construct) का आधार था। दूसरी बात, सावरकर जिस हिन्दू संस्कृति और नस्ल की बात कर रहे थे, वह स्वयं एक कल्पित समुदाय (imagined community) था, एक शुद्ध रूप से विचारधारात्मक समुदाय, क्योंकि जिस भूभाग को वह पुण्यभूमि और पितृभूमि कह रहे थे, उसमें हिन्दू संस्कृति और नस्ल की कोई एक परम्परा, आस्थाओं की व्यवस्था (belief-system), मूल्य-मान्यताओं की व्यवस्था (value-system) थे ही नहीं। यही कारण था कि अपने हिन्दुत्व को सावरकर ने किसी विशिष्ट ग्रन्थ पर आधारित नहीं किया, बल्कि एक भूभाग के प्रति निष्ठा और उसे अपनी पुण्यभूमि मानने पर आधारित किया जो कि एक बहुत ही धुंधली सी परिभाषा (vague definition) है, जिसका हिन्दू अस्मिता से इस रूप में सम्बन्ध है कि उसे एक बहुसंख्यवादी (majoritarian) राजनीति करनी है, जो कि फासीवादी राजनीति का एक बुनियादी कोऑर्डिनेट है। हिन्दू राष्ट्रवादी और हिन्दु पुनरुत्थानवादी धार्मिक ग्रन्थों से कहीं ज्यादा वफादारी से चिपककर चलते हैं। विशिष्ट हिन्दू धर्म की पहचान ही उनके लिए एक मूलवादी (fundamentalist) पहचान है। **यही कारण है कि आर.एस.एस. और भाजपा के अन्य धर्मों से जुड़े लोगों के लिए मंच हो सकते हैं, यहां तक कि उनका मुस्लिम मंच भी हो सकता है (आर.एस.एस. का मुसलमान विंग है राष्ट्रीय मुस्लिम मंच), लेकिन हिन्दू महासभा या अन्य हिन्दू पुनरुत्थानवादी संगठनों का ऐसा कोई मंच नहीं हो सकता है। लेकिन श्यामसुन्दर यही फर्क नहीं समझ पाते हैं।**

आगे देखते हैं कि श्यामसुन्दर किस प्रकार अपने आपको बचाने के लिए एक टटपुंजिया बातबदलू में तब्दील हो जाते हैं। वह लिखते हैं: "पहली बात तो यह कि हमने भाजपा और कांग्रेस में सिर्फ इतना ही अन्तर नहीं किया कि 'भाजपा हिन्दुत्व को थोपती है, कांग्रेस नहीं थोपती'। हमने इनके बीच अन्तर के बारे में दो बातें और भी कहीं हैं। एक तो यह कि कांग्रेस भारत को एक 'हिन्दू राष्ट्र' बनाने के बात नहीं कहती और दूसरी यह कि कांग्रेस यह नहीं कहती कि भारत में यदि रहना है तो वन्दे मातरम कहना होगा।" **यह परले दरज़े की लफ्फाजी है। पहली बात तो यह कि श्यामसुन्दर झूठ बोल रहे हैं और झूठ बोलकर दोन किहोते अपने सांचो पांजाओं के सामने अपनी इज्जत नहीं बचा पाता, न तो स्पेन वाला बचा पाया था और न कुरुक्षेत्र वाला बचा पाएगा। इन्होंने यह नहीं कहा था कि 'कांग्रेस भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती।' इन्होंने कहा था, 'कांग्रेस *अभी* भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहती।' क्या इन दोनों बातों में फर्क है? जी हां! बहुत बड़ा फर्क है। एक कथन का अर्थ है कि कांग्रेस नहीं बनाना चाहती और न ही उसकी राजनीति में यह सम्भावना-सम्पन्नता है कि वह कभी बनाना चाहे। दूसरे कथन का अर्थ है कि उसकी राजनीति में यह सम्भावना-सम्पन्नता है कि वह *कभी* भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना चाह सकती है, बस वह *अभी* ऐसा नहीं चाहती।** इस झूठ के अलावा दूसरी बात यह है कि वन्दे मातरम कहने पर बाध्य करना और हिन्दू राष्ट्र बनाने का प्रयास करना तो हिन्दुत्व विचारधारा को थोपने के ही उदाहरण हैं। **इसलिए श्यामसुन्दर एक शर्मिंदगी की स्थिति से भाग कर शर्मिंदगी से डूब मरने वाली दूसरी स्थिति में कूद गये हैं!**

आगे हिन्दू कार्ड खेलने और हिन्दू भावनाओं का आत्मरक्षात्मक तुष्टिकरण करने के उदाहरण पेश करते-करते श्यामसुन्दर भावुक हो जाते हैं और राहुल गांधी के शिवलिंग का जलाभिषेक आदि करने पर बावले से हो जाते हैं और फनफनाकर पूछते हैं कि इसे 'साफ्ट हिन्दुत्व' न कहा जाय तो क्या कहा जाय? हम कहते हैं कि पहले तो हिन्दुत्व शब्द का अर्थ समझ लीजिये। दूसरी बात यह कि अखबारों में लिखा यही शब्द अगर आपके दिल पर छा गया है तो इसी का प्रयोग करिये, मगर यह कहना कि भाजपा के हिन्दुत्व और कांग्रेस के हिन्दुत्व में यही फर्क है कि एक 'हार्ड' है और एक 'सॉफ्ट' है यह दिखलाता है कि आपको फासीवादी बुर्जुआजी और उसकी

राजनीति तथा एक सेण्टर-राइट बुर्जुआजी और उसकी राजनीति में कोई अन्तर नहीं समझ में आता है। और अगर हिन्दू कार्ड खेलने के कारण कांग्रेस हिन्दुत्ववादी है, तो फिर सपा, बसपा, तृणमूल कांग्रेस, राजद, जद (यू), इनेलो, और यहां तक कि केरल में माकपा भी हिन्दुत्ववादी हो जाती है।

श्यामसुन्दर के अद्भुत विचार: दयानन्द और विवेकानन्द थे भारत में फासीवादी दर्शन के जनक!

इसके आगे श्यामसुन्दर एक 'विचित्र किन्तु सत्य खुलासा' करते हैं! वह बताते हैं कि भारत में फासीवादी विचारधारा के प्रणेता और आरंभिक निर्माता हिन्दू पुनरुत्थानवादी सन्यासी थे, जैसे कि दयानन्द और विवेकानन्द! **मतलब, अब हम क्या कहें? हम कुछ विशेषण देंगे तो नरमदिल लोग दुखी हो जाएंगे कि हमने ऐसा बोल दिया! लेकिन हम ऐसे लोगों से ही पूछते हैं: यह मूर्खता नहीं तो क्या है और ऐसी बात करने वाले को मूर्ख न कहा जाय तो क्या कहा जाय?** हम पाठकों से आग्रह करेंगे और पुरज़ोर आग्रह करेंगे कि वे श्यामसुन्दर के खर्रे के पृष्ठ 101 से 106 तक स्वयं पढ़ें और देखें कि विवेकानन्द और दयानन्द को उद्धृत करके श्यामसुन्दर क्या साबित करना चाहते हैं? हम इसलिए यह कह रहे हैं कि इन उद्धरणों का खण्डन करने में ऊर्जा व्यर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों? **इसमें श्यामसुन्दर ने निम्न चीज़ें साबित करने का प्रयास किया है: (1) पितृभूमि और पुण्यभूमि के उस भूभाग की कल्पना दयानन्द और विवेकानन्द में ही मौजूद थी, जिसकी बात सावरकर ने की है (हम दिखा चुके हैं कि यह कल्पना विवेकानन्द या दयानन्द नहीं बल्कि पहले सर्वभारतीय साम्राज्य के पैदा होने के बाद के प्राचीन ग्रन्थों में ही मौजूद है और उसे अलग-अलग दौर में अलग-अलग रूप में कई ग्रन्थों में और धार्मिक कट्टरतावादियों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है); (2) दयानन्द और विवेकानन्द हिन्दू पुनरुत्थानवादी थे, और साथ ही तिलक और गांधी भी हिन्दू पुनरुत्थानवादी थे (हालांकि, गांधी का यह मूल्यांकन पूर्ण नहीं है, लेकिन चूंकि उनके दर्शन का एक आयाम हिन्दू पुनरुत्थानवाद भी था, इसलिए अभी इसे बहस का मुद्दा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है); (3) इनमें से कई मुस्लिम-विरोधी थे; (4) ये वर्णाश्रम समर्थक और दलित विरोधी थे; (5) इन सबमें हिन्दू राष्ट्रवाद के या अन्धराष्ट्रवाद के तत्व थे। यह पूरी कसरत इन्होंने बेकार में ही की है। क्योंकि इन सभी बातों से श्यामसुन्दर जो सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, वह सिद्ध होता नहीं है; कि हिन्दुत्व का आधार-स्तम्भ हिन्दुइज्म है। चूंकि यह सहज सिद्ध नहीं हो पा रहा, इसलिए श्यामसुन्दर बीच में एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न टपकाते हैं: "प्रश्न है कि यदि कोई हिन्दू अपनी सामाजिक प्रताड़ना से मुक्ति का भाव लेकर मुस्लिम धर्म को अपना लेता है तो स्वामी विवेकानन्द उस व्यक्ति को अपने शत्रु की संज्ञा क्यों देते हें? यह क्या है? हिन्दुइज्म अथवा हिन्दुत्व?"**

जैसाकि पाठक देख सकते हैं इन महोदय को हिन्दुत्व का अर्थ और इतिहास दोनों ही नहीं पता है। यह शब्द ही 1923 में पैदा हुआ, इसकी परिभाषा, इसकी व्याख्याएं उसके बाद सावरकर, गोलवलकर आदि द्वारा की जाती रहीं; श्यामसुन्दर ने विवेकानन्द का जो उद्धरण पेश किया है वह 1899 से है। **मुस्लिम-विरोध ही हिन्दुत्व फासीवाद नहीं है; हिन्दू कट्टरतावादी और पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से मुस्लिम-विरोध का भारत में बहुत पुराना इतिहास है। अट्ठारहवीं सदी के प्रारंभ से ही हिन्दू पुनरुत्थानवाद और कट्टरतावाद का इतिहास मिलता है, जो कि मुसलमान विरोध तक जाता है और यवनों (मुसलमानों) को अपने शत्रु के तौर पर देखता है। इसके आधार पर इस प्रकार के हिन्दू पुनरुत्थानवाद को हिन्दुत्व फासीवाद का आधार-स्तम्भ बता देना, या कि जैसा कि ऊपर श्यामसुन्दर द्वारा पूछे गये प्रश्न में निहित है, उन्हें एक बता देना, यही बताता है कि श्यामसुन्दर**

को एक आधुनिक धुर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ विचारधारा के रूप में फासीवादी विचारधारा और राजनीति की कोई समझ नहीं है। यह किसी भी पहचान को आधार बना सकती है; यहां तक कि भारत के भीतर भी यदि यह सहज उपलब्ध पहचान प्रवासियों की है, तो यह प्रवासी-विरोधी फासीवाद (Xenophobic Fascism) के रूप में भी सामने आ सकती है, जैसाकि मनसे जैसे संगठनों में देखा जा सकता है।

श्यामसुन्दर को लगता है कि जिन्होंने भारत को यवनों से बचाने के लिए हिन्दू धार्मिक एकता की बात की, हिन्दू राजाओं की वीरता और यश का बखान किया, वे सब फासीवादी दर्शन की नींव डाल रहे थे! क्या इस बात का जवाब दिये जाने की भी आवश्यकता है? क्योंकि मूर्खता का एक ऐसा स्तर होता है, जहां आप जवाब दे ही नहीं सकते, केवल हंस सकते हैं (या रो भी सकते हैं, यह सन्दर्भों पर निर्भर करता है)। ज़रा इस कथन को देखिये जिसे कि श्यामसुन्दर इस बात के प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं कि हिन्दुत्व फासीवाद की दार्शनिक जड़ें और आरम्भ विवेकानन्द और दयानन्द जैसे पुनरुत्थानवादी सन्यासियों से स्थापित कीं: "क्या यहां स्वामी विवेकानंद हिन्दुओं के धर्म को, उनके देवी-देवताओं को, उनके ईश्वर को उनकी भूमि से एकाकार नहीं कर रहे हैं? क्या सावरकर द्वारा हिन्दू तथा हिन्दू राष्ट्र के आधार के लिए दी गयी पुण्य भूमि की अवधारणा स्वामी विवेकानन्द द्वारा दी गयी अवधारणा से भिन्न है? और जिस भूमि से एक हिन्दू का धर्म ही एकाकार हो गया हो तो क्या वह भूमि हिन्दू धर्म से पृथक की जा सकती है?" यहां श्यामसुन्दर ने फिर से दिखला दिया है कि न तो उन्हें आम तौर पर फासीवाद की कोई समझ है और न ही उसके विशिष्ट भारतीय संस्करण हिन्दुत्व फासीवाद की कोई समझ है। दयानन्द या विवेकानन्द की परिभाषा में न तो इसमें एक अलग धर्म के तौर पर बौद्ध, जैन शामिल हैं और न ही सिख। वे या तो इन धर्मों की कटु आलोचना करते हैं, या फिर इन्हें वे अलग धर्म मानते ही नहीं बल्कि हिन्दू धर्म की एक उपशाखा मानते हैं। सावरकर की परिभाषा में यह पुण्यभूमि हिन्दुओं के धर्म से एकाकार है तो यह उन लोगों के धर्म से भी एकाकार है, जो इसी भूमि पर जन्मे हैं। एक स्थान पर सावरकर ने लिखा भी है कि यह पुण्यभूमि उन सभी की पुण्यभूमि है, जो यहां जन्मे हैं, जिन्होंने यहीं अपनी मां का दूध पिया है और जिनके पिताओं ने यहीं उन्हें अपने घुटनों के पालने में झुलाया है और इसमें मुसलमान और ईसाई नहीं आते हैं। लेकिन हिन्दू, सिख, बौद्ध, जैन इसमें ही आते हैं और सावरकर सिख, बौद्ध व जैन धर्म को हिन्दू धर्म की उपशाखा नहीं मानते बल्कि हिन्दू अस्मिता, नस्ल और संस्कृति से पैदा होने वाले धर्म मानते हैं जो कि उनके लिए हिन्दू धर्म के समानार्थी नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट निर्मिति पुण्यभूमि और पितृभूमि में पैदा हुई समस्त संस्कृति का समानार्थी है। इस समूची विचारधारात्मक निर्मिति के पीछे की मूल मंशा क्या है? सावरकर एक शत्रु छवि का निर्माण करना चाहते थे, जो कि फासीवादी राजनीति का एक बुनियादी फलक होता है, और इसके लिए बाहरी (outsider) की छवि हमेशा ज्यादा कारगर होती है और भारतीय ऐतिहासिक सन्दर्भ में ईसाइयों और मुसलमानों को इस छवि के निर्माण हेतु आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति इस पुण्यभूमि को मानता है लेकिन उसके दायरे में सिर्फ हिन्दू धर्म को मानने वाले आते हैं, तो निश्चित तौर पर वह सावरकर के विचार से भिन्न विचार है। दयानन्द और विवेकानन्द के लिए **धार्मिक एकता** के दायरे के भीतर केवल हिन्दू ही आते थे। विवेकानन्द तो सिख धर्म को अलग धर्म ही नहीं मानते थे और उनके गुरुओं को भी हिन्दू राजाओं का अवतार मानते थे। जैन धर्म और बौद्ध धर्म को भी वह अलग धर्म ही नहीं मानते थे, बल्कि एक प्रकार से हिन्दू धर्म की ही शाखा मानते थे क्योंकि उनका मानना था कि ये सभी धर्म कर्म के सिद्धान्त, मोक्ष और आत्मा की मुक्ति के सिद्धान्त को मानते हैं लेकिन साथ ही विवेकानन्द इन दोनों की धर्मों की इस बात के लिए कड़ी आलोचना करते थे और मानते थे कि हिन्दू धर्म से उनका कोई मेल नहीं है, कि इन धर्मों का ईश्वर की

अवधारणा में भरोसा नहीं है। इसलिए धार्मिक एकता का उनका एक निश्चित मॉडल था जिसमें मूलत: हिन्दू आते थे।

दयानन्द सिख धर्म की आलोचना करते थे और गुरुनानक को शुरुआती दौर में उन्होंने एक लुटेरा (rogue) भी कहा था; लेकिन ऐसा कहा जाता है कि किसी सिख द्वारा लिखे गये पत्र के बाद उन्होंने अपने विचार बदले थे, लेकिन इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तो दयानन्द ने कटु शब्दों में आलोचना की है और उनका मखौल बनाया है। सावरकर ऐसा कहीं नहीं कहते। यदि हमारा शक़ सही है, तो यदि आर्य समाजी रहकर भी, श्यामसुन्दर को यह नहीं पता है, तो बड़े दुख की बात है। सावरकर का मानना था कि इस पुण्यभूमि में जो भी धर्म और समुदाय पैदा हुए वे सभी इसका मूल तौर पर अंग हैं। इसका एक कारण यह भी है कि सावरकर इन सभी को प्राचीन हिन्दू संस्कृति और अस्मिता से जन्मे धर्मों और आस्थाओं के तौर पर ही देखते हैं। लेकिन वह इन धर्मों के विचारों की हिन्दू धर्म के परिप्रेक्ष्य से (कोई एक परिप्रेक्ष्य तो है नहीं, मगर किसी भी परिप्रेक्ष्य से) आलोचना नहीं करते हैं; जैसे कि दयानन्द सरस्वती वेदों और ईश्वर में यकीन न करने के कारण बौद्ध धर्म की आलोचना करते हैं और दूसरे कारणों के लिए वह जैन ग्रन्थों को भी मूर्खतापूर्ण करार देते हैं; वह तो यहां तक कहते हैं कि मूर्ति पूजा जैनियों का आविष्कार है।

सावरकर ने बौद्ध धर्म को एक सार्वभौमिक धर्म कहा और कहा कि उसके पतन का कारण वेदों की शिक्षा के साथ बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का अन्तरविरोध नहीं था, बल्कि बौद्ध विहारों की पतनशीलता और भ्रष्टाचार था। साथ ही, वह अहिंसा के सिद्धान्त और दूसरे देशों में विस्तार के लिए बौद्ध धर्म की आलोचना करते हैं क्योंकि इससे पुण्यभूमि बाह्य आक्रांताओं के समक्ष अरक्षित हो गयी। **सावरकर का मानना था कि हिन्दुत्व एक अपरिभाषेय गुण है जो कि हिन्दू नस्ल में अन्तर्निहित है जिसे हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के साथ गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए; हिन्दू नस्ल वह है जो कि सिन्धु और सागर के बीच के भूभाग के मूल बाशिन्दे हैं। सावरकर के लिए हिन्दू होने का अर्थ था एक साझा राष्ट्र, एक साझा नस्ल और एक साझा सभ्यता।** इसका हिस्सा मुसलमान और ईसाई क्यों नहीं हो सकते? क्योंकि सावरकर के अनुसार मुसलमान या ईसाई इस चीज़ से रिश्ता रखने का दावा नहीं कर सकते: "a common nation, a common race and a common civilization, as represented in a common history, common heroes, a common literature, a common art, a common law, and a common jurisprudence, common fairs and festivals, rites and rituals, ceremonies and sacraments." इसलिए सावरकर की हिन्दू राष्ट्र की परिभाषा में सभी धर्मों के लोग भी आते हैं, सिवाय मुसलमानों और ईसाइयों के। इसीलिए सावरकर ने लिखा: "Hindutva is so varied and so rich, so powerful and so subtle, so elusive and yet so vivid, that it defied such definition." आगे सावरकर लिखते हैं: "Hinduism is only a derivative, a fraction, a part of Hindutva." सावरकर आगे लिखते हैं, **"Failure to distinguish between Hindutva and Hinduism has given rise to much misunderstanding and mutual suspicion between some of those sister communities that have inherited this inestimable and common treasure of our Hindu civilization...it is enough to point out that Hindutva is not identical with what is vaguely indicated by the term 'Hinduism'. By an "ism" it is generally meant a theory or a code more or less based on spiritual or religious dogma**

or system. But when we attempt to investigate into the essential significance of Hindutva, we do not primarily--and certainly, not mainly--concern ourselves with any particular theocratic or religious dogma or creed..."

हम देख पा रहे हैं कि श्यामसुन्दर ने अपनी शर्लक होम्स वाली टोपी निकाल ली है और हमसे कहने ही वाले हैं कि हम सावरकर के जाल में फंस गये! जब आपने इतिहास का अध्ययन न किया हो तो ऐसा ही होता है, आप हमेशा षड्यन्त्र सूंघने के लिए नथुने फुलाते घूमते रहते हैं। सावरकर को पता है कि उनकी ये बातें व्यापक हिन्दू जनसमुदाय में प्रचारित की जाने के लिए नहीं हैं, कि वह उल्लू बनाने के लिए लिखें। राजनीतिक प्रचार में सावरकर हिन्दू धर्म और हिन्दू भावनाओं के प्रयोग में कोई कोताही नहीं बरतते थे और न ही हिन्दू प्रतीकों का इस्तेमाल करने में कोई कमी रखते थे। लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा वह थी, जिसको उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में फासीवादी आन्दोलन के काडरों के लिए लिखा था। भूलना नहीं चाहिए कि सावरकर की पुस्तक 'Essentials of Hindutva' वास्तव में फासीवादी काडरों के भ्रूण केन्द्र को तैयार करने के लिए, यानी फासीवादी विचारधारा के आधार पर संगठन की नींव डालने के लिए लिखी गयी रचना है। **लेकिन श्यामसुन्दर समझते हैं कि सावरकर ने इसे वामपंथियों और जनवादियों को गोला थमाने के लिए लिखा है! लेकिन इसमें आपको मुसलमानों और ईसाईयों के बारे में सावरकर के वही विचार मिलेंगे, जिनका जनवाद, मानवतावाद, समानता आदि से कोई रिश्ता नहीं है। न ही कोई ऐसा विचार मिलेगा जिससे कि हमें लगे कि हिन्दुत्व एक सेक्युलर विचारधारा है। जैसा कि पाठक देख सकते हैं, इतिहास के बारे में अज्ञान कितना खतरनाक हो सकता है और आपका कितना मखौल बनवा सकता है।**

आधुनिक भारत के इतिहास के बारे में श्यामसुन्दर चलते-चलते एक और "अन्तर्दृष्टि" पेश करते हैं, जिस पर ग़ौर करना और कुछ तो नहीं मगर मनोरंजक ज़रूर होगा। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "लेकिन इसके बावजूद भी गांधी जी धर्म के आधार पर देश के बंटवारे को रोक नहीं पाए क्योंकि वे खुद को इस स्तर तक ऊंचा नहीं उठा सके कि देश की आम मुस्लिम जनता का भी वे भरोसा जीत पाते और उन्हें लगता कि गांधी उनके भी नेता हैं।" जिस व्यक्ति ने देश के विभाजन के पूरे इतिहास के बारे में कुछ भी नहीं पढ़ा वही ऐसी अपढ़ बात कर सकता है। देश के विभाजन के पीछे एक राजनीतिक विवाद था, जिसके केन्द्र में देश के संघीय (federal) ढांचे और कमज़ोर केन्द्र के मॉडल और एक गैर-संघीय ढांचे और मज़बूत केन्द्र के मॉडल का अन्तरविरोध था। जिन्ना चाहते थे कि भारतीय संघ में मुसलमान बहुल क्षेत्रों को स्वायत्त क्षेत्र घोषित किया जाय और उसे राजनीतिक व आर्थिक स्वायत्तता दी जाय; नेहरू का मानना था कि ऐसे में भारतीय संघ किसी न किसी साम्राज्यवादी देश का सैटेलाइट स्टेट बन जाएगा और इसलिए उनकी मांग एक मज़बूत केन्द्रीकृत राज्य की थी; यह बिल्कुल सम्भव है कि नेहरू की प्रधानमन्त्री बनने की महत्वाकांक्षा की भी इसमें एक भूमिका थी। लेकिन गांधी जिन्ना को पहले प्रधानमन्त्री के तौर पर स्वीकार करने को तैयार थे। देखें कि प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ त्रिलोकी नाथ कौल ने इस विषय में क्या लिखा है: "It (partition) was not inevitable and would not have happened but for the British policy of divide and rule. It would also not have happened if the Congress had shown a little more consideration for the Muslim League, as Gandhiji wanted. He tried very hard to placate Jinnah by offering him the primeministership or presidency of an undivided India. But Jinnah's mind was made up. He did not trust Gandhiji, much less

Nehru, Azad and Patel and stuck to his guns. He wanted Pakistan at any cost." (T.N. Kaul, *My Years Through Raj to Swaraj,* Vikas Publishing House Pvt Ltd., New Delhi, 1995, p. 65) लेकिन श्यामसुन्दर इसे एक भारतीय कूटनीतिज्ञ का ब्यौरा बताकर खारिज कर सकते हैं, इसलिए हम दो और उत्कृष्ट शोध कार्यों का हवाला दे देते हैं, ताकि औंधी खोपड़ी में चल रहा बवण्डर शान्त हो जाये। विभाजन के समय के पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को पढ़ने के लिए आप आयशा जलाल और सुगाता बोस की पुस्तक 'मॉडर्न साउथ एशिया' और आयशा जलाल की पुस्तक 'दि सोल स्पोक्समैन' में भी पढ़ सकते हैं। आधुनिक भारत के लगभग सभी मार्क्सवादी इतिहासकार इस पूरे प्रकरण से परिचित हैं। लेकिन दिक्कत यही है: श्यामसुन्दर इतिहास नहीं पढ़ते हैं। मूल विवाद हिन्दू और मुस्लिम के प्रश्न पर नहीं था, और न ही व्यक्तियों की निजी महत्वाकांक्षा का था, बल्कि एक राजनीतिक विवाद था, जिसके सन्दर्भ में हिन्दू और मुसलमानों का प्रश्न भी एक राजनीतिक उपकरण बनने के कारण एक मुद्दा बन गया। गांधी, जिन्ना, या नेहरू के व्यक्तिगत विचार एक व्यापक राजनीतिक विवाद के सन्दर्भ में ही अस्तित्वमान थे, न कि स्वतन्त्र रूप से। **प्रमुख पहलू था भावी भारतीय राज्य के दो मॉडलों के बीच मतभेद।** जिन्ना एकीकृत भारत में मुसलमान-बहुल क्षेत्रों के लिए क्षेत्रीय राजनीतिक स्वायत्तता की मांग कर रहे थे और नेहरू व कांग्रेस को यह मांग स्वीकार नहीं थी क्योंकि वह एक सशक्त केन्द्रीकृत राज्य चाहती थी। अंग्रेज़ों ने इसी मतभेद को अपने कारणों से हवा दी और अन्तत: विभाजन के अपने इरादे में कामयाब हुए। गांधी के हिन्दू पुनरुत्थानवाद की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। श्यामसुन्दर को भारत के इतिहास पर ऐसी मूर्खतापूर्ण टिप्पणियां करने की बजाय, इतिहास का थोड़ा अध्ययन कर लेना चाहिए। क्योंकि माओ और उनके पहले लेनिन ने भी बताया था कि हर मार्क्सवादी को इतिहास का और विशेष तौर पर अपने देश के इतिहास का संजीदगी से अध्ययन करना चाहिए अन्यथा उसका कठमुल्लावाद आन्दोलन को काफी नुकसान पहुंचाता है। गांधी द्वारा अपने हिन्दू पुनरुत्थानवाद को अपनी राजनीति में प्रविष्ट कराए जाने के बारे में श्यामसुन्दर कहते हैं कि वह इसी को 'सॉफ्ट हिन्दुत्व्' बोलते हैं! इसके बारे में क्या कहा जा सकता है? शायद ऐसा कुछ : "मैं बैंगन को कद्दू बोलता हूं, क्योंकि मुझे ऐसा बोलना अच्छा लगता है।" **महोदय, पहले हिन्दुत्व के अर्थ, इतिहास और सन्दर्भ को समझ लीजिये, उसके बाद हिन्दुत्व पर बात कीजिये।**

इसके बाद श्यामसुन्दर कहते हैं कि चूंकि सावरकर भी राम के प्रतीक का प्रयोग करते हैं और गांधी भी इसलिए दोनों ही हिन्दुत्ववादी है, बस एक 'हार्ड' है, एक 'सॉफ्ट'। यह भी यही दिखलाता है कि एक राजनीतिक विचारधारा के तौर पर फासीवाद के बारे में श्यामसुन्दर का डिब्बा पूरी तरह गोल है। पृष्ठ संख्या 105 और 106 पर श्यामसुन्दर रजनी पाम दत्त की पुस्तक से कुछ उद्धरण पेश करते हैं यह साबित करने के लिए कि गांधी सॉफ्ट हिन्दुत्ववादी थे; ये उद्धरण पाठक स्वयं पढ़ लें। इनसे सिर्फ गांधी के धार्मिक पुनरुत्थानवाद का पता चलता है जिसके कारण मुसलमानों का एक हद तक उनसे और कांग्रेस से अलगाव हुआ। लेकिन चूंकि श्यामसुन्दर हिन्दुत्व का अर्थ ही नहीं समझते इसलिए जहां-तहां इस विशेषण को ठोंक देते हैं। जैसे कि वह लिखते हैं: "यह सही बात है कि हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व एक नहीं है *(हालांकि इन महोदय ने अपने पिछले जवाब में यही लिखा था, जिससे अब यह मुकर गये हैं- लेखक)* पर हिन्दू नेताओं द्वारा हिन्दू धर्म और उसके प्रतीकों का अपनी राजनीति को बढ़ाने के लिए प्रयोग अवश्य ही हिन्दुत्व है।" **इस परिभाषा से सपा, बसपा, तृणमूल कांग्रेस समेत हरेक चुनावी राजनीतिक पार्टी श्यामसुन्दर के 'हार्ड' से लेकर 'सॉफ्ट' हिन्दुत्व के स्पेक्ट्रम में कहीं न कहीं आयेगी, यहां तक कि अगर वह कभी ग़लती से केरल चले गये, तो माकपा भी इसमें कहीं न कहीं आ जायेगी! और इसके बाहर नायकत्वपूर्ण अकेलेपन में कौन खड़ा होगा: अपनी लिल्ली घोड़ी के साथ हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र! मैं तो उनकी छवि को देख भी पा रहा हूं!** पाठक देख सकते हैं कि एक दर्जन पेज में ही इन महोदय ने मूर्खतापूर्ण बातों का कैसा अम्बार लगाया है। इस उपशीर्षक का अन्त श्यामसुन्दर ऐसी ही मूर्खतापूर्ण बात से

करते हैं: "हम पुन: स्पष्ट करते हैं कि गांधी जी और कांग्रेस का हिन्दुत्व सावरकर और गोलवलकर के फासीवादी हिन्दुत्व की *तुलना में* 'सॉफ्ट हिन्दुत्व' है लेकिन हार्ड और सॉफ्ट दोनों ही प्रकार के हिन्दुत्व की जड़ें हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवादी विचारधारा में मौजूद हैं।" **मतलब इस पूरे जवाब में श्यामसुन्दर मानो गरम तवे पर बैठे रहे हों; कभी उछल कर किसी एक प्रकार की चीख निकाल रहे हैं, तो कभी उछलकर किसी दूसरे प्रकार की। इसी चक्कर में कभी बातें बदल रहे हैं, कभी झूठ बोल रहे हैं, कभी महान शिक्षकों से लेकर बहस में अपने विरोधी तक को मिस्कोट, मिसरेप्रज़ेण्ट कर रहे हैं, तो कभी नयी-नयी मूर्खतापूर्ण बातें बोल रहे हैं।** सबकुछ किसलिए? "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" के लिए। लेकिन दिक्कत यह है कि ऐसी बन्दरकुद्दियों से इज्जत बचती नहीं बल्कि जो थोड़ी-बहुत बची रहती है, उसका भी कचरा हो जाता है।

15. दलितों के "वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित" जनसंगठनों के बारे में श्यामसुन्दर की गोलमाल

'झूठे ज्ञान से सावधान रहें! यह अज्ञान से ज्यादा खतरनाक होता है।'

- जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

जब बच्चे कोई ग़लती कर देते हैं तो उसे छिपाने के लिए कुतर्क पर कुतर्क गढ़ते जाते हैं और जितने कुतर्क और झूठ वे पेश करते हैं, उतना ही फंसते जाते हैं। श्यामसुन्दर इस मामले में ऐसे ही फंसे हैं। पिछली बार उन्होंने अपने पत्र में यह लिखा था: "हम समझते हैं कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, **युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर** अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें, यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का संघर्ष चलाएं..." हमने अपनी आलोचना में इंगित किया था कि वैज्ञानिक विचारधारा केवल एक ही होती है और वह है मार्क्सवाद-लेनिनवाद। **पहली बात तो यह है कि कोई भी जनसंगठन किसी विचारधारा पर नहीं बनता बल्कि किसी साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर बनता है; दूसरी बात यह है कि विचारधारा का अर्थ किसी एक, दो या दस मुद्दों पर वैज्ञानिक अवस्थिति अपनाना नहीं है, बल्कि विचारधारा का प्रश्न एक वैज्ञानिक पहुंच और पद्धति का, दूसरे शब्दों में विश्व-दृष्टिकोण का होता है।** जब कोई मार्क्सवादी वैज्ञानिक विचारधारा की बात करता है तो उसका अर्थ यही होता है।

अब श्यामसुन्दर ने यहां विचारधारा और साझा न्यूनतम कार्यक्रम के प्रश्न पर गड़बड़ करने के बाद कैसे बेशर्म तरीके से गोलमाल की है, वह हम आपको दिखलाते हैं। पहले श्यामसुन्दर लिखते हैं: "हमने युक्तितर्क पर आधारित जिस वैज्ञानिक विचारधारा की बात की है निश्चित ही हम यहां मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बात नहीं कर रहे हैं और न ही हम यह कह रहे हैं कि दलित समुदाय सघर्ष के लिए अपने संगठनों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर बनाएं। न ही हम अपने कथन में वैज्ञानिक विचारधारा के संदर्भ में किसी प्रकार के द्वैतवाद के शिकार हैं।" यानी कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अलावा कोई और भी वैज्ञानिक विचारधारा है, जो औंधी खोपड़ी में उमड़-घुमड़ रही है! लेकिन फिर भी कोई द्वैतवाद नहीं है!

श्यामसुन्दर द्वारा द्वन्द्ववाद के प्रयोग का यह एक और नमूना है। यह दूसरी 'युक्तितर्क आधारित वैज्ञानिक विचारधारा' क्या है? आगे इसका खुलासा होता है। देखते हैं।

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अत: दलित समुदाय द्वारा अपने जिस प्रकार के संगठनों के बनाये जाने की हम बात करते हैं वे संगठन अवश्य ही साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर आधारित होंगे पर यह साझा न्यूनतम कार्यक्रम क्या होगा? क्या इस साझा न्यूनतम कार्यक्रम का पहला मुद्दा ही दलितों के लिए सामाजिक समानता और भाईचारा नहीं होगा? **और यदि सामाजिक समानता और भाईचारे के लिए संघर्ष के मुद्दे को दलित अपने अपने एजेंडे की सूची में प्रथन स्थान देते हैं, तो फिर क्या उनके इन संगठनों के साझा न्यूनतम कार्यक्रम का हिस्सा ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के खिलाफ लड़ना नहीं होगा? और फिर क्या ब्राह्मणवादी धार्मिक विचाराधारा के खिलाफ अपनी लड़ाई को दलित संगठन बिना किसी विचारधारा के आगे बढ़ा सकते हैं?"** माने कि आदमी को अपनी गलदोदई को सही साबित करने के लिए कैसे-कैसे चोमू तर्क गढ़ने पड़ते हैं। तो श्यामसुन्दर के अनुसार, यदि कोई स्त्री संगठन पितृसत्ता के विरुद्ध जेण्डर समानता की बात करता है, तो वह विचारधारा है! यदि कोई दलित संगठन समानता की बात करता है, तो वह विचारधारा है! **इन महोदय को यह भी नहीं पता है कि जनवादी क्रांतियों के एजेण्डा पर समानता और भाईचारे का नारा था, लेकिन यह उसकी विचारधारा नहीं थी।** श्यामसुन्दर अपनी कठदलीली को सही साबित करने के लिए बेतुकी बातों का अम्बार लगा रहे हैं, लेकिन इससे रहा-सहा सम्मान भी जा रहा है। विचारधारा का अर्थ दर्शन या विश्व-दृष्टिकोण के प्रति प्रतिबद्धता है *(विचारधारा को पहली बार यह अर्थ लेनिन ने दिया था; उनके अनुसार, सर्वहारा विचारधारा ही सत्य के सापेक्षिक रूप से निकटतम है; इससे पहले मार्क्स और एंगेल्स के दौर में विचारधारा शब्द के नकारात्मक अर्थ ही थे, यानी छद्म चेतना के आधार पर निर्मित विचारों की व्यवस्था जो कि विश्व की एक भ्रामक छवि पेश करती है)।* **सीधे तौर पर कहें, तो वैज्ञानिक विचारधारा का अर्थ है सर्वहारा विचारधारा, यानी कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इस विश्व-दृष्टिकोण के साथ सक्रिय प्रतिबद्धता। समानता और भाईचारे के नारे के पीछे बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा क्या थी? यांत्रिक भौतिकवाद और आधिभौतिकवाद, और इस रूप में, भाववाद से प्रदूषित भोंड़ा भौतिकवाद। क्या अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में इसकी सकारात्मक भूमिका थी? हां! क्यों? किसी भी वर्गीय विचारधारा की प्रतिगामिता और प्रगतिशीलता इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती, बल्कि उस सीमा के भीतर ही प्रतिगामिता और प्रगतिशीलता होती है।** लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि बुर्जुआ वर्ग द्वारा दिये गये नारे बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा थे। यह है श्यामसुन्दर की समझदारी!

दूसरी बात, क्या ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ने के लिए और उसका नाश करने के लिए किसी विचारधारात्मक औज़ार की आवश्यकता होगी? हां, लेकिन वह औज़ार मार्क्सवादी विचारधारा ही होगी क्योंकि महज़ बुर्जुआ प्रबोधनकालीन तर्कणा के आधार पर ब्राह्मणवादी विचारधारा के खिलाफ भी निर्णायक संघर्ष को मुकाम तक नहीं पहुंचाया जा सकता; दूसरी बात, इसका अर्थ यह नहीं कि जाति-विरोधी (श्यामसुन्दर के लिए दलित) संगठन विचारधारा पर बनेंगे। हमने पहले भी इंगित किया था कि श्यामसुन्दर को जनसंगठन और पार्टी संगठन के बीच सम्बन्धों की लेनिनवादी समझदारी का 'क ख ग' भी नहीं पता है। लेनिन बताते हैं कि ट्रेड यूनियन और ट्रेड यूनियन संघर्षों का मकसद है मज़दूरों में पूंजीवाद-विरोधी चेतना पैदा करना; उन्होंने इसे 'कम्युनिज्म का स्कूल' भी कहा; लेकिन इसका अर्थ क्या यह था कि ट्रेड यूनियन किसी वैज्ञानिक विचारधारा पर बनेंगे? नहीं! इसके दो अर्थ हैं। एक, ट्रेड यूनियन संघर्ष साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर होंगे, लेकिन इन संघर्षों का

व्यावहारिक अनुभव मज़दूरों को पूंजीवाद की सच्चाई से अवगत कराएगा; दो, ट्रेड यूनियन के भीतर मार्क्सवादी राजनीतिक कार्य करेंगे और इन अनुभवों से मज़दूरों के शिक्षण और प्रशिक्षण की प्रक्रिया को विचारधारात्मक और राजनीतिक दिशा देंगे। इस प्रक्रिया में कुछ मज़दूर पूंजीवाद-विरोधी बन जाएंगे लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं, और कुछ मज़दूर मार्क्सवाद के विश्व दर्शन यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करके पार्टी तक पहुंचेंगे। लेकिन लेनिन ठीक इसीलिए ट्रेड यूनियनों के किसी विचारधारा पर बनने के खिलाफ थे क्योंकि फिर वे जनसंगठन रह ही नहीं जाएंगे। जनसंगठन ***केवल*** साझा न्यनूतम कार्यक्रम पर ही बन सकते हैं और इनमें ऐसी कोई भी विचारधारा मानने वाले लोग हो सकते हैं, जो कि इस साझा न्यूनतम कार्यक्रम का उल्लंघन न करते हों। **लेकिन श्यामसुन्दर उलझ गये हैं क्योंकि उन्हें अपनी कठदलीलियों को सही साबित करना है ("अपनी इज्जत बचाओ अभियान" की मजबूरियां!) इसलिए वह कहते हैं कि जनसंगठन बनेंगे तो साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर, लेकिन उनकी एक विचारधारा भी होगी! यह न सिर्फ मूर्खतापूर्ण बात है, बल्कि अर्थहीन बात है।**

लेकिन विचारधारा की समझदारी के विषय में श्यामसुन्दर ने अपनी अपना केंचुल नृत्य बन्द नहीं किया है! देखें आगे वह क्या लिखते हैं: "इसीलिए हमने यह कहा कि दलित 'युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें।' सामाजिक क्षेत्र में समानता और भाईचारे के लिए दलितों का संघर्ष ही जनवाद के लिए संघर्ष होगा। और इस संघर्ष को लड़ने के लिए विचारधारात्मक हथियार की लाज़िमी तौर पर ज़रूरत होगी। सामाजिक असमानता की पोषक ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के खिलाफ ही हम दलितों को अपनी जनवादी लड़ाई लड़ने के लिए युक्ति तर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा की बात कर रहे हैं। **क्या मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से तुड. विचारधारा और ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारधारा के बीच अन्य किसी प्रकार की कोई वैज्ञानिक विचार पद्धति की बात हो ही नहीं सकती? निश्चित रूप से ऐसा सोचना अधिभूतवाद होगा, द्वन्द्ववाद नहीं।** अभिनव सिन्हा खुद सावरकर के बारे में लिखते हैं: "आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि सावरकर स्वयं 'मनुष्यों के वैयक्तिक ईश्वर' में यकीन नहीं करते थे, *तर्कवादी थे* और कर्मकाण्डीय धर्म के धुर विरोधी थे और कई बार अपने आपको 'नास्तिक' भी कहते थे, क्योंकि वह 'ब्रह्माण्ड के ईश्वर' की बात करते थे, जिसे वह तर्कणा से जोड़ते थे"। यानी अभिनव सिन्हा खुद स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवादी वैज्ञानिक विचारधारा से अलग भी कोई चिन्तन प्रणाली ऐसी हो सकती है जो युक्ति तर्क पर आधारित हो और हर चीज़ को तर्कणा से जोड़ती हो।"

कमाल है! मतलब आदमी अपने आपको सही साबित करने के लिए अपने ही कुतर्कों के कीचड़ किस प्रकार नहा सकता है! **पहली बात तो यह कि ब्राह्मणवादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा के बीच कोई वैज्ञानिक विचारधारा नहीं होती है; ब्राह्मणवादी विचारधारा और कुछ नहीं बल्कि भाववाद का ही एक विशिष्ट रूप है। मार्क्सवादी विचारधारा और कुछ नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण की वर्गीय राजनीतिक अभिव्यक्ति है। क्या भाववादी विचारधारा और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा के बीच कोई और वैज्ञानिक विचारधारा होती है? मार्क्सवाद तो ऐसा नहीं मानता। लेकिन श्यामसुन्दर एक श्यामसुन्दरीय विचारधारा लेकर आये हैं, जिसका दूसरा नाम 'मूर्ख-विश्व दृष्टिकोण' रखा जा सकता है!**

दूसरी बात, तर्कवाद स्वयं कोई वैज्ञानिक विचारधारा नहीं है। मार्क्सवाद तर्कवाद (rationalism) और अनुभववाद (empiricism) का द्वन्द्वात्मक निषेध और संश्लेषण है। न तो तर्कवाद सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है

क्योंकि वह व्यवहार की अनिवार्यता को नहीं समझता, और न ही अनुभववाद क्योंकि वह वैज्ञानिक सामान्यीकरण की अनिवार्यता को नहीं समझता है। लेकिन कोई निपट मूर्ख ही सोच सकता है कि तर्कवाद वैज्ञानिक विचारधारा है। तर्कणा की विजय का नारा तो बुर्जुआ वर्ग के दार्शनिकों ने प्रबोधन काल में ही दे दिया था; वॉल्तेयर, दिदेरो से लेकर फायरबाख तक ऐसे यांत्रिक भौतिकवादी और तर्कवादी दार्शनिकों की एक श्रृंखला थी, जिन्होंने सामन्तवाद द्वारा पोषित भाववाद का खण्डन किया और दूसरे छोर तक जाते हुए एक यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोण पेश किया; लेकिन वे वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक नहीं पहुंच सके, क्योंकि उनके ऐतिहासिक युग की सीमा उन्हें यह आज्ञा नहीं देती थी। वर्ग समाज के इतिहास के सबसे क्रांतिकारी वर्ग सर्वहारा वर्ग और उसके संघर्षों के विकास के साथ ही उसका वर्गीय दर्शन यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पैदा हो सकता था। मार्क्सवाद का शुरुआती विद्यार्थी भी इन बातों को समझता है। लेकिन औंधी खोपड़ी में ये बातें जा नहीं पातीं! **तर्कणा की बात करना, तर्कवादी होना, युक्तितर्क की बात करना *वैज्ञानिक विचारधारा* नहीं होता। जब कोई किसी को तर्कवादी कहता है (जैसे कि मैंने सावरकार को कहा है), तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह ब्राह्मणवाद और मार्क्सवाद के बीच खड़ी किसी वैज्ञानिक विचारधारा को मानता है। उल्टे मार्क्सवादी जब किसी को महज़ तर्कवादी बोलता है, तो उसके आलोचनात्मक निहितार्थ होते हैं। अवैज्ञानिक विचारधाराओं (क्योंकि अवैज्ञानिक विचारधाराएं कई हो सकती हैं) और वैज्ञानिक विचारधारा (क्योंकि वैज्ञानिक विचारधारा एक ही हो सकती है) के बीच में तमाम वैज्ञानिक विचारधाराओं का कोई स्पेक्ट्रम नहीं होता है। यदि इतनी सामान्य सी बात वामपंथी आन्दोलन में कई वर्ष बिताने वाले किसी व्यक्ति को समझ में नहीं आती और ऊपर से तुर्रा यह कि वह तर्जनी उठा-उठाकर समूचे देश के वामपंथी आन्दोलन को शिक्षित करने का प्रयास करता हो, तो उसे वामपंथ का 'दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र' न कहा जाय तो क्या कहा जाय! चूंकि श्यामसुन्दर को भी शायद थोड़ा-बहुत समझ में आ रहा है कि वह कैसी बेवकूफी वाली बकवास कर रहे हैं, इसलिए यहां से श्यामसुन्दर का 'से हमारा अभिप्राय था', 'से हमारा मतलब था', 'से हमारा तात्पर्य था', 'हम जो कहना चाहते थे', 'से हमारा अर्थ था' जैसे वाक्यांश कहना शुरू होता है, जो यही दिखलाता है कि आदमी बेशर्मी से अपने सांचो पांजाओं के सामने झूठ-फरेब करके अपनी इज्जत बचाने के लिए बदहवासी में दौड़-भाग कर रहा है।**

एक जगह श्यामसुन्दर लिखते हैं कि ब्राह्मणवादी विचारधारा के जातिगत श्रेष्ठता के दावों को मेडिकल साइंस खण्डित करता है! **तो? इससे यह कैसे साबित होता है कि दलित जनसंगठन वैज्ञानिक विचारधारा पर बनेंगे? मेडिकल साइंस क्या वैज्ञानिक विचारधारा है?** मतलब कि डूबते को तिनके का सहारा की कहावत को भी श्यामसुन्दर ने शाब्दिक अर्थों में ले लिया है। महोदय, वास्तव में मेडिकल साइंस का तिनका आपकी नैया को डूबने से नहीं बचा सकता है!

यहां भी श्यामसुन्दर का बौद्धिक केंचुल नृत्य समाप्त नहीं होता है। देखिये वह क्या लिखते हैं: "और जब हम यह कहते हैं कि दलित अपने संगठन बनाकर जनवाद के लिए लड़ें तो ***इससे हमारा यही तात्पर्य है*** कि दलित दलितवाद की दलदल से बाहर निकलें तथा अपनी लड़ाई को अन्य शोषितों-उत्पीडितों के साथ मिलकर व्यापक बनाएं।" **पहली बात तो जनवाद के लिए लड़ना और दलितवाद के दलदल से निकलना कोई विचारधारा नहीं है। दूसरी बात, श्यामसुन्दर की बात में ही अन्तरविरोध है और यहीं पर हम यह भी दिखलाना चाहेंगे कि बहस के अन्य मूल मुद्दे से श्यामसुन्दर कैसे भाग खड़े हुए हैं। यह मुद्दा था कि क्या दलितों के अलग संगठन बनाए जाने चाहिए या फिर जाति-विरोधी संगठन बनाए जाने चाहिए। श्यामसुन्दर एक तरफ दलितों को सुझाव दे रहे हैं कि वे अपने "वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित" जनसंगठन बनाएं; वहीं ऐसे जनसंगठनों से यह उम्मीद की जाती है कि वे दलितवाद के दलदल से बाहर निकलकर और अपनी लड़ाई को अन्य शोषितों और उत्पीड़ितों के**

साथ जोड़ दें। जब ये संगठन ही दलित संगठन ही होंगे, तो वे अन्य शोषितों-उत्पीड़ितों की लड़ाई से कैसे जुड़ पाएंगे और यदि वे जुड़ने की इच्छा कभी जताएं भी तो, अन्य शोषित और उत्पीड़ित उनसे कैसे जुड़ पाएंगे? यह विरोधाभासी बात है। केवल ऐसे जाति-विरोधी संगठन ही दलित आबादी के उस हिस्से को जो कि दलितवाद से प्रभावित है, दलितवाद के दलदल से बाहर निकाल सकते हैं जो कि जातिगत पहचान पर न बनें हों। लेकिन बहस के इस मूल प्रश्न पर श्यामसुन्दर ने चुप्पी साध ली है। कारण यह है कि इस बात को बदल पाना उनके लिए मुश्किल है, चाहे वह कितना भी 'मेरा मतलब था', 'मेरा अभिप्राय था', 'मेरा तात्पर्य था', 'हम जो कहना चाहते थे', आदि बोल लें!

श्यामसुन्दर का चमकीला सफेद झूठ और बहस के असल मुद्दे से भगोड़ेपन की मिसाल

अब श्यामसुन्दर के एक चमकीले सफेद झूठ पर आते हैं। पहले तो श्यामसुन्दर के इस कथन पर ग़ौर करें जो कि उन्होंने अपने पहले पत्र में लिखा था और जिसकी हमने आलोचना की थी: "हम समझते हैं कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, *युक्तिकर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर* अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें, यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का संघर्ष चलाएं; हिन्दुत्ववादी शक्तियों के हमलों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई लड़ें और इस लड़ाई में अन्य जातियों के तमाम समानता के पक्षधर मजदूरों-मेहनतकशों को, मज़दूर यूनियनों को अपने साथ जोड़ें तथा गैर-दलितों के अन्य भरोसेमन्द संगठनों के साथ मोर्चा कायम करें ताकि जाति उन्मूलन, सामाजिक अत्याचार और साथ ही साथ आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई को व्यापक रूप दिया जा सके। *बाबा साहब **ने भी** कहा था कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। जन संघर्ष मंच हरियाणा **इस प्रकार** की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है।"*

इस पर हमने कहा था कि स्पष्ट है कि जन संघर्ष मंच मानता है कि डा. अम्बेडकर भी सामाजिक अन्याय और आर्थिक शोषण की लड़ाई को मिलाना चाहते थे (इसीलिए लिखा है: "बाबा साहब ने ***भी*** कहा था", अन्यथा 'भी' की कोई आवश्यकता नहीं होती) और जन संघर्ष मंच हरियाणा भी "***इस*** प्रकार की लड़ाई और एक्के" के लिए पहले से ही प्रयासरत है। **अब श्यामसुन्दर अपनी बात से सफेद झूठ बोलते हुए मुकर गये हैं।** वह कहते हैं: "हमने अपने पर्चे में यह कहीं नहीं लिखा और न ही ऐसी अभिव्यक्ति है कि जन संघर्ष मंच हरियाणा डा. अम्बेडकर के इस कथन कि 'दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद' को अपने संघर्ष की दिशा मानकर पहले से ही अमल करता आ रहा है। जहां हमने यह लिखा है कि "जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील है और संघर्षरत है" तो इसका संबंध डा. भीमराव अम्बेडकर के उक्त कथन से पहले बताये जा चुके सामाजिक अत्याचारों तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई का व्यापक मोर्चा बनाते हुए संघर्ष से है।"

यह झूठ बोलने की इन्तहां है। इसीलिए हमने शुरू में ही कहा था कि श्यामसुन्दर अब अपने सांचो पांजाओं के समक्ष इज्जत बचाने के लिए कुतर्क करते-करते झूठ और बौद्धिक बेईमानी पर उतर आये हैं। पहली बात तो यह सामाजिक अत्याचारों और आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई के बारे में ही यह कहा गया है कि "बाबा साहब *ने भी*" ऐसी बात कही थी; और दूसरी बात, अगर डा. अम्बेडकर के कथन के ठीक बाद यदि कहा जायेगा कि जन संघर्ष मंच भी "इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए" प्रयासरत है, तो पाठक को क्या सपना आयेगा कि इस शब्द "इस" का रिश्ता ठीक पहले के वाक्य से नहीं बल्कि उससे भी पहले कहे गये वाक्य से है?

क्या सामान्य व्याकरण का ज्ञान भी नहीं है आपको? जाहिर है, श्यामसुन्दर बौद्धिक लंगोट बचाने के चक्कर में झूठ बोल रहे हैं। यही तो इन महोदय की दुविधा है जिसके बारे में हमने पहले जिक्र किया था: " *वास्तव में, श्यामसुन्दर हैमलेटियन दुविधा में फंसे हुए हैं: 'अम्बेडकर की आलोचना करूं या न करूं? अगर नहीं करता तो मेरे कार्यकर्ता क्या कहेंगे? अगर कर देता हूं तो दलित साथी बुरा मान जाएंगे! अच्छा, ऐसा करता हूं कि थोड़ी सी करता हूं और फिर थोड़ा महिमा-मण्डन भी कर दूंगा!'* यह है श्यामसुन्दर की चिन्तन प्रणाली जो कुछ कूपमण्डूकता और जड़बुद्धि से पैदा होती है और कुछ क्रांतिकारी साहस के अभाव और तुच्छ किस्म के अवसरवाद से।"

वास्तव में, श्यामसुन्दर अभी भी इसी दुविधा में फंसे हुए हैं और लेनिन के शब्दों में जब आप दो स्टूलों पर एक साथ बैठने का प्रयास करते हैं तो आप उनके बीच में गिरते हैं। यही हालत श्यामसुन्दर की है। **श्यामसुन्दर ने हमारे द्वारा अम्बेडकर के विषय में उनके विचारों की आलोचना का कोई जवाब ही नहीं दिया है और नये सिरे से कुछ उद्धरणों को बिना सन्दर्भ समझे चेंप दिया है। इन उद्धरणों को न समझने और इनकी गलत व्याख्या करने के श्यामसुन्दर के मूर्खतापूर्ण प्रयास को हम आगे बेनकाब करेंगे, लेकिन चूंकि अम्बेडकर पर पहले पत्र में पेश अपने मूर्खतापूर्ण विचारों की आलोचना पर श्यामसुन्दर चुप्पी साध गये हैं, इसलिए इस आलोचना के अन्त में अम्बेडकर के विचारों के विषय में श्यामसुन्दर की निपट अपढ़ता और मूर्खता को प्रदर्शित करने के लिए अपने पुराने जवाब के उस उपशीर्षक को इस नये जवाब के परिशिष्ट के तौर पर दे रहे हैं जिसमें कि हमने अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के हास्यास्पद अज्ञान को प्रदर्शित किया था। यहां बस यह याद दिला दें कि पिछले पत्र में श्यामसुन्दर ने यहां तक कहा था कि यदि अम्बेडकर आज़ादी के लिए लड़ते तो सत्ता पूंजीपतियों के हाथों में नहीं आती!** आगे आप दूसरे परिशिष्ट को अवश्य पढ़ें, यह देखने के लिए कि बहस के एक अहम मुद्दे से श्यामसुन्दर किस प्रकार भाग खड़े हुए हैं।

लेकिन अभी इस नये पत्र की नयी मूर्खताओं पर। श्यामसुन्दर भावविह्वल होकर कहते हैं: "लेकिन दलित समुदाय की जानकारी के लिए डा. भीमराव अम्बेडकर द्वारा कही गयी उन महत्वपूर्ण बातों एवं कथनों को हम अवश्य ही उद्धृत करना जरूरी समझते हैं जिनको मूर्त रूप देने के लिए वैज्ञानिक समाजवाद की दिशा अख्तियार करना अनिवार्य है जिसकी बाबा साहब अपनी पूरी ताकत के साथ खिलाफत करते रहे।" आइये देखते हैं कि डा. अम्बेडकर के वे विचार क्या हैं। श्यामसुन्दर डा. अम्बेडकर का यह उद्धरण पेश करते हैं: "पूंजीवादी संसदीय प्रजातंत्र व्यवस्था में दो बातें अवश्य होती हैं। जो काम करते हैं उन्हें गरीबी में रहना पड़ता है और जो काम नहीं करते उनके पास अकूत पूंजी जमा हो जाती है। एक तरफ राजनीतिक समता और दूसरी तरफ आर्थिक विषमताएं। जब तक ***मज़दूरों को*** मकान, कपड़ा, सहारा, निरोग जीवन नहीं मिलते, विशेष रूप में, जब तक वह सम्मान के साथ अपनी गर्दन ऊंची कर निर्भय हो जीवनयापन नहीं कर सकता, तब तक स्वाधीनता कोई मायने नहीं रखती। हर मज़दूर को सुरक्षा और राष्ट्रीय सम्पत्ति में सहभागी होने का आश्वासन मिलना आवश्यक है।"

पहली बात तो यह कि श्यामसुन्दर ने जहां से भी यह उद्धरण कॉपी किया है, वह स्रोत बहुत ही दो टके का है क्योंकि जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं कि यह भाषण 9 सितम्बर 1943 का है, वैसा नहीं है, यह भाषण 15 सितम्बर 1943 का है और दूसरी बात उपरोक्त उद्धरण ही ग़लत है। इसे निहायत बेहूदी अनैतिकता के साथ श्यामसुन्दर ने सम्पादित कर दिया है या फिर जिस भी वाहियात स्रोत से श्यामसुन्दर ने इस उद्धरण को चेंपा है, उस व्यक्ति ने यह काम किया है। इसलिए हम मूल उद्धरण पूरा पेश कर रहे हैं:

"Those who are living under the capitalistic form of industrial organization and under the form of political organization called parliamentary democracy must recognize the contradictions of their system. The first contradiction is between fabulous wealth and abject poverty not in its simple form but in its aggravated form in which we see it, wealth to those who do not work and poverty for those who do.

"The second contradiction lies between the political and economic systems. In politics, equality; in economics, inequality. One man one vote, one vote one value is our political maxim. Our maxim in economics is a negation of our political maxim. There might be differences of opinion in the matter of resolving these contrasts. But there can be no difference of opinion on the point that these contradictions do exist.

"It is true these contradictions, though glaring, passed unnoticed by the mass of the people. But today the situation has changed and the contrasts which even the *keenest* was not aware of are now brought home even to the *dullest.*

"The second observation I wish to make is this. Ever since the basis of social life was changed from status to contract in security of life has become a social problem and its solution has occupied the thoughts of all those who believe in the betterment of human life. There has been an enormous energy spent in enunciating the rights of man and the different sorts of freedom which must be regarded as his inalienable birth right. All this, of course, is very good, very cheering. What I wish to say is that there will be very little security unless and until ***to use the words of the Report of the Economic Group of the Pacific Relations Conference,*** these rights are translated into terms which ***the common man*** can understand, namely, peace, a house, adequate clothing, education, good health, and, above all, the right to walk with dignity on the world's great boulevards without the fear of a fall.

"...We shall have to agree not merely to recognize the basic right of ***all Indians*** to share in that wealth as a means for a decent and dignified existence but to devise ways and means to ensure him against insecurity." (B. R. Ambedkar, First Session of Plenary Labour Conference, September 15, 1943)

जैसा कि आप देख सकते हैं, श्यामसुन्दर जानबूझकर मिस्कोट कर रहे हैं; डा. अम्बेडकर ने कहीं भी 'workers' की बात नहीं की है, बल्कि Indians की बात की है। दूसरी बात, पूरा उद्धरण ही श्यामसुन्दर ने अपनी आवश्यकता के अनुसार बदलकर पेश किया है। **इससे ज्यादा घटिया बेईमानी की बात और क्या हो सकती है कि श्यामसुन्दर बाबा साहब के उद्धरण को विकृत करके, तोड़-मरोड़कर और बदलकर पेश कर रहे हैं! इन्होंने तो तिथि तक बदल डाली है!**

दूसरी बात यह कि यहां अम्बेडकर ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं जो कि वैज्ञानिक समाजवादी कार्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा हो। यह पुराने कल्याणकारी फेबियन कार्यक्रम से ही ली गयी बात है, जो अम्बेडकर यहां कह रहे हैं। जिस पूंजीवाद की वह आलोचना करते थे, वह था मुक्त व्यापार पर आधारित निजी पूंजीवाद। इसलिए यदि श्यामसुन्दर को यह लगता है कि डा. अम्बेडकर यहां आम तौर पर पूंजीवाद की आलोचना कर रहे हैं, तो यह उनकी मूर्खता है। उन्हें पहले अम्बेडकर के पूरे राजनीतिक विचार को ठीक से पढ़ लेना चाहिए। अम्बेडकर सच्चे ड्यूईवादी और फेबियन के समान निजी पूंजीवाद की ऐसी व्यवस्था को, जिसमें राज्य के विनियमन के बिना पूंजी को खुली छूट दी गयी हो, नुकसानदेह मानते थे और उन्हें लगता था कि यदि एक कल्याणकारी राज्य (जो कि एक ड्यूईवादी के तौर पर अम्बेडकर के लिए तर्कणा का मूर्त रूप और महान मध्यस्थकर्ता है और समाज को शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों के बिना, सुचारू रूप से चलाने वाली शक्ति है) पूंजी को विनियमित करे, नागरिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा के विधिक इंतज़ाम करे, मज़दूरों को कलेक्टिव बार्गेनिंग का अधिकार दे, यानी कि पूंजीवादी शोषण को नुकसानदेह सीमाओं के बाहर न जाने दे, तो फिर सभी खुश रहेंगे--मज़दूर मज़दूर रहते हुए खुश रहेगा, पूंजीपति पूंजीपति रहते हुए खुश रहेगा और सभी भाईचारे से रहेंगे। यही कारण है कि उनके 1942 से 1946 के हरेक भाषणों, वक्तव्यों आदि में त्रिपक्षीय प्रबंध का समर्थन किया गया है, ताकि श्रम और पूंजी के अन्तरविरोधों को तीसरा पक्ष, यानी कि राज्यसत्ता, एक महान मध्यस्थकर्ता के तौर पर विनियमित करे। एक मार्क्सवादी के तौर पर हम जानते हैं कि कल्याणकारी राज्य का यह यूटोपिया एक अव्यावहारिक दिवास्वप्न है और पूंजीवादी दायरे के भीतर यह सम्भव ही नहीं है। **अम्बेडकर इसी व्यवस्था को फेबियन शब्दावली इस्तेमाल करते हुए "राजकीय समाजवाद" कहते थे, जो कि एक गलत शब्द (oxymoron) है, यह भी एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी के तौर पर हम जानते हैं। अम्बेडकर राज्य का कोई वर्ग चरित्र नहीं मानते थे; वे तो समाज को एक वर्ग संरचना के तौर पर भी नहीं देखते थे, बल्कि जॉन ड्यूई के समान 'असंगत समूहों का समुच्चय' (collection of disparate groups) मानते थे, जिसमें कि मज़दूर, फुटबॉल क्लब, ट्रेड यूनियन, पूंजीपतियों का संघ सभी आ जाते हैं; इनके बीच एक प्रतीतिगत अन्तरविरोध होता है और इन प्रतीतिगत अन्तरविरोधों को राज्य महान मध्यस्थकर्ता और सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता के तौर पर हल करता है और विनियमित करता है।** जिसने भी अम्बेडकर के लेखन को गंभीरता से पढ़ा है, वह ये बातें अच्छी तरह जानता है। लेकिन श्यामसुन्दर को तो ठीक से उद्धृत करना भी नहीं आता है, उनसे यह उम्मीद करना ही बेकार है कि उनकी समझ में कुछ भी आएगा।

दूसरे उद्धरण पर आते हैं। 22 सितम्बर 1944 को डा. अम्बेडकर ने कोई भाषण ही नहीं दिया था। 1944 में ऐसा कोई भाषण ही नहीं है, जिसमें डा. अम्बेडकर ने यह शब्द कहे हों: "...प्रजातन्त्र के शासन की बागडोर यदि पूंजीपतियों के हाथों में जाती है, तो फिर अन्य प्रजाजनों को गुलामी में जीना और मरना होगा।" डा. अम्बेडकर के जिस उद्धरण में उपरोक्त बात से बहुत-ही थोड़ी सी समानता रखने वाली बात मिलती है वह यह है, जो कि डा. अम्बेडकर ने उन देशों के बारे में कहा था जिन देशों में अत्यधिक सामाजिक और आर्थिक असमानता के कारण संसदीय लोकतंत्र सफल नहीं हो पाया, जैसे कि जर्मनी, इटली और स्पेन: "Parliamentary democracy, notwithstanding the paraphernalia of a popular government,

is in reality a government of a hereditary subject class by a hereditary ruling class." (B. R. Ambedkar, *Labour and Parliamentary Democracy,* Speech delivered at the concluding session of the All India Trade Union Workers' Study Camp held in Delhi from 8th to 17th September, 1943 under the auspices of the Indian Federation of Labour) जैसा कि आप देख सकते हैं कि डा. अम्बेडकर ने वैसी कोई बात ही नहीं कही है, जिसे श्यामसुन्दर उद्धृत कर रहे हैं। अम्बेडकर के संकलित लेखन व भाषणों के समस्त खण्डों में ऐसा कोई भाषण नहीं है, जोकि 22 सितम्बर 1944 को दिया गया हो और जिसमें कि अम्बेडकर ने वह बातें कहीं हों, जिसका कि श्यमासुन्दर दावा कर रहे हैं। या तो श्यामसुन्दर ने यह उद्धरण अपने मन से रच दिया है या फिर उन्होंने किसी द्वितीयक स्रोत से इसे उठाकर चेंप दिया है, जिसने कि इस उद्धरण को रचा हो। **यानी कि श्यामसुन्दर फर्जीवाड़ा करके बच निकलने की फिराक में हैं और बेईमानी और चार सौ बीसी की किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं। यह इनके "अपनी इज्जत बचाओ अभियान" का चरम है।**

इसके बाद श्यामसुन्दर कुछ गैर-जरूरी बातें कहते हैं जैसे कि उनका "सुविचारित मत" है कि जातिविहीन समाज की स्थापना डा. अम्बेडकर की तीव्र इच्छा थी। **इससे किसने इंकार किया है? और इतना कहने के लिए भी श्यामसुन्दर को बहुत विचार करना पड़ा, तो उनकी मानसिक-बौद्धिक स्थिति बहुत दयनीय मानी जायेगी।** लेकिन इसके बाद श्यामसुन्दर फिर अपनी मूर्खतापूर्ण बातों पर आ जाते हैं: "इसलिए हम समझते हैं कि ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध उनके जितने भी कथन हैं, आम दलित समुदाय के सामने रखे जाएं। बाबा साहब के भाषणों से ऊपर दो उद्धरण हमने इसलिए चुने (*क्योंकि आपको यही मिले, उनमें से भी एक औंधी खोपड़ी की रचना है और जो औंधी खोपड़ी की रचना नहीं है उसको भी आपने गलत उद्धृत किया और उसका भी मतलब आपकी समझ में नहीं आया - लेखक*) कि दलित समुदाय अपने लम्बे तजुर्बे के बाद यह समझ ले कि वर्तमान पूंजीवादी जनतंत्र न तो उन्हें गरीबी से निकाल सकता है और न ही उन्हें बराबरी का दर्जा दे सकता है...इस प्रकार के कथनों का महज़ इतना ही मतलब होता है कि आम शोषित-पीड़ित जनता के मन मस्तिष्क पर यदि किसी व्यक्ति का यह प्रभाव है कि वह निस्वार्थ भाव से उनकी लड़ाई का रहनुमा है, तो ऐसे समाज सुधारक/महापुरुष के चुनिंदा कथनों से यदि शोषित-पीड़ित, दलित जनता को उनकी जिंदगी की असलियत बारे कोई बात समझाने में मदद मिलती है तो हम समझते हैं कि ऐसे कथनों का प्रयोग किया जाना उचित है।"

<u>पहली बात तो यह कि आपने अम्बेडकर के विचारों को समझा ही नहीं है और सन्दर्भों से काटकर, विकृत करके उन्हें मिस्कोट कर रहे हैं। दूसरी बात, यदि आप अम्बेडकर के विचारों को सन्दर्भ से काटकर उद्धृत करके अपने इरादे पूरे करना चाहते हैं, तो इसी को राजनीतिक अवसरवाद कहा जाता है। तीसरी बात, यदि कल्याणकारी पूंजीवाद की हिमायत के कारण अम्बेडकर के विचारों का आप प्रचार-प्रसार करना चाहते हैं, तो उन्हीं का क्यों, आपको नेहरू के विचारों का भी प्रचार-प्रसार करना चाहिए। वह अम्बेडकर से कम तर्कवादी नहीं थे और जाति व्यवस्था की उन्होंने भी आलोचना की है। चौथी बात, आप अम्बेडकर के उद्धरणों को काट-छांटकर जनता को पढ़ाना चाहते हैं, मगर इससे डा. अम्बेडकर की पूरी विचारधारा का प्रचार होगा, सिर्फ उन उद्धरणों का नहीं जिन्हें मिस्कोट करके और झूठ बोलकर आप जनता के बीच ले जाना चाहते हैं।</u> यह श्यामसुन्दर के नेतृत्व में जन संघर्ष मंच हरियाणा का निम्न कोटि का राजनीतिक अवसरवाद है; इस अवसरवाद के कारण ही श्यामसुन्दर भी इस प्रकार के बेतुके निरपेक्ष सवाल पूछते हैं: "क्या ज्योतिराव फुले, पेरियार और डा. भीमराव अम्बेडकर को देश का दलित समुदाय अपनी मुक्ति का रहनुमा नहीं मानता है? क्योंकि इनकी

विचारधारा और इनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं था तो क्या इसी आधार पर इन्होंने जो कुछ लिखा और कहा उस सब को एकदम खारिज कर देंगे? क्या हम इनके हर कथन को गलत सिद्ध करने के रास्ते ही देश के दलित समुदाय को समाजवादी क्रांति का हिस्सा बना सकेंगे?...डा. भीमराव अम्बेडकर के खिलाफ इस प्रकार के अभियान को हम गलत मानते हैं।"

कैसा निम्न कोटि का अवसरवादी व्यक्ति है यह! अब यह महोदय अपने बचाव में शर्म-हया की सारी हदें पार कर चुके हैं। यही कारण है कि यह डा. अम्बेडकर के विषय में इनके निपट अहमक विचारों की हमारी आलोचना का जवाब देने की बजाय या तो झूठ बोल रहे हैं, कठदलीली कर रहे हैं, बातबदलू वाली हरकतें कर रहे हैं या फिर जिन सवालों का बिल्कुल ही जवाब देते नहीं बन रहा, उन पर चुप्पी साध ली है। इसीलिए हमने अपने पिछले जवाब का वह पूरा उपशीर्षक यहां पर परिशिष्ट के तौर पर दे दिया है, ताकि पाठक खुद ही इन जनाब की बेईमानी और बेशरमी देख लें। जिसने भी डा. अम्बेडकर पर हमारे साहित्य और व्याख्यानों का अध्ययन किया है वह जानता है कि सवाल पूरी तरह खारिज करने का है ही नहीं। **सवाल यह है कि क्या डा. अम्बेडकर के विचारों को घुमाफिराकर और विकृत करके पेश किया जाना उचित है? क्या मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उनकी आलोचना पेश नहीं की जानी चाहिए? हमने अपने साहित्य और व्याख्यानों में डा. अम्बेडकर के तीन योगदानों की चर्चा की है। जिन्हें हमारे द्वारा डा. अम्बेडकर के किये गये मूल्यांकन में दिलचस्पी है, वे इस लिंक पर जाकर देख सकते हैं :**

1. https://www.youtube.com/watch?v=Y5NHnmC558g
2. https://www.youtube.com/watch?v=Z3u5dcNaeHs&list=PLDqnwlOzqOO7KKaRnaliEdw9fDNZnI2uY
3. https://redpolemique.wordpress.com/2017/05/04/caste-question-marxism-and-the-political-legacy-of-b-r-ambedkar/

श्यामसुन्दर को आलोचना "डा. अम्बेडकर के खिलाफ अभियान" लगती है, तो यह औंधी खोपड़ी का ही कमाल है। हम उनके समान सैद्धान्तिक, राजनीतिक, आर्थिक कार्यक्रम और सामाजिक कार्यक्रम के प्रश्न पर डा. अम्बेडकर और अम्बेडकरवादियों का तुष्टिकरण करने को एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी के तौर पर शर्मनाक और अपने सम्मान के खिलाफ मानते हैं। डा. अम्बेडकर के प्रति सम्मान रखना एक बात है। मगर श्यामसुन्दर की तरह सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक दलाली करने वाले व्यक्ति को इतिहास माफ नहीं करता है। **याद रहे, जो यह महोदय लिख रहे हैं, वह खत्म नहीं होगा, क्योंकि लिखी गयी बात स्मृति और इतिहास से समाप्त नहीं होती है। आत्मरक्षा करने में कई बार आदमी अपनी राजनीतिक हस्ती ही तबाह कर लेता है। हमें डर है कि हमारे दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र के साथ कुछ ऐसा ही होने वाला है।**

हमारा पाठकों से आग्रह होगा कि हमारे इस जवाब के परिशिष्ट को जरूर पढ़ें, जो कि हमारे पिछले जवाब का ही एक हिस्सा है और जिसमें कि डा. अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर द्वारा पेश सारे विचारों की सोदाहरण और सप्रमाण शल्य चिकित्सा की गयी है, ताकि श्यामसुन्दर की बौद्धिक बेईमानी और बेशर्मी को समझ सकें।

श्यामसुन्दर की एक और बेईमानी भरी मौकापरस्ती और बातबदलूपन

आइये दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र की अगली बेईमानी पर चलते हैं। अम्बेडकर के प्रश्न पर यह महोदय ऐसा फंसें हैं कि ऐसी-ऐसी अंगड़ाइयां और ऐंठनें मार रहे हैं, कि देखते ही बनता है! स्वंय ही देखिये। श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा ने हमारे द्वारा उद्धृत किये गये अम्बेडकर के इस संदेश को भी आलोचना का विषय बनाया कि अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को दलितों के दो शत्रुओं के रूप में नहीं बल्कि श्रमिक वर्ग के दो शत्रु बताया था। और साथ में लिखा कि दलितों का जिक्र तो आई.एल.पी. के कार्यक्रम में चंदेक बार ही हुआ था। *यानी खुद ही स्वीकार भी कर लिया कि यह संदेश दलितों के लिए भी था बेशक उनके श्रमिक होने के नाते ही, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष की तो सभी श्रमिकों की जरूरत थी और है लेकिन डा. भीमराव अम्बेडकर के लक्ष्य में दलितों के लिए यह मुद्दा प्रमुख था।"* प्रश्न यह है कि डा. अम्बेडकर को श्यामसुन्दर ने किस प्रकार उद्धृत किया था। उन्होंने लिखा था कि अम्बेडकर ने दलितों के दो शत्रु बताये हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। हमने बताया कि नहीं, उन्होंने श्रमिकों के दो शत्रु बताये हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। **जिस जगह अम्बेडकर ने यह लिखा है, उसका दलितों से विशिष्ट रूप से कोई सम्बन्ध ही नहीं है; दलितों का जिक्र अलग से चन्द जगहों पर आई.एल.पी. के कार्यक्रम में है। क्या इससे यह अर्थ निकलता है कि डा. अम्बेडकर आम तौर पर सभी दलितों के लिए पूंजीवाद को शत्रु मानते थे? नहीं! यदि वह मानते भी थे, तो यह यहां लिखा नहीं है और यदि वह मानते भी थे, तो वह आम तौर पर पूंजीवाद के विरोधी नहीं थे, बल्कि वह मुक्त व्यापार और खुली प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित राज्य द्वारा अविनियमित पूंजीवाद को शत्रु मानते थे। दरअसल, श्यामसुन्दर ने आई.एल.पी. का कार्यक्रम भी पूरा नहीं पढ़ा है, वरना उन्हें पता होता कि उसी कार्यक्रम में वह राजकीय पूंजीवाद का कल्याणकारी कार्यक्रम ही पेश कर रहे हैं, जिसे वह राजकीय समाजवाद समझते हैं क्योंकि राज्य का अम्बेडकर के लिए कोई वर्ग चरित्र नहीं था।** इसीलिए, श्यामसुन्दर को पहले जो पढ़ते हैं वह पूरा पढ़ना चाहिए और जो भी पढ़ते हैं उसमें अर्थ समझना चाहिए। बच्चे जब नया-नया पढ़ना सीखते हैं, तो वह बस पढ़ते हैं बिना अर्थ को समझे हुए क्योंकि वह पढ़ने की क्रिया का आनन्द लेते हैं और खुश होते रहते हैं कि वह पढ़ पा रहे हैं! यह बचपन में शोभा देता है, इस उम्र में नहीं।

फिर श्यामसुन्दर अश्रुमिश्रित रुष्टता के साथ पूछते हैं: "...यह संदेश कि श्रमिकों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद, सकारात्मक है या नकारात्मक? उनका यह सन्देश श्रमिकों और दलितों में ले जाने लायक है अथवा नहीं? क्योंकि बाबा साहब मार्क्सवाद-विरोधी थे और ***उनकी पूंजीवाद की अवधारणा राजकीय पूंजीवाद तक ही सीमित थी*** तो क्या महज़ इसी वजह से पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद दो शत्रुओं वाला श्रमिकों और दलितों के प्रति उनका संदेश कोई मूल्य नहीं रखता?"

जैसा कि आप देख सकते हैं, फिर से बेईमानी से भरी मूर्खताओं की बौछार कर दी है औंधी खोपड़ी ने। पहली बात, पहले समझो कि डा. अम्बेडकर किस पूंजीवाद की बात कर रहे हैं; वह केवल अविनियमित मुक्त व्यापार और प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित पूंजीवाद की बात कर रहे हैं। क्या यह सच्चाई बताते हुए डा. अम्बेडकर की इस बात को श्रमिकों और दलितों को बताया जाना चाहिए? बिल्कुल बताया जाना चाहिए और हम तो बताते भी हैं। लेकिन श्यामसुन्दर इस सच्चाई को जानते और समझते नहीं हैं और यदि वे जानते हैं तो इसे 'अश्वत्थामा मरो, नरो वाकुंजरो' की शैली में बताते हैं।

दूसरी बात, अम्बेडकर की *पूंजीवाद* की अवधारणा राजकीय पूंजीवाद तक नहीं सीमित थी, उनकी *समाजवाद* की अवधारणा राजकीय पूंजीवाद तक सीमित थी; मुक्त व्यापार अविनियमित पूंजीवाद के बारे में

तो वह जानते ही थे और उसकी आलोचना भी करते थे। उनका सन्देश श्रमिकों और दलितों के लिए यह आलोचनात्मक मूल्य रखता है: वर्ग को समझे बिना, पूंजीवाद को समझे बिना, मार्क्सवाद को समझे बिना यदि कोई जाति अन्त और समानता और भाईचारे की कामना रखता भी है, तो यह कामना ही रह जाती है। जाति अन्त के प्रति उनकी प्रतिबद्धता के अलावा क्या मार्क्सवादी-लेनिनवादी डा. अम्बेडकर से कुछ साझा रखते हैं? दर्शन में? राजनीतिक अर्थशास्त्र में? सामाजिक कार्यक्रम में? राजनीतिक मॉडल में? नहीं! क्या इसके लिए उन्हें शर्मिन्दा या माफी की मुद्रा में होना चाहिए? कतई नहीं! क्या उन्हें झूठ बोलकर अम्बेडकर का हिमायती बनना चाहिए ताकि वह दलितों का तुष्टिकरण कर सकें (वैसे ऐसा होता नहीं है क्योंकि जनता मूर्ख नहीं होती, औंधी खोपड़ियां मूर्ख होती हैं!)? कतई नहीं! जैसा कि महान शिक्षकों का कहना रहा है, मार्क्सवादी अपने विचारों को छिपाना घृणास्पद मानते हैं। क्या श्यामसुन्दर ऐसी हरकत कर रहे हैं? लगातार, बिना थके, बदस्तूर! क्यों? दोन किहोते दि ला कुरुक्षेत्र यदि अपने सांचो पांजाओं के सामने अपनी इज्जत ही नहीं बचाएगा, तो फिर उसका तो काल्पनिक नाइटहुड ही समाप्त हो जायेगा! लेकिन वही बात है कि लिखी हुई बात समाप्त नहीं होती, और यदि लफ्फाजी और बेईमानी के साथ लिखी गयी हो तो वह आपको ही समाप्त कर देती है।

आगे श्यामसुन्दर हमारे मुख्य पेपर और सुखविन्दर के पेपर के एक-एक हिस्से को उद्धृत करते हैं और यह साबित करना चाहते हैं कि उसमें अन्तरविरोध है। उनके अनुसार, एक में अन्तरजातीय विवाह करने को जाति व्यवस्था के नाश का रास्ता बताया गया है, जबकि सुखविन्दर के पेपर में इसे नकारा गया है। आइये इस दावे की सच्चाई पर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हमारा पहला उद्धरण, जो कि मुख्य पेपर से लिया गया है, वह यह है: "हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो ग़लत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताकत हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएं करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएं निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अंतरजातीय विवाह (intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।"

पहली बात, यहां अन्तरजातीय विवाह को जाति नाश का रास्ता नहीं बताया गया है, बल्कि जाति-विरोधी संगठन की उन तमाम गतिविधियों में से एक बताया गया है, जो कि जाति व्यवस्था पर चोट करने के लिए जाति विरोधी संगठन करेगा। दूसरी बात, इन सभी गतिविधियों की मुख्य भूमिका जाति की रेखाओं के आर-पार समूचे मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश अवाम को संगठित करने में ज्यादा है, हालांकि यह जाति व्यवस्था पर भी चोट पहुंचाती है। तीसरी बात यह कि यदि यह पेपर और हमारे अन्य पेपरों को पूरा पढ़ें तो हमारी यह धारणा किसी को भी स्पष्ट होगी कि हम जाति नाश की परियोजना को वर्ग विहीन समाज से पहले पूर्ण होने की सम्भावना को खारिज करते हैं। जाति वर्ग और पितृसत्ता के साथ ही अस्तित्व में आयी थी और यह वर्ग और पितृसत्ता के साथ ही पूरी तरह से अस्तित्व से जा सकती है। अन्तरजातीय विवाह कराने का अर्थ अरेंज्ड अन्तरजातीय विवाह कराना नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यावहारिक व्यक्ति जानता है कि यह सम्भव ही नहीं है। अन्तरजातीय विवाह कराने का अर्थ है कि ऐसे जोड़ों को जिन्होंने कि अन्तरजातीय प्रेम किया हो, उन्हें अन्तरजातीय विवाह कराने में हर प्रकार की सहायता देना और उनका सम्मान करना। यह कार्रवाई हम कई वर्षों से कर भी रहे हैं। लेकिन समस्या वहीं है, जब कोई व्यक्ति शब्दों को पढ़ता है और अर्थों और सन्दर्भों को नहीं, तो वह औंधी खोपड़ी जैसे ही कमाल करता है!

सुखविन्दर के पेपर में जो बात कही गयी है वह यह है: "आज के संदर्भ में बात करें तो 'जाति उन्मूलन' के लिए अम्बेडकर ने जो अंतरजातीय विवाहों का रास्ता सुझाया था, यह जाति व्यवस्था पर चोट करने के लिए काफी हद तक कारगर हो सकता है। लेकिन यह हिन्दू धर्म में किसी यूटोपियाई सुधारों के जरिये संभव नहीं होगा (जैसा कि अम्बेडकर कहते हैं)। अरेंज्ड अन्तरजातीय विवाह नहीं हो सकते। सिर्फ अन्तरजातीय प्रेम विवाह ही संभव हैं। प्रेम करने के लिए समय, शिक्षा और संस्कृति की जरूरत होती है। लेकिन आज भी दलितों की लगभग 90 फीसदी आबादी उजरती गुलाम है, जिसके पास प्रेम करने के लिए न तो समय है, न शिक्षा और न ही संस्कृति। संस्कृतिविहीन प्रेम कभी भी मानवीय प्रेम नहीं हो सकता, यह सिर्फ पाशविक प्रेम ही हो सकता है। दलितों के बीच शिक्षा तथा संस्कृति के प्रसार के लिए जरूरी है कि उनकी आर्थिक दशा में सुधार किया जाए और इसलिए मौजूदा पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को बदलना होगा।"

यहां बताया गया है: (1) अन्तरजातीय विवाह से जाति व्यवस्था पर चोट पहुंचेगी; (2) लेकिन पितृसत्ता और जाति व्यवस्था का अन्तर्गुंथन ही ऐसा है कि अन्तरजातीय विवाह आम तौर पर प्रेम विवाह ही होंगे। इसलिए मुख्य पेपर और सुखविन्दर के पेपर के इन उद्धरणों में कोई विरोधाभास नहीं है। लेकिन श्यामसुन्दर की यह भी आपत्ति है कि हमने दलित उजरती श्रमिकों के प्रेम को पाशविक क्यों कहा? **पहली बात तो यह है कि इन महोदय को पढ़ना भी सिखाना पड़ेगा क्योंकि दलित उजरती श्रमिकों के प्रेम को पाशविक नहीं कहा गया है, बल्कि कहा गया है कि उजरती श्रमिकों के पास न तो प्रेम करने के लिए समय है और न ही संस्कृति।** लेकिन फिर श्यामसुन्दर पूछते हैं कि यदि वह मानवीय प्रेम कर ही नहीं पाएंगे तो फिर अन्तरजातीय विवाह होंगे कैसे? बात सही है! यह एक समस्या तो है ही। इसीलिए इसका स्थायी समाधान पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का खात्मा है। लेकिन आम नियम के अपवाद होते हैं और कुछ नौजवान, जो कि बेशक मध्यवर्ग से हों या मज़दूर वर्ग से या किसी भी वर्ग से, मगर जाति के बंधन तोड़कर प्यार करते हैं, तो निश्चित तौर पर उन्हें अन्तरजातीय विवाह करने में हर प्रकार की मदद और सुरक्षा दी जानी चाहिए। अब आते हैं इस नुक्ते पर कि क्या यह कह कर कि मज़दूर आबादी के पास एक मानवीय प्रेम कर पाने के लिए समय और संस्कृति का अभाव है, हमने कोई वर्ग-विरोधी या मार्क्सवाद-विरोधी बात कह दी, तो आइये मार्क्स के शब्दों में ही मज़दूरों के पाशविकीकरण और अमानवीकरण पर कुछ शब्द सुन लेते हैं:

"What, then, constitutes the alienation of labour?

"First, the fact that labour is *external* to the worker, i.e., it does not belong to his intrinsic nature; that in his work, therefore, he does not affirm himself but denies himself, does not feel content but unhappy, does not develop freely his physical and mental energy but mortifies his body and ruins his mind. The worker therefore only feels himself outside his work, and in his work feels outside himself. He feels at home when he is not working, and when he is working he does not feel at home. His labour is therefore not voluntary, but coerced; it is *forced labour.* It is therefore not the satisfaction of a need; it is merely a *means* to satisfy needs external to it. Its alien character emerges clearly in the fact that as soon as no physical or other compulsion exists, labour is shunned like the plague. External labour, labour in which man alienates himself, is a labour of self-

sacrifice, of mortification. Lastly, the external character of labour for the worker appears in the fact that it is not his own, but someone else's, that it does not belong to him, that in it he belongs, not to himself, but to another. Just as in religion, the spontaneous activity of the human imagination, of the human brain and the human heart, operates on the individual independently of him--that is, operates as an alien, divine or diabolical activity--so is the worker's activity not his spontaneous activity. It belongs to another; it is the loss of his self.

"As a result, therefore, man (the worker) only feels himself freely active in his animal functions--eating, drinking, procreating, or at most in his dwelling and in dressing-up, etc.; and in his human functions he no longer feels himself to be anything but an animal. What is animal becomes human, what is human becomes animal.

"Certainly, eating, drinking, procreating etc, are also genuinely human functions. But taken abstractly, separated from the sphere of all other human activities and turned into soul and ultimate ends, they are animal functions." (Marx, *Economic and Philosophical Manuscripts of 1844*)

जैसा कि आप देख सकते हैं, मार्क्स विस्तार से बताते हैं कि मज़दूर का पाशविकीकरण और अमानवीकरण क्यों होता है। प्रश्न मज़दूर के उच्च सांस्कृतिक प्रेम करने की जेनेटिक क्षमता का नहीं है, और श्यामसुन्दर बेकार ही मज़दूरों को लेकर आहत हो गये हैं। **यह अलगाव का प्रश्न है जिसे समझना यहां ज़रूरी है। मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खण्ड के दसवें अध्याय में भी दिखलाया है कि कारखाना व्यवस्था आने के साथ सर्वहारा वर्ग के पुरुषों और स्त्रियों के सम्बन्ध में किस प्रकार रूपान्तरण हुआ, किस प्रकार उसका अमानवीकरण, नैतिक अध:पतन हुआ। यह सर्वहारा वर्ग की आलोचना नहीं है, बल्कि पूंजीवाद की आलोचना है। लेकिन श्यामसुन्दर जैसे एसयूसीआई परम्परा के एथिकलिस्ट और मॉरलिस्ट वामपंथियों के लिए यह समझना थोड़ा मुश्किल है, बशर्ते कि उस परम्परा से निर्णायक विच्छेद न किया जाय।**

समस्या यह है कि श्यामसुन्दर ने सोवियत संशोधनवाद की पुस्तकों से ही मार्क्सवाद पढ़ा है और इसके अलावा यदि मार्क्सवाद पढ़ा भी है, तो अपनी आवश्यकतानुसार विषय अनुक्रमणिका से विषय देख-देखकर टुकड़ों में। यह बात हम ऊपर कई बार दिखला चुके हैं कि इस वजह से उद्धरणों का अर्थ और सन्दर्भ नहीं समझना, उन्हें गलत-सलत पेश करना, गलत अनुवाद को पेश करना, आदि उनकी आम आदत है।

सन्दर्भ न समझने के कारण श्यामसुन्दर की एक और मूर्खता

आखिरी में आते हैं "बहू-बेटियों" शब्द युग्म के प्रयोग पर। हमने पिछले जवाब में लिखा था कि ऐसी भाषा वास्तव में श्यामसुन्दर पर एसयूसीआई के सेण्टिमेण्टलिस्ट, मॉरलिस्ट, एथिकलिस्ट वामपंथ के अभी तक

मौजूद असर को प्रदर्शित करता है (हालांकि अब हमें लगता है कि कुछ असर आर्य समाज का भी हो सकता है)। इसके जवाब में श्यामसुन्दर ने मार्क्स के एक उद्धरण को पेश किया है जहां मार्क्स ने बुर्जुआ वर्ग द्वारा मज़दूरों की बहू-बेटियों को इस्तेमाल करने की बात की है। यहां भी वही समस्या है कि श्यामसुन्दर ने सर्च बटन दबाकर 'wives and daughters' ढूंढा है और पूरे उद्धरण को देखे बिना चेंप दिया है। **यदि पूरे उद्धरण को देखें तो हम पाते हैं कि मार्क्स यहां बुर्जुआ वर्ग के शब्दों में बुर्जुआ वर्ग की खिल्ली उड़ाते हुए कह रहे हैं कि औरतों के समाजीकरण के कम्युनिस्ट नारे से बुर्जुआ वर्ग भयभीत हो जाता है, जबकि एक भोंड़े किस्म का औरतों का समाजीकरण स्वयं बुर्जुआ वर्ग कर चुका है। वह मज़दूरों की पत्नियों और बेटियों को अपनी मनमर्जी इस्तेमाल करने तक ही नहीं रुकता बल्कि आपस में भी अपनी पत्नियों को साझा करता है, क्योंकि वह स्त्रियों को भी उत्पादन का एक उपकरण मात्र मानता है।** यहां मार्क्स व्यंग्य (sarcasm) का प्रयोग कर रहे हैं; लेकिन हम ऊपर भी देख चुके हैं कि रूपक, कहावत, मुहावरा, अलंकार और व्यंग्य जैसी चीज़ें समझ पाना औंधी खोपड़ी की क्षमता से बाहर की चीज़ें हैं। **इसलिए आइये इस पूरे उद्धरण को देख लेते हैं ताकि सन्देह की कोई गुंजाइश न रहे:**

"But you Communists would introduce community of women, *screams the bourgeoisie in chorus.*

"The *bourgeois sees* his wife a mere instrument of production. *He hears* that the instruments of production are to be exploited in common, and, naturally, can come to no other conclusion that the lot of being common to all will likewise fall to the women.

"*He* has not even a suspicion that the real point aimed at is to do away with the status of women as mere instruments of production.

"For the rest, *nothing is more ridiculous than the virtuous indignation of our bourgeois at the community of women* which, they pretend, is to be openly and officially established by the Communists. The Communists have no need to introduce community of women; it has existed almost from time immemorial.

"Our bourgeois, not content with having wives and daughters of their proletarians at their disposal, not to speak of common prostitutes, take the greatest pleasure in seducing each other's wives.

"Bourgeois marriage is, in reality, a system of wives in common and thus, at the most, what the Communists might possibly be reproached with is that they desire to introduce, in substitution for a hypocritically concealed, an openly legalised community

of women. For the rest, *it is self-evident that the abolition of the present system of production must bring with it the abolition of the community of women springing from that system, i.e., of prostitution both public and private.*"

कोई भी भाषा और शैली समझने वाला व्यक्ति समझ सकता है कि मार्क्स यहां क्या कह रहे हैं; यह बुर्जुआ वर्ग और उसकी संस्कृति पर एक तीखा व्यंग्य है और मार्क्स स्वयं बुर्जुआ वर्ग के शब्दों में बताते हैं कि उसकी संस्कृति की असलियत क्या है।

लेकिन यहां एक और बात भी है जिसे समझा जाना चाहिए। महान से महान व्यक्ति अपने युग की सीमाओं में ही भाषा और शैली का इस्तेमाल करता है। मिसाल के तौर पर, मार्क्स ने nigger शब्द का प्रयोग किया है जो उनके दौर में आम चलन में था और काले लोगों के लिए आम तौर पर प्रयुक्त होता था, तब भी जब कि इसके कोई नस्लवादी निहितार्थ न हों। लेकिन आज nigger शब्द का प्रयोग करने का क्या अर्थ होगा? लेकिन औंधी खोपड़ी कैसे काम करती है? चूंकि मार्क्स ने nigger शब्द का प्रयोग किया है, इसलिए मैं भी करूंगा और ऐसा न करना तो मार्क्सवाद विरोधी होगा!

खैर, इस उपशीर्षक में इतनी सारी मूर्खताएं भरने के बार श्यामसुन्दर थक जाते हैं, और सच कहें तो एक आखिरी बार ही सही, मगर इन मूर्खताओं का खण्डन करते-करते हम भी थक गये हैं। इसलिए हम अगले उपशीर्षक पर आते हैं, जिसमें कि श्यामसुन्दर ने कलायत बहस के विषय में अपने शुरू से कई बारे दुहराये जा चुके तर्कों को फिर से दुहरा दिया है। इन बार-बार घिसे जाने से गंजे हो जाने वाले तर्कों का हमने इस बहस में दो राउण्ड तक जवाब दिया था। लेकिन उसके बाद तीसरी बार श्यामसुन्दर ने फिर से उन्हीं तर्कों को दुहराया था, जिसके बाद हमने तय किया था कि यह अन्तहीन प्रक्रिया है, जिसे आगे बढ़ाने का कोई लाभ नहीं है। इस बार फिर से पांचवी बार श्यामसुन्दर ने हमारे द्वारा उनके तर्कों की आलोचना का जवाब देने की बजाय अपने उन्हीं पुराने तर्कों को दुहरा दिया है, इसलिए नीचे हमने भी अपने द्वारा इन तर्कों के किये गये पुराने खण्डन को दुहरा दिया है। हमने अपने 2012 के आखिरी जवाब का वह पूरा हिस्सा यहां दे दिया है, जो कि श्यामसुन्दर द्वारा अपने इस नये जवाब में दुहराई गई मूर्खताओं का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन उससे पहले श्यामसुन्दर के कुछ झूठों का पर्दाफाश करना जरूरी है।

16. कलायत बहस के विषय में: श्यामसुन्दर द्वारा पुरानी मूर्खताओं का दुहराव और उनका हमारे द्वारा किये गये खण्डन की प्रस्तुति

'कोई बुद्धिमान व्यक्ति क्या कहता है इसके बारे में किसी मूर्ख की रिपोर्ट कभी सटीक नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनजाने ही जो वह सुनता है उसका अनुवाद किसी ऐसी बात में कर देता है, जो कि वह समझ पाता है।'

- बर्ट्रेण्ड रसेल

नीचे हमने अपने पुराने जवाब का वह पूरा हिस्सा फिर से पेश कर दिया है, जिसमें कि श्यामसुन्दर की 2012 की मूर्खताओं का खण्डन है, क्योंकि 2018 में श्यामसुन्दर ने उन्हें 'क्योंकि व्योम कभी नहीं बदलता इसलिए ताओ भी कभी नहीं बदलता' की तर्ज पर दुहरा दिया है। एक मिनट! कहावत! याद रखें!

लेकिन पहले श्यामसुन्दर के कुछ झूठ जिसमें कि उन्होंने फिर से हमारी अवस्थिति को विकृत करके पेश करने का प्रयास किया है ताकि पाठकों को गुमराह किया जा सके और अपने सांचो पांजाओं को कन्विंस किया जा सके।

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अभिनव सिन्हा का कहना है कि राजनीतिक तौर पर अगस्त 1947 में भारत स्वतंत्र हो गया लेकिन क्रांति का चरण गुलामी वाले दौर वाला ही रह गया।" गलत! हमारा यह कहना है कि राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भी (जो कि किसी जनवादी क्रांति नहीं बल्कि एक समझौते के तहत सत्ता हस्तान्तरण के फलस्वरूप हुआ था), चूंकि भूमि सुधार और अन्य जनवादी कार्यभारों की पूर्ति *अभी शुरू भी नहीं हुई थी*, इसलिए 1947 में ही समाजवादी क्रांति की मंजिल मानना गलत है। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी को इन सुधारों को अंजाम देने के लिए क्रांतिकारी संघर्षों को संगठित करना चाहिए था जिसके दो नतीजे सामने आ सकते थे; या तो बुर्जुआ वर्ग उन्हें मूलत: और मुख्यत: पूरा करता और जनवादी क्रांति के कार्यभार अपेक्षाकृत अधिक बेहतर तरीके से पूर्ण होते, या फिर वह सामन्ती भूस्वामी वर्ग की ओर दोलन करता और एक प्रतिक्रियावादी अवस्थिति अपनाता। पहली स्थिति में समाजवादी क्रांति की मंजिल तत्काल ही आ जाती और दूसरी मंजिल में वर्ग संघर्ष जनवादी क्रांति की ओर जाता। पुरानी बहस में हमारे अन्तिम जवाब से नीचे दिये गये हिस्से का अध्ययन करें तो आप पाएंगे कि लेनिन ने फरवरी 1917 की क्रांति के तत्काल बाद ही समाजवादी क्रांति का नारा नहीं दिया था। 'सुदूर से पत्र' की श्रृंखला के एक पत्र में लेनिन ने स्पष्ट किया है कि यदि जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के कार्य की शुरुआत भी नहीं होती और सर्वहारा वर्ग और उसका हिरावल समाजवादी क्रांति के लिए तैयार नहीं, तो सीधे समाजवादी क्रांति का नारा नहीं दिया जा सकता है। इसलिए श्यामसुन्दर जानबूझकर हमारी अवस्थिति को विकृत करके पेश करने का प्रयास कर रहे हैं।

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "लेकिन अभिनव सिन्हा के इस बेहूदे अन्तरविरोध को कैसे समझा जायेगा कि एक तरफ तो वह कहते हैं कि सत्ता हस्तांतरण के बाद सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में आयी, यानी सत्ता का चरित्र अर्द्ध-औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-सामंती नहीं रह गया था, लेकिन क्रांति के चरण के बारे में वह भी यही कहते हैं कि क्रांति का चरण पूंजीवादी जनवादी क्रांति का यानी नवजनवादी क्रांति का चरण बना रहा।" **पहले**

तो इन महोदय को यही नहीं पता कि पूंजीवादी जनवादी क्रांति और नवजनवादी क्रांति एक ही चीज़ नहीं होती है। पूंजीवादी जनवादी क्रांति बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में होती है, जो कि कभी भी जनवादी कार्यभारों को पूर्ण रूप से मुकाम तक नहीं पहुंचा पाती, जबकि नवजनवादी क्रांति वह क्रांति होती है, जिसमें कि पूंजीपति वर्ग द्वारा जनवादी कार्यभारों को नहीं पूरा किया जाता और यह कार्य भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चार वर्गों के मोर्चे में व्यापक मेहनतकश जनता करती है।

दूसरी बात, हमारा प्रमुख तर्क ही यही था कि यदि कोई राज्यसत्ता राष्ट्रीय स्तर पर वर्ग संघर्षों की जैविक प्रक्रिया की *परिणति* के तौर पर नहीं, बल्कि अंग्रेज़ों द्वारा अपने अन्तरविरोधों और समस्याओं के कारण पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तान्तरण के रूप में एक विशिष्ट स्थिति में अस्तित्व में आती है, तो सूत्रों से इतिहास की समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। सूत्र इतिहास से निकलते हैं, न कि सूत्रों से इतिहास। निश्चित तौर पर क्रांति राज्यसत्ता का प्रश्न है; लेकिन इस सूत्र को कोई रेखागणित के प्रमेय की तरह रट ले और वास्तविक रूप में निर्धारित विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति (really determined specific historical situation) का अध्ययन न करे, तो इतिहास सिर पर इतने जूते बरसाता है कि सिर गंजा हो जाता है। इसीलिए हमने 2012 के अपने आखिरी जवाब में लेनिन को उद्धृत करके दिखलाया था कि फरवरी से अप्रैल के बीच में लेनिन ने किस रचनात्मक तरीके से रूसी स्थिति का अध्ययन किया था और केवल अप्रैल में जाकर दो विशिष्ट स्थितियों में समाजवादी क्रांति का नारा दिया था। वे दो विशिष्ट स्थितियां क्या थीं इनका जिक्र नीचे परिशिष्ट में उसे हिस्से में किया गया है जिसमें हमने अपने पुराने जवाब के उस प्रासंगिक हिस्से को उद्धृत किया है, जो कि श्यामसुन्दर की पुरानी मूर्खताओं के दुहराव का जवाब देने के लिए पर्याप्त है।

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "अब अभिनव सिन्हा कहते हैं कि असल में सत्ता हस्तान्तरण के बाद देश की सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में आ गयी थी और उसका चरित्र अर्द्ध-औपनिवेशिक, अर्द्धसामन्ती नहीं था लेकिन इसके बावजूद अभिनव सिन्हा के अनुसार क्रांति का चरण वही सही था जिसे सीपीआई बता रही थी।" पहली बात तो यह है कि कोई भी कठमुल्लावादी व्यक्ति नहीं समझ सकता कि इतिहास जड़सूत्रों से नहीं चलता है बल्कि इतिहास की वास्तविक गति के अनुसार सूत्रों की समझदारी को उन्नत करना पड़ता है। **क्या श्यामसुन्दर को पता है कि 1951 में स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत पार्टी ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मण्डल को अपने सुझावों में कहा था कि भारत में जनता की जनवादी क्रांति की मंजिल है? हमें लगता नहीं क्योंकि लगता है कि श्यामसुन्दर ने सारा समय 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ने में ही खर्च कर दिया और कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास पढ़ा नहीं है। इसीलिए श्यामसुन्दर सीपीआई के सुझाव पर रुक जाते हैं; कायदे से उन्हें स्तालिन तक जाना चाहिए और अपनी सच्ची त्रात्स्कीपंथी आत्मा के साथ कहना चाहिए कि स्तालिन ग़लत थे। लेकिन यह कहने से अपने ही सांचो पांजा लोग सवाल उठाने लगेंगे! इसलिए श्यामसुन्दर ने एक आसान रास्ता अपनाया है: सब ठीकरा सीपीआई पर फोड़ दो!** 1950 से पहले सीपीआई के बारे में हमारा क्या दृष्टिकोण और उसकी बौद्धिक कमज़ोरी के विषय में हमारी क्या आलोचना है, इसे जानने के लिए दिलचस्पी रखने वाले पाठक यह लेख (http://dishasandhaan.in/pdf/naxalbari-article-dishasandhan.pdf) पढ़ सकते हैं और साथ ही हमारे 2012 की बहस के आखिरी जवाब को आद्योपान्त (http://www.mazdoorbigul.net/wp-content/uploads/debate-reply-shyamsundar.pdf) पढ़ सकते हैं, जिसका एक छोटा तात्कालिक रूप से प्रासंगिक हिस्सा यहां हमने परिशिष्ट के तौर पर दिया है। लेकिन श्यामसुन्दर की बौद्धिक बेईमानी को समझने के लिए मौजूदा पैराग्राफ पढ़ना ही पर्याप्त होगा।

इसके बाद श्यामसुन्दर कुछ गैर-जरूरी उद्धरणबाज़ी करते हैं यह साबित करने के लिए कि क्रांति का प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न होता है, जिसके बारे में कोई बहस है ही नहीं, कभी थी ही नहीं। बहस इस बारे में थी कि यदि राज्यसत्ता स्वयं एक वर्ग संघर्ष की नैसर्गिक प्रक्रिया के परिणति तक पहुंचने के फलस्वरूप न पैदा हुई हो, बल्कि एक समझौते के फलस्वरूप हुए सत्ता हस्तान्तरण के कारण बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आयी हो और जनवादी कार्यभार पूरे करना तो दूर अभी शुरू भी न हुए हों, तो उस सूरत में तत्काल समाजवादी क्रांति का नारा दिया जा सकता है या नहीं। हमने 2012 की बहस में ही लेनिन के सन्दर्भ से इस विषय में सही लेनिनवादी अवस्थिति को स्पष्ट किया था। लेकिन श्यामसुन्दर जानबूझकर हमारी अवस्थिति को विकृत करते हैं, ताकि उन पाठकों को, जिन्होंने कि पुरानी बहस का अध्ययन नहीं किया है, गुमराह किये जा सकें। लेकिन सत्य के कुछ अपने ही तौर-तरीके होते हैं जो औंधी खोपड़ी की समझ से परे होते हैं।

श्यामसुन्दर हमारी अवस्थितियों को विकृत करते जाने के लिए अपने आपको मजबूर पाते हैं। वह लिखते हैं: "लेकिन अभिनव सिन्हा द्वन्द्ववाद में कोरे हैं और इन मामूली-मामूली बातों को भी समझने में उन्हें कठिनाई है (*द्वन्द्ववाद की श्यामसुन्दर की डरा देने की हद तक जबर्दस्त समझ को तो हम ऊपर देख ही चुके हैं! - लेखक*)। दूसरी बात यह कि अभिनव सिन्हा सत्ता हस्तान्तरण के बारे में शुद्ध मनोगतवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, वस्तुवादी नहीं। उनका कहना है कि ब्रिटिश शासकों की चाह मात्र से ही भारत के पूंजीपति वर्ग को सत्ता हस्तांतरित हुई है, न कि ऐसा होना अवश्यम्भावी था।" जिसने भी भारत के आधुनिक इतिहास का अध्ययन किया है वह जानता है आज़ादी से ठीक पहले और बाद में भी, स्वयं कांग्रेस के भीतर एक सामन्ती धड़ा मौजूद था, हालांकि नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के ही हाथ में था। वास्तव में, जिस बात से नाराज़ होकर अम्बेडकर ने कानून मंत्री के पद से इस्तीफा दिया था, वह था हिन्दू कोड बिल का मसला जिसमें कांग्रेस की समूची भूस्वामी लॉबी (जो कि अपने पूंजीवादी कुलक रूपान्तरण के संक्रमण में थी) ने अम्बेडकर का विरोध किया था और नेहरू ने अम्बेडकर का साथ नहीं दिया था। यह एक जनवादी सुधार था जिसे कांग्रेस के भीतर मौजूद भूस्वामी लॉबी ने पूरा नहीं होने दिया था। आज़ादी के समय भारत में वर्ग शक्तियों का सन्तुलन काफी करीबी तौर पर पूंजीपति वर्ग और सामन्ती वर्ग के बीच मौजूद था। इसमें निश्चित तौर पर पूंजीपति वर्ग का पलड़ा सापेक्षिक रूप से हावी था, मगर सामन्ती वर्ग राजनीतिक शक्ति के मामले में बहुत पीछे नहीं था। दूसरे शब्दों में, सामन्ती भूस्वामी वर्ग पर पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक विजय पूर्ण नहीं हुई थी और एक सजीव अन्तरविरोध के रूप में अभी यह संघर्ष जारी था, जिसमें समझौते और टकराव दोनों के ही दौर आते रहे थे। यदि ऐसा न होता तो नेहरू तेज़ी से और सापेक्षिक रूप से आमूलवादी तरीके से भूमि सुधार करते। वह नहीं कर सके, उसके तमाम कारणों में से एक बड़ा कारण यह था कि सामन्ती भूस्वामी वर्ग से सीधे टकराने की स्थिति तात्कालिक तौर पर भारतीय पूंजीपति वर्ग की नहीं थी, हालांकि उसकी आर्थिक और राजनीतिक शक्तिमत्ता सामन्ती वर्ग से अधिक हो चुकी थी। अंग्रेजों के लिए यही उपयुक्त था कि वह सत्ता भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में सौंपते। यहां बहुत से विकल्पों के मौजूद होने या न होने की बात नहीं की गयी है, बल्कि अंग्रेजों द्वारा पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता सौंपने के पीछे के इरादों की बात की गयी है।

श्यामसुन्दर का मानना है कि चूंकि भारत में एक राष्ट्रीय आन्दोलन मौजूद था इसलिए सत्ता हस्तान्तरण के जरिये भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता आने को जनवादी क्रांति नहीं तो जनवादी क्रांति के समतुल्य माना जाना चाहिए; निश्चित तौर पर, एक राष्ट्रीय आन्दोलन मौजूद था और अगर अंग्रेज़ 1947 में देश से आनन-फानन में अपने कारणों से नहीं भागते, तो फिर देर-सबेर यह राष्ट्रीय आन्दोलन उन्हें यह देश छोड़कर जाने के लिए बाध्य कर देता। लेकिन क्या आपको पता है कि अंग्रेजों से भारत से जाने का वक्त अगस्त 1947 से कहीं आगे तय किया गया था? वे अगस्त 1947 में ही देश छोड़कर क्यों चले गये? इसमें ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के अपने आन्तरिक अन्तरविरोधों ने भी एक भूमिका निभाई थी। **अगर श्यामसुन्दर मानते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन और असंख्य मज़दूरों-किसानों, छात्रों-युवाओं की कुर्बानी ने जो भय पैदा किया था उससे डर कर अंग्रेज भाग खड़े हुए, तो 1947 को राष्ट्रीय जनवादी क्रांति क्यों नहीं कहना चाहिए? वह तो बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में भी हो सकती है या आरंभिक तौर पर बिना किसी स्पष्ट वर्ग नेतृत्व के भी हो सकती है, जैसा कि फरवरी 1917 में रूस में हुआ था, हालांकि उस आन्दोलन का एक वर्ग चरित्र था। क्या वजह है जिससे कि अगस्त 1947 को भारत की राष्ट्रीय जनवादी क्रांति नहीं कहा जाना चाहिए? निश्चित तौर पर, भारतीय जनता का संघर्ष अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जारी था और अंग्रेजों के 1947 में पलायन में इसकी भी एक भूमिका थी; लेकिन अगस्त 1947 में अंग्रेजों द्वारा अपने ही द्वारा नियत समय से पहले आनन-फानन में कांग्रेस के हाथों में सत्ता सौंपकर और देश का विभाजन करके, देश छोड़कर भागने के पीछे बहुत से ढांचागत कारणों का सन्धि-बिन्दु था, जिसमें से राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा पैदा जनदबाव भी एक कारक था। यह भी तय है कि यदि अंग्रेज उस समय आनन-फानन में देश छोड़कर न भागते तो अन्ततः राष्ट्रीय जनान्दोलन का दबाव ही उन्हें जाने के लिए मजबूर कर देता। लेकिन यह प्रतितथ्यात्मक ऐतिहासिक ब्यौरा है। असल में अगस्त 1947 में कई अन्तरविरोधों का संधिबिन्दु काम कर रहा था, जिसके नतीजे के तौर पर अंग्रेजों को उस समय देश छोड़कर जाना पड़ा।**

श्यामसुन्दर 'लाल तारा-2' के एक उद्धरण को पेश करते हैं, जिसमें कहा गया है कि भारतीय संविधान का मूल चरित्र पूंजीवादी है। इसके आधार पर उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि क्रांति का चरण स्वतः समाजवादी हो जाता है। **श्यामसुन्दर शासन के सैद्धान्तिक दस्तावेज़, जिसे कि शासक वर्ग अपने वर्ग आदर्शों के अनुसार बनाता है, और शासन की भौतिक स्थितियों के बीच कोई फर्क नहीं करते हैं। जाहिर है, उनके लिए समझना मुश्किल है कि सत्ता पर काबिज पूंजीपति वर्ग दूरगामी तौर पर संविधान का निर्माण उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार करेगा जो कि उसके वर्ग के सिद्धान्त हैं, क्योंकि संविधान रोज़-रोज़ नहीं बनाया जाता है; लेकिन संविधान का विश्लेषण ही देश की भौतिक परिस्थितियों का विश्लेषण नहीं होता है। दूसरी बात, आधुनिक अर्थों में सामन्ती संविधान जैसी कोई चीज़ नहीं होती है, क्योंकि सामन्ती शासन विधिबद्ध और संवैधानिक नहीं होता है। जहां कहीं संवैधानिक राजतन्त्र भी आया वह पूंजीवाद और बुर्जुआ शासन में संक्रमण के फलस्वरूप ही आया, जैसे कि इंग्लैण्ड और कुछ अन्य यूरोपीय देश।**

श्यामसुन्दर ने फिर से दुहराया है कि हम अधूरी जनवादी क्रांति को पूरा करने के लिए 1947 में आज़ादी के बाद भी जनवादी क्रांति का नारा दे रहे हैं। हम इस विकृतिकरण का पहले ही जवाब दे चुके हैं, जिसमें कि हमने बताया था कि अधूरी जनवादी क्रांति का प्रश्न ही नहीं था क्योंकि जनवादी क्रांति शुरू भी नहीं हुई थी, क्योंकि उसके कार्यभारों को पूरा करने का कार्य शुरू भी नहीं हुआ था; यही कारण है कि रूस से सादृश्य निरूपण करना व्यर्थ है। यहां पूरी स्थिति ही भिन्न थी। श्यामसुन्दर के इस कुतर्क के जवाब के लिए भी आप परिशिष्ट संख्या-2 में हमारे जवाब के उस प्रासंगिक हिस्से को पढ़ सकते हैं, जिसमें कि हमने श्यामसुन्दर के तमाम कुतर्कों का जवाब दिया है।

अपने इस उपशीर्षक में श्यामसुन्दर ने जो कुछ भी कहा है, उसमें कुछ भी नया नहीं है और हम उसका जवाब 2012 की बहस के अपने आखिरी जवाब में दे चुके हैं। इसलिए बातों को नये सिरे से लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम श्यामसुन्दर द्वारा पेश तमाम पुराने कुतर्कों के जवाब के लिए अपने पुराने जवाब के ही

प्रासंगिक हिस्से को परिशिष्ट में दे रहे हैं, ताकि पाठक स्वयं देख सकें कि श्यामसुन्दर अपने पुराने कुतर्कों को ही दुहरा रहे हैं, जिनका जवाब दिया जा चुका है।

17. कलायत बहस की वीडियो को देने के झूठ और उसके चोरी हो जाने (!!) की बकवास के बारे में

'महोदय, वह ऐसे बकवाद के साथ झूठ बोलेगा कि आपको लगेगा कि स्वयं सत्य ही मूर्ख है।'

- विलियम शेक्सपियर

श्यामसुन्दर ने कलायत बहस 2012 के वीडियो को दिये जाने के बारे में झूठों की लड़ी लगा दी है। इनका कहना है कि कॉमरेड सुजय ने पूरे बहस की वीडियो रिकॉर्ड की थी, लेकिन उनकी हार्ड डिस्क ख़राब हो गयी थी। बाद में, हार्ड डिस्क से उन्होंने किसी तरह वीडियो निकाली और फिर जन संघर्ष मंच के सुरेश को दे दी। श्यामसुन्दर का दावा है कि यह वीडियो सुरेश ने हमारे नरवाना के साथी रमेश को दे दी थी। लेकिन इसकी सच्चाई क्या है? **हमारे साथी रमेश और साथी उमेद एक बार कुरुक्षेत्र गये थे और वहां के बस अड्डे से उन्होंने जनसंघर्ष मंच के सुरेश सैनी को फोन किया और कहा कि वह कलायत बहस का वीडियो बस अड्डे पर आकर उन्हें दे दें। सुरेश ने हमारे साथियों को बस स्टैण्ड के पास के एक सेक्टर की एक गली में बुलाया और कहा कि थोड़ा इन्तज़ार करो क्योंकि हम कम्प्यूटर से वीडियो कॉपी करके ला रहे हैं। एक घण्टे इन्तज़ार और काफी फोन करने के बाद सुरेश सैनी गाड़ी से पहुंचे और कहा कि सारा वीडियो सुजय के पास है, हमारे पास अभी वीडियो के टुकड़े हैं जो हम आपको दे रहे हैं और पूरे बहस की वीडियो आप बाद में सुजय से ले लीजियेगा। घर आकर हमारे साथियों ने ये वीडियो देखे तो पता चला कि केवल कुछ मिनट की ही वीडियो रिकॉर्डिंग थी, जिससे पूरी बहस के बारे में कुछ पता ही नहीं चलता था। बाकी सारी फाइलें ऑडियो की थीं जिन्हें हम पब्लिक डोमेन में डालते तो भी कोई कई घण्टों का ऑनलाइन ऑडियो नहीं सुनता। मूल बात थी बहस की पूरे वीडियो की। बाद में हमारे साथियों ने सुजय को कई बार वीडियो के लिए फोन किया, लेकिन वह हार्ड डिस्क में वायरस की बात करते रहे, जो वायरस कभी निकला ही नहीं! सुजय से कई बार बात का कोई हल न निकलने पर हमारे साथी रमेश ने जनसंघर्ष मंच के सुरेश को फिर से फोन किया तो उन्होंने कहा कि वीडियो सुजय से ही लेना। इसके अलावा जन संघर्ष मंच के सोमनाथ से भी दो-तीन बार कहा गया, लेकिन उसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। इसलिए वीडियो हमें कभी दिया ही नहीं गया।**

दूसरी बात, यदि बहस का वीडियो सुजय ने किसी तरह से हार्ड डिस्क से निकालकर श्यामसुन्दर को दे दिया था, तो उन्हें ही इस बहस को अपलोड करवा देना चाहिए था। लेकिन वह इसे दबाकर ही बैठ गये। उन्होंने यह बहस इसलिए नहीं अपलोड की क्योंकि उन्हें पता था, कि यह उनके लिए काफी शर्मिन्दगी पैदा करेगा। वरना तो अपने भाषणों और साक्षात्कारों का वीडियो शयामसुन्दर ऑनलाइन डालते ही हैं। केवल इस वीडियो से ऐसा कौन सा बैर था? कोई भी अपनी धुलाई का वीडियो अपलोड क्यों करेगा?

श्यामसुन्दर को पता था कि हम यह कह सकते हैं कि जो बीत गयी सो बात गयी, अब भी वीडियो दे दो! इसलिए उन्होंने लैपटॉप चोरी होने का बहाना बना दिया है: "पाठक साथियो, वीडियो हम इन्हें आज दोबारा (!!) भी दे सकते थे लेकिन आज वह वीडियो हमारे पास भी नहीं है। वीडियो हमारे साथी सुरेश के लैपटॉप में थी और वह लैपटॉप 29 मार्च 2016 को सड़क पर खड़ी उनकी कार से चोरी हो गया जिसकी पुलिस रिपोर्ट उसी तिथि में थाना शहर थानेसर में दर्ज है। चोरी हुआ लैपटॉप मिल नहीं पाया है।" यह है श्यामसुन्दर की सफाई ताकि आज भी वीडियो को पब्लिक होने से रोका जा सके। **2012 से लेकर 2016 तक बहस का वीडियो श्यामसुन्दर के पास नहीं था बल्कि सुरेश के लैपटॉप में पड़ा हुआ था! तो फिर सुरेश ने वह वीडियो इन चार वर्षों में रमेश या किसी अन्य साथी को दिया क्यों नहीं?** श्यामसुन्दर झूठ बोल रहे हैं कि वीडियो की मांग हमें छह साल बाद याद आयी है। यदि वह अपने संगठन के ही सुरेश, सोमनाथ या पहले उनके संगठन में रहे सुजय से पूछें तो उन्हें पता चल जायेगा कि 2012 में बहस होने के बाद लम्बे समय तक हम वीडियो की मांग करते रहे थे। लेकिन यदि दो वर्षों तक भी बहाने बनाये जाएंगे, और फिर अन्त में वीडियो दिया नहीं जायेगा तो हम श्यामसुन्दर के घर के बाहर वीडियो के लिए धरना तो देंगे नहीं! सीधी-सी बात है कि दर्ज़नों बार मांगने के बाद हम भी थककर मांगना बन्द कर देंगे। वही हमने किया। वैसे, यदि श्यामसुन्दर सच बोल रहे हैं तो यह बड़ी ही प्रोत्साहित करने वाली बात है कि आज भारत में मार्क्सवादी बहसों के वीडियो भी चोरी होने लगे हैं! खैर!

श्यामसुन्दर कहते हैं कि अपने आखिरी जवाब में (जिसमें उन्होंने अपनी तरफ से बहस का "समाहार" कर दिया था!) कहा है कि उन्होंने वीडियो दे दिया है, तो हमने इसका खण्डन क्यों नहीं किया। **हमारा सांगठनिक निर्णय था कि इस आखिरी जवाब का कोई जवाब नहीं दिया जायेगा क्योंकि उसमें श्यामसुन्दर ने कोई नयी बात नहीं कही है, बल्कि "अपनी इज्जत बचाओ अभियान, भाग-1" के तहत अपने ही कार्यकर्ताओं के सामने कठदलीलियां की हैं और अपने वही पुराने घिसे-पिटे कुतर्क दुहरा दिये हैं। जब हमने इसका कोई जवाब ही नहीं दिया, तो क्या अलग से प्रेस विज्ञप्ति जारी करते कि श्यामसुन्दर वीडियो देने की बात पर झूठ बोल रहे हैं?** वैसे भी यदि क्रांतिकारी हर टटपुंजिया मनोवृत्ति के बातबदलू किस्म के लोगों के हर आक्षेप का जवाब ही देता रहे तो वह कोई काम नहीं कर सकता है। इस बहस को भी जिस पाठक ने पूरा पढ़ा है, और हमारा मौजूदा जवाब जिसने पूरा पढ़ा है, वह देख सकता है कि श्यामसुन्दर किस प्रकार मिस्कोट करते हैं, मिसरेप्रजेण्ट करते हैं, अपने मन से उद्धरण गढ़ते हैं, झूठ बोलते हैं और कठदलीलियां करते हैं। ऐसे में, हम यह आखिरी जवाब सिर्फ इसलिए दे रहे हैं क्योंकि एक बार श्यामसुन्दर के "अपनी इज्जत बचाओ अभियान, भाग-2" के पीछे के सारे कुतर्कों, झूठों, फ्रॉड, मिस्कोटिंग और मिसरेप्रजेण्टिंग को बेनकाब कर सकें और तमाम जेनुइन लोगों को भी ऐसे फ्रॉड किस्म के मठाधीशों के प्रति आगाह कर सकें।

श्यामसुन्दर ने अपने इस नये जवाब में भी कोई नया तर्क नहीं दिया है, सिवाय बौद्धिक फ्रॉड करने के। उनके सारे (कु)तर्क पहले ही चुक गये हैं और इसीलिए इस नये जवाब में वह झूठ बोलने और महान शिक्षकों से लेकर हमें और डा. अम्बेडकर तक को मिस्कोट करने, गलत अनुवाद पेश करने और मिसरेप्रजेण्ट करने की घटियाई पर उतर आये हैं। **ऐसे में, आगे बहस का कोई स्कोप ही नहीं बचता। लेकिन हम इसे बहस का समाहार नहीं कह रहे हैं क्योंकि श्यामसुन्दर के विपरीत हमें पता है कि बहस का समाहार बहस के दोनों पक्ष सहमति से करते हैं, न कि कोई एक पक्ष अपनी तरफ से समाहार पेश कर दे, जैसा कि श्यामसुन्दर ने 2012 की कलायत बहस के अपने अन्तिम दस्तावेज़ को कहा था। यदि बहस के दोनों पक्ष आपसी रज़ामन्दी से बहस का कोई**

समाहार नहीं पेश कर सकते, तो फिर उसे पढ़ने वाले पाठक उसका समाहार स्वयं ही कर लेते हैं, जैसा कि इस बहस का भी वे कर ही लेंगे।

श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमने उन पर कलायत बहस के अपने दस्तावेज़ सार्वजनिक न करने का आरोप लगाया है। जब आदमी को मठाधीशी करते-करते स्मृति भंग होने लगता है, तो वह ऐसी ही बहकी-बहकी बातें करता है। अपने पिछले जवाब में हमने कलायत बहस के दस्तावेज़ को सार्वजनिक करने की बात की है, जिसका अर्थ होता है बहस को सार्वजनिक डोमेन में डालना। श्यामसुन्दर ने न तो वीडियो को ही पब्लिक डोमेन में डाला और न ही लिखित जवाब को। हमने तो अपने लिखित जवाब को 'बिगुल' की वेबसाइट पर ही डाल रखा है। यहां तक कि जाति प्रश्न पर चली बहस में हमने श्यामसुन्दर के भी पहले पत्र को अपनी वेबसाइट पर डाल रखा है। श्यामसुन्दर को लगता है कि उन्होंने अपना आखिरी जवाब हमें भेजा, तो वह सार्वजनिक हो गया। जाहिर है, श्यामसुन्दर को सार्वजनिक करने का अर्थ नहीं पता है। दूसरा, हमने यह कहा है कि यदि श्यामसुन्दर को जाति प्रश्न पर हमारी आलोचना लिखते समय अपने सांचो पांजाओं के सामने 2012 में तार-तार हुई अपनी इज्जत को बहाल करने के लिए कलायत बहस के मुद्दों को फिर से उठाना ही था, तो उन्हें अपनी इस आलोचना के परिशिष्ट में हमारे बीच हुई बहस के विनिमय को भी डाल देना चाहिए था या फिर कम-से-कम कहीं उस पुरानी बहस का सन्दर्भ देना चाहिए था। लेकिन हम इसे बौद्धिक बेईमानी और टुच्चे किस्म की हेराफेरी मानते हैं कि जिन मुद्दों पर किसी से बहस हो चुकी है और एक मुकाम तक पहुंच चुकी है, उस बहस में अपने पुराने (कु)तर्कों को ही फिर से दुहरा दिया जाय, जिनका कि जवाब पहले ही दिया जा चुका है और पुरानी बहस के बारे में एक शब्द न लिखा जाय। क्योंकि नये पाठक के समक्ष, जिसे कि पुरानी बहस के बारे में नहीं पता है, इस नयी प्रस्तुति से केवल एक पक्ष जाएगा और श्यामसुन्दर जिस बेशर्मी से मिस्कोट और मिसरेप्रज़ेण्ट करते हैं, उससे पाठक के मन में भ्रामक छवि बनेगी। हमने अपने पिछले जवाब में श्यामसुन्दर के आखिरी पूरे पत्र को ऑनलाइन करके उसका लिंक दिया, ताकि पाठक हमारा जवाब पढ़ने से पहले श्यामसुन्दर की आलोचना पढ़ें और फिर हमारा जवाब पढ़कर स्वयं तय करें कि क्या सही और क्या ग़लत है। श्यामसुन्दर के पास वह बौद्धिक साहस ही नहीं है कि वह ऐसा करें। इसी को हमने बौद्धिक बौनापन कहा है। पिछली बहस में भी हमने अपना जवाब ऑनलाइन डाल दिया था और उसे 2012 में भी हमने हरियाणा और साथ ही बाहर के सभी वामपंथी बुद्धिजीवियों को दिया था, जैसा कि श्यामसुन्दर ने भी किया था। सारी बात वीडियो को सार्वजनिक करने की थी। हमने अपने पिछले जवाब में यह लिखा था: "2012 में हमारे द्वारा प्रस्तुत श्यामसुन्दर की लम्बी आलोचना में इन नुक्तों पर हमने अपने विचारों को रूसी इतिहास, लेनिन के लेखन व अन्य मूल स्रोतों से उद्धरण के साथ स्पष्ट किया है। लेकिन श्यामसुन्दर इस बहस के विषय में एक साजिशाना चुप्पी बनाये हुए हैं और इन नुक्तों पर अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को बस नये सिरे से दुहराकर हम पर बेजा आरोप मढ़ रहे हैं। **यहां नये सिरे से श्यामसुन्दर बेईमानी कर रहे हैं और 2012 में हुई इस बहस का कोई ब्यौरा या उस समय हुए लिखित विनिमय को परिशिष्ट के रूप में देने, या उस बहस का कोई भी सन्दर्भ देने से भाग रहे हैं और हमारे ऊपर वही पुराना झूठा आरोप मढ़ रहे हैं।** इसी को पिटे हुए तर्कों को गंजे होने की हद तक घिसना कहते हैं। इसके अलावा, 2012 में जब पब्लिक डिबेट हुई तो श्यामसुन्दर के संगठन ने उसका वीडियो भी बनाया था। हम वह वीडियो मांगते-मांगते थक गये, लेकिन उन्होंने हमें वीडियो नहीं दिया। हम अभी भी कहते हैं कि उस वीडियो में से सांगठनिक विवरणों के हिस्सों को हटाकर समस्त राजनीतिक बहस को पब्लिक डोमेन में डाल दें और साथ ही जो लिखित विनिमय हुआ है, उसे भी सांगठनिक विवरण हटाकर पब्लिक डोमेन में डाल दें। इससे तो आन्दोलन की कतारों का राजनीतिक शिक्षण ही होगा। लेकिन ऐसा कुछ भी करने की बजाय इस बहस के मूल मुद्दों पर श्यामसुन्दर ने अपनी पुरानी बेवकूफियों को अपने नये पत्र में दुहरा दिया है और हम पर झूठे आरोप मढ़ दिये हैं कि हम भूमि क्रांति के पूरा होने तक समाजवादी क्रांति का नारा उठाना गलत मानते हैं, जबकि हमारी ऐसी अवस्थिति कभी रही ही नहीं है, जैसा कि 2012 में हमारे द्वारा दिये गये जवाब के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है। चूंकि

नये पत्र में श्यामसुन्दर इस पूरी बहस पर साजिशाना चुप्पी साध गये हैं और नये सिरे से अपनी मूर्खताएं और अपने झूठे आरोप दुहराने की धृष्टता पर उतर आए हैं, इसलिए हम अपने द्वारा दिये गये जवाब को पब्लिक डोमेन में डाल रहे हैं। इस बहस में उन सभी मूर्खताओं का जवाब आपको मिल जाएगा जो कि रूसी क्रांति के विषय में श्यामसुन्दर ने अपने नये पत्र में की हैं। सभी पाठक उपरोक्त बहस के नुक्तों और मौजूदा पत्र में श्यामसुन्दर द्वारा दुहरायी गयी मूर्खताओं के खण्डन के लिए हमारे जवाब को इस लिंक (http://mazdoorbigul.net/pdf/debate-reply-shyamsundar.pdf) पर पढ़ सकते हैं। अगर श्यामसुन्दर बौद्धिक बेईमानी छोड़कर हमें वीडियो देने पर राज़ी होते हैं, तो हम वह वीडियो भी पब्लिक कर देंगे, ताकि सभी पाठक इस पूरी बहस को स्पष्ट तौर पर समझ सकें कि श्यामसुन्दर मूर्खता और बौद्धिक बेईमानी के किस स्तर पर खड़े हैं। हम नये सिरे से पुरानी बेवकूफियों का नया जवाब देना ज़रूरी नहीं समझते हैं। हमारा पुराना जवाब ही इन बेवकूफियों को श्यामसुन्दर द्वारा दुहराये जाने के प्रत्युत्तर में पर्याप्त है।"

आखिरी में, श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमने अपने जवाब सार्वजनिक क्यों नहीं किये? हमने तो अपने जवाब सार्वजनिक किये हैं, यहां तक कि 'मजदूर बिगुल' की वेबसाइट पर भी डाले हैं; यहां तक कि हमने तो श्यामसुन्दर का जाति प्रश्न पर पहला आलोचना पत्र भी 'मज़दूर बिगुल' की वेबसाइट पर डाला है। श्यामसुन्दर को यदि सार्वजनिक करने का अर्थ नहीं पता है, तो उन्हें पहले समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने जवाब को हम तक भेजें या फिर हम अपने जवाब को सिर्फ उन तक भेजें। पब्लिक डोमेन में डालने का अर्थ ही होता है कि किसी सार्वजनिक प्लेटफॉर्म जैसे कि पत्रिका, ब्लॉग, वेबसाइट वगैरह में उसे प्रकाशित किया जाय।

17. हमारी "दो अवस्थितियों" के बारे में

पोलोनियस: हुज़ूर, आप क्या पढ़ रहे हैं?

हैमलेट: शब्द, शब्द, शब्द!

हैमलेट (शेक्सपियर)

श्यामसुन्दर ने दावा किया है कि जाति व्यवस्था के खात्मे के बारे में हमारी दो अवस्थितियां हैं। **यदि किसी भी रचना के तर्कों को उनकी सम्पूर्णता में न देखा जाय, तो उसके किसी एक कथन को लेकर कोई अपनी आलोचना की पूरी अट्टालिका बना सकता है। ऐसा आप मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन या माओ किसी की भी रचना के साथ कर सकते हैं, और लोगों ने किया भी है।** चूंकि श्यामसुन्दर के पास तर्कों का कोई उत्तर नहीं है, इसलिए वह यहां पर इसी उपक्रम में लगे हुए हैं। एक स्थान पर अरविन्द शोध संस्थान के पेपर में यह लिखा गया है कि यदि भारत का औपनिवेशीकरण नहीं हुआ होता और नैसर्गिक गति से यहां पूंजीवाद का विकास हुआ होता, तो जाति व्यवस्था "ध्वस्त" हो गयी होती। यह एक त्रुटिपूर्ण कथन है ***और वास्तव में उसी पेपर में पेश आम कार्यदिशा से मेल नहीं खाता।*** हमने अन्यत्र यह स्पष्ट किया है कि नैसर्गिक और स्वतन्त्र पूंजीवादी विकास

होने की सूरत में पूंजीवादी जनवाद ज्यादा स्वस्थ रूप में आता और इस रूप में वह जाति व्यवस्था और पितृसत्तात्मक व्यवस्था को निश्चित तौर पर कमज़ोर करता। ऐसे में, जाति व्यवस्था किस रूप में पूंजीवादी व्यवस्था के साथ सहयोजित होती, यह कहना अटकलबाज़ी होगी, लेकिन इतना तय है कि जो स्थिति आज है, उससे बेहतर होती। लेकिन यह भी तय है कि कोई बुर्जुआ जनवादी क्रांति भी जाति व्यवस्था का निर्मूलन नहीं कर सकती थी। हमारी मूल अवस्थिति यही है कि पूंजीवाद के ऐसे विकास से और पूंजीवादी जनवाद की अधिक स्वस्थ रूप में उपस्थिति से जाति व्यवस्था आज जितने विकृत रूप में मौजूद नहीं होती, लेकिन वह समाप्त भी नहीं होती। एक स्थान पर हमने यह लिखा है कि उपनिवेश न बनने की सूरत में जाति व्यवस्था के विघटन की एक *सम्भावना* थी। यह त्रुटि (slip) है। लेकिन यदि हमारा ही समूचा पेपर पढ़ा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह हमारी आम कार्यदिशा नहीं है। लेकिन श्यामसुन्दर क्या कर रहे हैं?

वह एक त्रुटि को हमारी आम सोच में तब्दील करने का प्रयास कर रहे हैं क्योंकि यदि उक्त पेपर को ही सम्पूर्णता में देखा जाय, तो हर स्थान पर हमने यही अवस्थिति रखी है कि जाति व्यवस्था हर शोषक वर्ग समाज में बदली उत्पादन पद्धति व उत्पादन सम्बन्धों के अनुसार बदलते हुए सहयोजित और समायोजित हो जायेगी। देखें कि हमने अरविन्द ट्रस्ट के मुख्य पेपर में क्या लिखा है: "जाति सामन्ती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूँजीवाद ने अपने ढाँचे के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है।" इसी प्रकार हमने इसी पेपर में आगे लिखा है: "भारत को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में मानने वाला एक अन्य ग्रुप पूँजीवादी विकास के साथ पुरानी जाति-व्यवस्था में पड़ी दरारों और जातियों में बढ़ते वर्ग-विभाजन की काफ़ी हद तक सही चर्चा करते हुए आज भी जाति-व्यवस्था की प्रभावी मौजूदगी को रेखांकित करता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करता कि इस प्रभावी मौजूदगी के पीछे नवीकरण और पुनर्संसाधन की कोई गतिकी है या महज़ यह इसलिए है कि हमारे देश में पूँजीवाद का विकास मन्थर, विरूपित, ग़ैर-क्रान्तिकारी मार्ग से हुआ है। *यदि जाति-व्यवस्था एक बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा नहीं हुई है तो इस तर्क की निष्पत्ति यह होगी कि पूँजीवाद ही यदि बहुत दिनों तक बना रहा तो जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे तिरोहित हो जायेगी।"* इसी प्रकार यहां भी हम जाति व्यवस्था के अन्त को पूंजीवाद के अन्त के साथ जोड़कर देखते हैं: "जाति का प्रश्न सहस्राब्दियों पुराना प्रश्न है। इसे चुटकियों में हल करने का कोई रामबाण नुस्ख़ा नहीं हो सकता। यह एक लम्बी, श्रमसाध्य प्रक्रिया की माँग करता है। *यह सवाल पूँजीवाद के नाश के साथ जुड़ा हुआ है।"*

जैसा कि आप देख सकते हैं कि पेपर की आम अवस्थिति कई स्थानों पर स्पष्टता से आई है। एक स्थान पर हम औपनिवेशीकरण के बिना हुए स्वतन्त्र और नैसर्गिक पूंजीवादी विकास की सूरत में जाति व्यवस्था पर होने वाली चोट की सम्भावना का जिक्र करते हुए एक ग़लत विशेषण का प्रयोग करते हैं, जो कि एक त्रुटि है। लेकिन यह उनके लिए कोई भ्रम नहीं पैदा कर सकती जिन्होंने कि हमारे पेपर का आद्योपान्त अध्ययन किया हो; लेकिन यदि कोई इस त्रुटि को हमारी आम अवस्थिति बनाकर पेश करे, तो यह भी एक प्रकार की बौद्धिक बेईमानी ही है। इस मुख्य पेपर में भी बार-बार हमने अपनी आम अवस्थिति को स्पष्ट किया है; इतिहास-लेखन सम्बन्धी पेपर में भी हमारी आम अवस्थिति स्पष्टता से आई है। 2011 से 2018 तक के दौर में जाति-प्रश्न और उसके समाधान पर हमने तमाम शोध-पत्र और व्याख्यान पेश किये हैं, जिनके लिंक और सन्दर्भ हमने पिछले जवाब में दिये थे, उनमें भी हमारी आम अवस्थिति स्पष्ट होकर आई है। **लेकिन श्यामसुन्दर हमारे समूचे कार्य को तो छोड़ दें, जिस कार्य की वह आलोचना पेश कर रहे हैं, उसे भी सम्पूर्णता में नहीं देखते।** वह एक स्थान पर आयी हमारी अवस्थिति के एक त्रुटिपूर्ण सूत्रीकरण को पकड़कर लटक जाते हैं। *श्यामसुन्दर हमारी आम और*

निरन्तरतापूर्ण अवस्थिति पर बहस करने की बजाय एक त्रुटि पर बहस करना चाहते हैं, जो कि उसी पेपर में अन्य स्थानों पर आयी अवस्थिति के विपरीत है और यह दिखलाता है कि वह हमारी आम अवस्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

सबसे मज़ेदार बात तो यह है कि श्यामसुन्दर को कुछ नहीं मिला तो "बिगुल वालों" की अवस्थिति दिखलाने के लिए 1983 के एक दस्तावेज़ को उद्धृत करते हैं, जिस समय न तो 'बिगुल' अखबार था और न ही बिगुल के इर्द-गिर्द संगठित ग्रुप! वैसे इस उद्धरण में नैसर्गिक पूंजीवादी विकास की सूरत में सामन्ती आर्थिक आधार और अधिरचना के क्रान्तिकारी रूप में नष्ट होने का एक प्रति-तथ्यात्मक (counter-factual) वर्णन किया गया है। इसमें जाति व्यवस्था की कोई बात कहीं आयी ही नहीं है। इस रूप में अपने आप में यह कथन बिल्कुल सही है। लेकिन इससे भी अहम बात यह है कि यह दस्तावेज़ आज से 35 वर्ष पुराना है। यह समझने के लिए तो मार्क्सवादी होने की आवश्यकता भी नहीं है कि 35 वर्षों में चिन्तन-प्रक्रिया में विकास होता है; आज हम उस दस्तावेज़ की कुछ अवस्थितियों को स्वयं ही असन्तुलित मानते हैं और उन प्रश्नों पर हमारे संगठन के तमाम दस्तावेज़ों में हमारी अवस्थितियों को देखा जा सकता है। वह दस्तावेज़ उस राजनीतिक धारा का है, जिससे आगे चलकर हमारा ग्रुप निकला। हम उस दस्तावेज़ की कार्यक्रम-सम्बन्धी अवस्थिति के लिए भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन में उसका एक योगदान मानते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उसकी हर अवस्थिति का बचाव करने को बाध्य हैं! वास्तव में, इस दस्तावेज़ को उद्धृत करके अपने किसी तुच्छ बिन्दु को सिद्ध करने का प्रयास हमारे कुरुक्षेत्र के दोन किहोते की हताशा को ही दिखलाता है। लेकिन हताशा में ग़लतियां होती हैं। देखते हैं, कैसे।

सजातीय विवाह और निजी सम्पत्ति की पवित्रता और निरन्तरता के विषय में श्यामसुन्दर का कठमुल्लावादी दृष्टिकोण

श्यामसुन्दर लिखते हैं: "यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाना ज़रूरी होगा कि पवित्र बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए सजातीय विवाह की कतई कोई ज़रूरत नहीं होती, बल्कि इसके लिए ऐसे विवाह की ज़रूरत होती है जिससे कि सम्पत्ति के मालिक पूंजीपति को यह पक्की तसल्ली हो कि उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसकी अपनी सन्तान है। क्या अभिनव सिन्हा बता पाएंगे कि फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमेरिका, इटली आदि विकसित पूंजीवादी देशों में पवित्र बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की निरन्तरता बिना सजातीय विवाह की परम्परा के कैसे कायम है।" श्यामसुन्दर फिर से हमारी अवस्थिति को नहीं समझे हैं, या फिर जानबूझकर विकृत कर रहे हैं। पहले देखें कि हमने अपने पिछले पत्र में ही क्या लिखा है:

"लेकिन सजातीय विवाह की प्रथा बरकरार रहेगी, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से इसका कोई बुनियादी अन्तरविरोध नहीं है; उल्टे यह सम्पत्ति सम्बन्धों की निरन्तरता को बरकरार रखने का एक अहम उपकरण है, जिससे ***उच्च वर्गीय उच्च जाति के परिवारों में सम्पत्ति की निरन्तरता*** बनी रहती है।"

बात यह नहीं है कि सजातीय विवाह के बिना बुर्जुआ सम्पत्ति की निरन्तरता बन ही नहीं सकती। बात यह है कि जातिगत सजातीय विवाह की व्यवस्था से सम्पत्ति की निरन्तरता मोटे तौर पर उच्च जातियों के बुर्जुआ वर्ग और खाते-पीते टटपुंजिया वर्ग में बनी रहती है। एक जाति वंश में सम्पत्ति की निरन्तरता बने रहने और एक परिवार में सम्पत्ति की निरन्तरता बने रहने में अन्तर है। चूंकि सजातीय विवाह की परम्परा पितृसत्ता से भी जुड़ी हुई है, जैसा कि सुवीरा जायसवाल ने अपने शोध में सप्रमाण प्रदर्शित किया है, इसलिए स्त्रियों की

स्वतन्त्रता से एक जाति-कुल और वर्ग में निजी सम्पत्ति की निरन्तरता को बनाये रखने में जो जोखिम पैदा होता है, जाति व्यवस्था की सजातीय विवाह की प्रथा उसे कम करती है। **इस रूप में, किसी भी प्रकार की ढांचागत सजातीय विवाह की प्रथा सम्पत्ति और समृद्धि को एक कुल, वंश, जाति या नस्ल में सुदृढ़ीकृत करती है। वास्तव में, अगर श्यामसुन्दर कुछ अध्ययन करके लिखते तो उन्हें यह पता होता कि तमाम आधुनिक समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने भी तथ्यों के साथ यह सिद्ध किया है कि किसी भी प्रकार ढांचागत सजातीय विवाह की प्रथा निजी सम्पत्ति की निरन्तरता को बरकरार रखने में सहायक होती है। मिसाल के तौर पर देखें,** 'Class, property, and structural endogamy: Visualizing networked histories' (Authors: Lilyan A. Brudner, Douglas R. White, *Theory and Society 26,* p. 161-208, Kluwer Academic Publishers, 1997)। इस अध्ययन में अध्येताओं ने ठीक यही दिखलाया है कि ढांचागत सजातीय विवाह की प्रथा हमेशा एक कुल, वंश, जाति या किसी भी संरचनात्मक रूप से रूढ़ सीमाबद्ध सामाजिक संस्तर में सम्पत्ति की निरन्तरता को सुदृढ़ करता है। यह भी बता दें कि यह एक नमूना सर्वेक्षण पर आधारित अध्ययन है, जो कि आधारविहीन सैद्धान्तिक अटकलबाज़ियां नहीं कर रहा है, बल्कि ठोस आंकड़ों के आधार पर अध्ययन कर रहा है। इसी प्रकार, सुखदेव थोराट ने अपने अध्ययन (Caste and Ownership of Private Enterprises, EPW, Vol-44, Issue No-23, 6 June 2009) में दिखलाया है कि निजी कम्पनियों के मालिकाने में दलित परिवारों का हिस्सा न सिर्फ उनकी आबादी के अनुपात में बेहद कम है, बल्कि यह भी दिखलाया है कि बाज़ार में विनिमय और प्रतिस्पर्द्धा की "समानता" इस ढांचे को तोड़ने में असफल है, जैसा कि पूंजीवाद से उम्मीद की गयी थी। इसका एक कारण उच्च जाति के बुर्जुआ परिवारों में निजी सम्पत्ति और समृद्धि की निरन्तरता भी है, जिसके पीछे जातिगत सजातीय व्यवस्था की ही प्रथा है।

क्या हमारे तर्क का अर्थ यह निकलता है कि बिना सजातीय विवाह के बुर्जुआ सम्पत्ति की निरन्तरता नहीं बनी रह सकती? कम-से-कम कोई ऐसा व्यक्ति जिसका मस्तिष्क अभी सही स्थान पर बना हुआ है, वह तो इसका यह अर्थ कतई नहीं निकालेगा। लेकिन हम सुनिश्चित नहीं हैं कि इस विषय में श्यामसुन्दर की अर्हता क्या है। इसका सिर्फ यह अर्थ है कि पूंजीपति वर्ग में उच्च जातियों का प्रभुत्व है और यह उच्च जातिगत चरित्र रखने वाला पूंजीपति वर्ग अपनी सम्पत्ति की निरन्तरता को जातिगत दायरों में बनाये रखता है, तो बुर्जुआ निजी सम्पत्ति की पवित्रता की निरन्तरता को बनाये रखने में भी मदद मिलती है। इसलिए श्यामसुन्दर ने हमसे जो प्रश्न पूछा है वह मूर्खतापूर्ण है कि हम यह व्याख्या करें कि तमाम उन्नत पूंजीवादी देशों में निजी सम्पत्ति की निरंतरता बिना सजातीय विवाह की व्यवस्था के कैसे बनी हुई है।

18. अन्त में...

'मूर्खों से बहस करने के प्रलोभन से बचना चाहिए,

उसकी बजाय किसी मृत व्यक्ति को जगाने का प्रयास करना बेहतर है'

- भर्तृहरि

जैसा कि पाठक इस पूरी बहस में श्यामसुन्दर के हस्तक्षेप से देख सकते हैं, यह एक हताश मठाधीश का अपने मठ को बौद्धिक और राजनीतिक तौर पर बचाने का एक हताश प्रयास है, जिसमें कि झूठ बोलने, झूठे आरोप लगाने, मिस्कोट करने, मिस्रेप्रजेण्ट करने, बौद्धिक बेईमानियां करने, फंसने पर बात बदलने, सन्दर्भ से चीज़ों को काटकर पेश करने जैसे तमाम उपकरणों का श्यामसुन्दर द्वारा इस्तेमाल किया गया है। लेकिन दिक्कत यह है कि ऐसे किसी भी प्रयास से वह अपनी दयनीय राजनीतिक और बौद्धिक स्थिति, मूर्खता और अज्ञानता को छिपा नहीं पा रहे हैं। ऐसे में, वह और भी ज़्यादा बेशर्मी से झूठ, लफ्फाजी और फरेब पर आमादा हो गये हैं। ऐसे में, इस बहस को जारी रखने का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। **हर बहस एक बुनियादी बौद्धिक ईमानदारी की मांग करती है, जो कि श्यामसुन्दर खो चुके हैं।** हम जानते हैं कि इसके बाद वह अपने कार्यकर्ताओं के समक्ष बहस का समाहार करने की बेहूदी कवायद करेंगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। **वास्तव में, हम अगर यह जवाब भी न लिखते तो कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि बहस के सारे मुद्दों पर श्यामसुन्दर ने कोई नयी बात नहीं कही है, बल्कि अपने पुराने कुतर्कों को ही दुहरा दिया है; या फिर सफेद झूठ बोलते हुए अपनी बात ही बदल ली है, और या फिर जो भी नया कहा है वह लफ्फाजी और फरेब भरी बकवास है। यह हमने ऊपर एक आखिरी बार इसलिए सप्रमाण और सोदाहरण प्रदर्शित किया क्योंकि ऐसे मूर्ख मठाधीश भी बहुत से जेनुइन लोगों के जीवन के बहुत से वर्ष खा जाते हैं।**

हम समझते हैं कि अब तक चली बहस में बहस के सारे ही मूल मुद्दों पर दोनों ही पक्षों की अवस्थितियां स्पष्ट तौर पर सामने आ चुकी हैं। इसलिए अब बस बातों का दुहराव ही हो सकता है, जिस पर खर्च करने के लिए न तो हमारे पास समय है और न ही इच्छाशक्ति। वैसे भी, जैसा कि हमने ऊपर भी कई बार स्पष्ट किया है, मूर्खता से बहुत देर तक इंगेज करने के भी अपने खतरे होते हैं! द्वन्द्ववाद के नियमों से लेकर भारत के इतिहास, महान शिक्षकों के विचारों से लेकर अम्बेडकर तक के विचारों, हिन्दू धर्म, हिन्दू पुनरुत्थानवाद, और हिन्दुत्व, उत्पादन सम्बन्ध, उत्पादन पद्धति और सामाजिक संरचना जैसी मार्क्सवादी अवधारणाओं आदि के विषय में श्यामसुन्दर की अद्भुत और आश्चर्यजनक मूर्खता और अज्ञान बार-बार श्यामसुन्दर की इसी मानसिक अक्षमता और मूर्खता को सिद्ध करते हैं। और अब इसमें श्यामसुन्दर की बौद्धिक बेईमानी, झूठ और फरेब जुड़ चुका है। हम दो बार इनका सप्रमाण और सोदाहरण खण्डन करने की ज़हमत उठा चुके हैं। इससे ज्यादा की कोई ज़रूरत नहीं है।

परिशिष्ट-1 (हमारे पिछले जवाब से अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचारों की आलोचना वाला हिस्सा जिसका श्यामसुन्दर ने अपने नये पत्र में कोई उत्तर नहीं दिया)

3. डा. अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचार: हैमलेटियन दुविधा या शुद्ध मूर्खता?

सबसे पहले तो हम अम्बेडकर के विषय में श्यामसुन्दर के विचार-रत्नों को पेश कर दें, ताकि पाठक ठीक तरह से अहमकपन का पूरा मुज़ाहिरा देख लें और उसका जायज़ा ले लें, उसके बाद हम इन विचारों की समीक्षा भी करेंगे। श्यामसुन्दर लिखते हैं:

"इन दोनों बातों से एक चीज़ स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है कि गांधी जी के नेतृत्व में देश का पूंजीपति वर्ग जिस सत्ता प्राप्ति के प्रयासों यानी पूंजीवादी जनवादी संघर्ष को अपने ढंग और हितों से अंजाम देने में लगा हुआ था तब बाबा साहब उसी संघर्ष में एक पूरक की भूमिका निभा रहे थे और वह पूरक संघर्ष की भूमिका एक जनवादी चरित्र लिए हुए थी और जब सत्ता हस्तांतरण के लिए समझौता हुआ और एक गणतंत्र देश का नया संविधान बनाने के लिए जो संविधान सभा अस्तित्व में आई उसमें बाबा साहब भी एक सदस्य के तौर पर निर्वाचित हुए या कराए गए। *परिणामस्वरूप जो संविधान बनाया गया और लागू किया गया उसमें जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से राज्य द्वारा खात्मा कर दिया गया।*" (ज़ोर हमारा)

अभी रुकिये! श्यामसुन्दर के अतिसुन्दर विचारों की कुछ और पुष्पवर्षा देखिये, ये तो सिर्फ शुरुआत थी। देखें:

"बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर यदि देश के दलितों व अन्य शोषित-उत्पीड़ित मेहनतकश वर्गों को सत्ता दिलाने के लिए आज़ादी आन्दोलन में लड़े होते *और देश के पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता हस्तांतरित होने से रोक पाते तो निश्चित रूप से आज़ादी के बाद देश के दलितों, और अन्य तमाम शोषितों-पीड़ितों को न तो ये दुर्दिन देखने पड़ते और न ही पूंजीवादी नर्क का यह नारकीय जीवन भोगना पड़ता।*" (ज़ोर हमारा)

और देखें:

"बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर ने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष आवेदन निवेदन करने वाला रास्ता चुना जिसे हम सुधारवादी रास्ता कहते हैं और भगतसिंह ने दूसरी क्रांतिकारी राह का आह्वान किया था। बाबा साहब दलितों मज़दूरों की सत्ता के लिए नहीं लड़े यही उनकी कमजोरी थी और *उनकी इसी कमज़ोरी के कारण सत्ता को देश का पूंजीपति वर्ग हथिया ले गया फलस्वरूप जनवादी क्रांति अपने अंजाम तक नहीं पहुंच पाई, वह अधूरी ही रह गयी* जिसका खामियाज़ा अभी इस देश के दलित और तमाम श्रमिक तथा मेहनतकश किसान भुगत रहे हैं।" (ज़ोर हमारा)

और भी:

"लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि बाबा साहब इतने प्रतिभावान और भुक्तभोगी होते हुए भी दलितों की मुक्ति के लिए संघर्ष के सुधारवादी ढंग तक ही सीमित रहे और क्रांतिकारी अवस्थिति को न अपना सके जिसका अहम सवाल संगठित होकर सत्ता हासिल करने का सवाल था। सुधारवादी ढंग से इस संघर्ष को अपनी तर्कसंगत मंजिल तक पहुंचना ही सम्भव नहीं था और *इस बात का खुद बाबा साहब को भी अहसास हो गया था। सन 1936 में जाति उन्मूलन विषय पर जो लेख लिखा था वह उनके इस अहसास का सबूत है क्योंकि उसी लेख में वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गये थे कि जाति उन्मूलन असम्भव है और दलित जातियों को भी इस बात का पूर्ण अहसास हो चुका है कि बाबा साहब के बताये रास्ते से जाति उन्मूलन सम्भव नहीं है* इसलिए उन्होंने अब अपनी-अपनी जातियों के नाम में ही 'गर्व' ईजाद कर लिया है।" (ज़ोर हमारा)

यहां भी इतने स्तरों पर श्यामसुन्दर ने नासमझी भरी और तथ्यात्मक रूप से ग़लत बातें कहीं हैं कि सभी का खण्डन सम्भव नहीं होगा। लेकिन हम प्रातिनिधिक मूर्खताओं का चुनाव कर उनका खण्डन पेश करेंगे ताकि पाठक समझ सकें कि डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति के विषय में समझदारी के मामले में श्यामसुन्दर का डिब्बा गोल है। इन्होंने जो लिखा है उससे स्पष्ट ज़ाहिर होता है कि सम्भवत: *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* के अलावा इन्होंने अम्बेडकर की किसी भी रचना का अध्ययन नहीं किया है और शायद *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट* का भी इन्होंने या तो गम्भीरता से और आद्योपान्त अध्ययन नहीं किया है या फिर अध्ययन करके भी समझ नहीं पाए हैं।यह श्यामसुन्दर की आम समस्या प्रतीत होती है। अब आइये इन उद्धरणों में पेश अनमोल रत्नों की सिलसिलेवार जांच करें।

पहले उद्धरण में यह कहा गया है कि गणतांत्रिक भारत के संविधान ने अम्बेडकर के योगदान के कारण जाति व्यवस्था का भारतीय समाज के भौतिक आधार के रूप में समापन कर दिया। पहली बात तो यह है कि भारत का संविधान अस्पृश्यता का उन्मूलन करता है और उसपर अमल को दण्डनीय अपराध बनाता है, लेकिन जहां तक जाति व्यवस्था का प्रश्न है वह *केवल राज्य को* धर्म, जाति, नस्ल व लिंग के आधार पर भेदभाव करने से रोकता है, मगर यदि स्वयं नागरिक जाति के आधार पर भेदभाव करें, तो संविधान इस पर कुछ भी नहीं कहता। वास्तव में, अगर लोग जाति-आधारित सभाएं बनाएं, जाति-आधारित विवाह के लिए इश्तेहार छापें, जातिगत समारोह व सम्मेलन आयोजित करें, तमाम नौकरशाह जाति के आधार पर अपने मंच बनाएं, तो इस पर भारत का संविधान कुछ भी नहीं कहता है। यह हमारे संविधान के अनुसार कोई असंवैधानिक गतिविधि नहीं है। वास्तव में, अगर कोई निजी उद्यम रोज़गार के अवसर देने या अपनी अन्य गतिविधियों में जाति के आधार पर भेदभाव करता है, तो भी भारत का संविधान उसे दण्ड नहीं दिलवा सकता; कोई व्यक्ति अपने निजी जल भण्डार या स्रोत को सभी जातियों के लिए खोलता नहीं, तो भी उसे भारतीय संविधान कोई दण्ड नहीं दिला सकता। सभी सार्वजनिक जल भण्डार या स्रोतों, या मार्गों को संविधान सभी जातियों के लिए खोलता है, मगर यह निजी मालिकाने के तहत आने वाले उद्यमों या उपक्रमों पर लागू नहीं होता। और जिसने भी संविधान सभा की बहसों में अम्बेडकर के हस्तक्षेप पढ़े हैं, वे सभी जानते हैं कि वे निजी सम्पत्ति के अधिकार के कट्टर समर्थक थे; यहां तक कि संविधान का जो मसौदा मूलत: पारित हुआ, उसमें निजी सम्पत्ति का अधिकार मूलभूत अधिकार था, जिसे बाद में मूलभूत अधिकार के हिस्से से हटाया गया। ऐसे में, यह कहना कि संविधान ने जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से उन्मूलन कर दिया, मूर्खतापूर्ण बात है। दूसरी बात यह है कि यदि कोई सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध समाज में मौजूद है तो कानून या संविधान बनाकर उसका खात्मा नहीं किया जा

सकता है। यह प्रश्न मूलत: सत्ता का प्रश्न है; सत्ता पर कब्ज़ा करने के बाद कोई क्रांतिकारी शक्ति किसी सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध का कानूनी-विधिक उन्मूलन कर सकती है, जैसे कि सोवियत सत्ता ने निजी सम्पत्ति का उन्मूलन किया। *लेकिन सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी-विधिक रूपान्तरण से ही उत्पादन सम्बन्धों का रूपान्तरण नहीं हो जाता है।* सम्पत्ति सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध के तीन आयामों में से एक आयाम है और सबसे अहम आयाम है। लेकिन सम्पत्ति सम्बन्ध ही उत्पादन सम्बन्ध नहीं होते। उत्पादन सम्बन्ध के दो अन्य आयाम होते हैं श्रम विभाजन और वितरण के सम्बन्ध। निजी सम्पत्ति के कानूनी खात्मे से उत्पादन सम्बन्धों के क्रांतिकारी रूपान्तरण का काम शुरू होता है, खत्म नहीं। इसीलिए लेनिन ने स्पष्ट किया था कि जब तक मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम में विभेद है और जब तक गांव-शहर व उद्योग-कृषि की असमानताएं मौजूद हैं, तब तक माल उत्पादन जारी रहेगा और उनके सामान्यीकृत हो फिर से पूंजीवादी सम्बन्धों की पुनर्स्थापना होने की सम्भावना बनी रहेगी। माओ ने इसी सिरे को पकड़कर समाजवादी संक्रमण के विषय में अर्थवादी समझदारी का खण्डन किया और बताया कि केवल सम्पत्ति सम्बन्धों के कानूनी खात्मे से उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध पूर्णत: रूपान्तरित नहीं हो जाते। लेकिन श्यामसुन्दर अपने भोण्डे कठमुल्लवादी अर्थवाद को इस मसले में बार-बार उजागर करते हैं। सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का रूपान्तरण उनके लिए कानून का मसला है। एक अन्य स्थान पर श्यामसुन्दर अपनी इस "समझदारी" को पूर्णत: नग्न अवस्था में रखते हैं:

"इसके बाद (समाजवादी सत्ता की स्थापना के बाद) ही वे समाज में व्याप्त तमाम प्रकार की ऊंच-नीच और गैर-बराबरी को, चाहे सामाजिक हो चाहे आर्थिक वांछित कदम उठाते हुए, *कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए मिटा सकते हैं*" (ज़ोर हमारा)

सामाजिक सम्बन्धों का रूपान्तरण मूलत: वर्ग संघर्ष का मसला होता है; कानून और आज्ञप्तियां केवल उस वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का एक अंग होती हैं और उस प्रक्रिया को एक अगले चरण में ले जाने का काम करती हैं। इसीलिए एंगेल्स ने बहुत पहले ही 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में ही स्पष्ट कर दिया था कि निजी सम्पत्ति के बिना भी पूंजीवाद सम्भव है और बाद में लेनिन और माओ ने भी इस बात की ताईद की थी। लेकिन श्यामसुन्दर इतनी सामान्य मार्क्सवादी शिक्षा को भी नहीं समझते हैं, तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होता है।

ऊपर पेश दूसरे उद्धरण को देखें तो हम पाते हैं कि श्यामसुन्दर इसमें मूढ़ता के नये कीर्तिमान स्थापित करते हैं। इसमें श्यामसुन्दर कहते हैं कि अगर अम्बेडकर ने आज़ादी की लड़ाई में शिरकत की होती और दलितों-उत्पीड़ितों की सत्ता के लिए लड़े होते, तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में हस्तांतरित नहीं होती और देश के दलितों व मेहनतकशों को पूंजीवाद का नर्क नहीं झेलना पड़ता! ऐसी बातें सुनकर आप अपना माथा पकड़ लेते हैं और सोच में पड़ जाते हैं कि या तो इस पत्र के लेखक का सपने में डा. अम्बेडकर से कोई संवाद हुआ है, या फिर इसका जड़मतित्व अब पागलपन की सीमा-रेखा पर है। जिसने भी डा. अम्बेडकर का पूरा लेखन पढ़ा है, वह जानता है कि अम्बेडकर एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के रूप में पूंजीवादी व्यवस्था का ही समर्थन करते थे, हालांकि उस प्रकार के कल्याणकारी राज्य वाली पूंजीवादी व्यवस्था का, जिसकी बात फेबियन पार्टी, ब्रिटिश लेबर पार्टी और कीन्सवादी करते थे। दूसरी बात यह है कि अम्बेडकर एक ड्यूईवादी व्यवहारवादी थे, जिनका मानना था कि श्रम और पूंजी के बीच कोई वास्तविक अन्तरविरोध नहीं होता है और जो *पर्सीव्ड* अन्तरविरोध होता है, वह राज्य/सरकार के हस्तक्षेप के द्वारा दूर किया जा सकता है, जिसे कि अम्बेडकर ने 'समाज की सबसे

महत्वपूर्ण संस्था' कहा है जो कि सारे सामाजिक परिवर्तनों को निर्धारित करती है। यह वास्तव में ड्यूई से लिया गया सिद्धान्त ही है, जिसके अनुसार राज्य/सरकार (क्योंकि अम्बेडकर राज्यसत्ता और सरकार में कोई फर्क नहीं करते हैं) समाज में 'सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता' व 'महान मध्यस्थ' होती है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का डा. अम्बेडकर स्पष्ट शब्दो में और बार-बार विरोध करते हैं। जिस चीज़ को वे 'राजकीय समाजवाद' कहते हैं, वह और कुछ नहीं बल्कि एक कल्याणकारी राज्य वाला पूंजीवाद ही है। जैसा कि कार्ल लीब्कनेख्त ने कहा था, "हम जर्मन समाजवादियों से ज्यादा राजकीय समाजवाद के खिलाफ किसी ने संघर्ष नहीं किया है; मुझे अधिक स्पष्ट रूप से किसी ने नहीं दिखलाया है कि राजकीय समाजवाद, राजकीय पूंजीवाद ही होता है।" (कार्ल लीब्कनेख्त, 'हमारी हालिया कांग्रेस') इसलिए अम्बेडकर जहां 'राजकीय समाजवाद' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो मार्क्सवादियों को उसे 'राजकीय पूंजीवाद' पढ़ना चाहिए। वास्तव में, अपने बाद के लेखन में उन्होंने यहां तक भी लिखा है कि कुछ कुंजीभूत उद्योगों को भी निजी हाथों में दिया जा सकता है। क्या श्यामसुन्दर को यह पता है कि सामन्ती भूस्वामियों से ज़मीन लेने के बदले उन्हें सरकारी बॉण्ड दिये जाने का प्रस्ताव डा. अम्बेडकर ने रखा था? यह प्रस्ताव समाजवादी तो दूर, फ्रांसीसी क्रांति जितना क्रांतिकारी जनवादी भी नहीं था, जिसने बिना किसी मुआवज़े के सामन्तों और चर्च की ज़मीन लेने का कार्यक्रम रखा था। क्या श्यामसुन्दर को यह पता है कि राजे-रजवाड़ों को आज़ादी के बाद प्रिवी पर्स देने का प्रस्ताव डा. अम्बेडकर का था? क्या उन्हें पता है कि डा. अम्बेडकर ने उपरोक्त दोनों प्रस्ताव क्यों रखे थे? उन्होंने ये दोनों प्रस्ताव इसलिए रखे थे क्योंकि निजी सम्पत्ति के पवित्र अधिकार में उनकी अटूट आस्था थी और उनका मानना था कि यदि राजे-रजवाड़ों, सामन्ती भूस्वामियों और ज़मींदारों की ज़मीन ली जायेगी, तो उन्हें बदले में कोई न कोई मुआवज़ा मिलना चाहिए और यह मुआवज़ा सरकार देगी। सरकार मुआवज़ा कहां से देगी? वह जो कर जनता से प्राप्त करेगी, उससे। कर क्या होता है? अधिशेष का एक हिस्सा। अधिशेष कौन पैदा करता है? मेहनतकश जनता, मज़दूर और किसान! यानी कि ज़मीन मिलने के बाद भी किसान आबादी सरकार के रास्ते ज़मीन के भूतपूर्व कानूनी-विधिक स्वामियों को लगान का एक हिस्सा देती रहेगी, सरकारी बॉण्डों के ज़रिये। बॉण्ड जैसा कि सभी जानते हैं, किसी भी सिक्योरिटी के समान भविष्य के उत्पादन के एक हिस्से पर दावा होता है और उसमें स्वामित्व का तत्व होता है। *यानी डा. अम्बेडकर जिस भूमि सुधार की बात कर रहे थे, उसमें अभी सामन्ती भूस्वामियों के सम्पत्ति-हरण के कार्य को भी अधूरे तौर पर ही पूरा किया जाना था। यानी एक जनवादी क्रांति के कार्यभार को भी क्रांतिकारी तरीके से पूर्ण करने के अम्बेडकर खिलाफ थे।* ऐसे में, श्यामसुन्दर को किस वटवृक्ष के नीचे इस बोधिज्ञान की प्राप्ति हुई है कि अगर अम्बेडकर आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेते तो सत्ता हस्तांतरण पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं होता? अम्बेडकर के किस लेखन या विचार से यह प्रकट होता है कि वे मज़दूर वर्ग के हाथों में सत्ता हस्तांतरण में यकीन करते थे, क्योंकि श्यामसुन्दर के अनुसार यदि अम्बेडकर आज़ादी के संघर्ष में हिस्सा लेते तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं जाती? तो किसके हाथों में जाती? श्यामसुन्दर के अनुसार मज़दूर वर्ग के हाथों में! डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति के विषय में ऐसी समझदारी किसी ऐसे व्यक्ति की ही हो सकती है, जो बिना कुछ पढ़े-लिखे फालतू के पाण्डित्य-प्रदर्शन में उतर पड़ा हो। लेकिन ऐसे व्यक्ति और उसके ऐसे उपक्रम की फजीहत ही होती है।

श्यामसुन्दर अपने एसयूसीआई के अतीत से अपने आपको काट नहीं पाए हैं और एसयूसीआई के *सेण्टीमेण्टल* वामपंथियों के समान *स्वीट नथिंग्स* का उच्चारण करते रहते हैं, जैसे कि, 'काश, अगर अम्बेडकर दलितों, मज़दूरों की सत्ता के लिए लड़ होते..." अरे भई, क्यों लड़े होते? कैसे लड़े होते? क्या आपने उनके विचारों में कुछ ऐसा पाया कि वे लड़ना तो मज़दूर सत्ता और समाजवाद के लिए चाहते थे, लेकिन फिर भी पता नहीं क्यों, वे नहीं लड़े? और अगर ऐसी चाहत, ऐसे "काश" की बुनियाद में अम्बेडकर के चिन्तन के आधार पर मौजूद कोई ठोस तथ्य नहीं है तो ऐसे "काश" किसी भी चीज़ पर लगाये जा सकते हैं, जैसे कि, "काश! अंग्रेजों ने भारत को उपनिवेश न बनाया होता!"; "काश, गांधी जी मार्क्सवादी होते"; "काश, गोलवलकर ने एसयूसीआई ज्वाइन कर ली होती"; "काश, श्यामसुन्दर थोड़ा पढ़ाई किया करते", वगैरह। मार्क्सवाद व समाजवाद के विषय में अम्बेडकर के कुछ विचार देखिये, ताकि आप समझ सकें कि श्यामसुन्दर का "काश" मुंगेरीलाल के हसीन सपने वाला "काश" है।

"अब, मेरे मस्तिष्क में यह पृष्ठभूमि और कुछ नहीं बल्कि विश्व में कम्युनिज्म का फैलना है। इस सिद्धान्त को समझना या इसकी वैधता को समझना और सद्धान्त की प्रकृति को समझना एकदम असम्भव है अगर आप उस समस्या पर नहीं सोचते जो कि आज दुनिया के सामने है -- दुनिया का वह हिस्सा जो कि संसदीय और मुक्त लोकतंत्र में यकीन रखता है, यानी, दुनिया में कम्युनिज्म के प्रसार की समस्या।" (बी. आर. अम्बेडकर, संसदीय बहस, डी., खण्ड 7ए (राज्यों की परिषद), 26 अगस्त 1954, पृ 469-83, अंग्रेजी संस्करण)

"सवाल यह है: क्या कम्युनिज्म और मुक्त लोकतंत्र साथ काम कर सकते हैं? क्या यह उम्मीद करना सम्भव है कि उनके बीच टकराव नहीं होगा? किसी भी रूप में, यह सिद्धान्त मुझे एकदम बेतुका लगता है, क्योंकि कम्युनिज्म एक जंगल की आग के समान है; इसके रास्ते में जो भी आता है यह उसे जलाता और निगलता जाता है।" (वही)

1951 में एक साक्षात्कार में डा. अम्बेडकर ने कहा कि उनकी पार्टी किसी कीमत पर कम्युनिस्ट पार्टी के साथ गठबन्धन नहीं करेगी "क्योंकि इसका सीधा सा कारण यह है कि मेरा कम्युनिज्म में कोई यकीन नहीं है।" जब उनसे पूछा गया कि केवल उनके कम्युनिज्म के खिलाफ होने से क्या उनकी पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी के साथ समझौता करने से वह रोकने की कोशिश करेंगे, तो अम्बेडकर ने कहा: "मैं अपनी पार्टी का गुलाम नहीं हूं। जब तक मैं और मेरी पार्टी सहमत हैं, तब तक हम साथ काम करेंगे, वरना हम अपने-अपने रास्ते जाएंगे।" (पीटीआई को दिया गया साक्षात्कार, नवम्बर, 1951)

ये केवल चन्द उदाहरण हैं जिससे कि आप डा. अम्बेडकर के विचारों को समझ सकें; ऐसे दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं। आप खुद देख सकते हैं कि जहां तक अम्बेडकर के विचारों का सवाल है, तो उनमें श्यामसुन्दर के "काश" की कोई जमीन नहीं है और यह कहना कि यदि अम्बेडकर आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेते तो सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में नहीं गयी होती, यानी कि सर्वहारा वर्ग के हाथों में गयी होती, महामूर्खता है। अब हम एक "काश" पेश करते हैं: काश, श्यामसुन्दर कुछ पढ़ने की आदत डाल लेते और उसके बाद लिखते तो बहुत से

लोगों का वक्त बचता और बहुत से लोग अज्ञानता नामक राक्षसी शक्ति से बच पाते। अब अगले उद्धरण पर आते हैं।

तीसरे उद्धरण में श्यामसुन्दर ने दूसरे उद्धरण वाली मूर्खता को ही दुहराया है। लेकिन मूर्खता दुहराने से भी मूर्खता ही रहती है, बल्कि और ज्यादा प्रहसनात्मक बन जाती है। यहां श्यामसुन्दर ने कहा है कि अम्बेडकर यदि सुधारवादी न होते तो 1947 में भारत की जनवादी क्रांति पूर्ण हो गयी होती। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि जनवादी सुधारों की अम्बेडकर की समझदारी अट्ठारहवीं सदी की फ्रांसीसी क्रांति जितनी आमूलगामी भी नहीं थी। यदि अम्बेडकर के समस्त आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकारा गया होता और लागू किया गया होता, तो भी जनवादी क्रांति के कार्यभार अधूरे ही रहते। वास्तव में, अम्बेडकर के आर्थिक कार्यक्रम और नेहरू के आर्थिक कार्यक्रम में कोई बुनियादी अन्तर नहीं था।

चौथे उद्धरण में श्यामसुन्दर ने फिर इतिहास के साथ रजकर बदतमीज़ी की है। श्यामसुन्दर ने दावा किया है कि डा. अम्बेडकर को 1936 में समझ में आ गया था कि सुधारवादी रास्ते से जाति उनमूलन नहीं हो सकता है और इसीलिए उन्होंने 1936 की अपनी रचना *जाति का उन्मूलन* में लिखा था कि जाति का उन्मूलन हो ही नहीं सकता है। श्यामसुन्दर यहीं नहीं रुकते और दावा करते हैं कि दलित जातियों को भी इस बात का अहसास हो चुका है कि डा. अम्बेडकर के रास्ते से जाति उन्मूलन सम्भव नहीं है। ये दोनों इलहाम श्यामसुन्दर को कैसे हुए, यह तो वही बता सकते हैं। जहां तक डा. अम्बेडकर को 1936 तक इस बात का अहसास होने का प्रश्न है कि सुधारवादी रास्ते से जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है, यह श्यामसुन्दर की कपोलकल्पना है। जब *जाति का उन्मूलन* में अम्बेडकर इस नतीजे पर पहुंचे कि जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है, तो इसका आधार यह नहीं था कि अब वे सुधारवादी रास्तों की सीमा समझ गये थे और जान गये थे कि सुधारवाद से जाति उन्मूलन नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो 1936 के बाद वे जाति उन्मूलन का कोई आमूलगामी कार्यक्रम पेश करते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उल्टे सुधारवाद के रास्ते पर अम्बेडकर ने इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी के दौर के उत्तरार्द्ध से ही और भी ज्यादा दृढ़ता से अमल किया। 1941-42 में शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन बनाने का फैसला और फिर वायसराय की परिषद् में श्रम सदस्य के रूप में शामिल होना और युद्ध प्रयास में ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता की सहायता करने का कार्य इस बात को बिना किसी शक़ साबित कर देता है। स्वयं अम्बेडकर का 1936 से 1956 तक का लेखन देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि अम्बेडकर ड्यूईवादी व्यवहारवाद की उदार बुर्जुआ सुधारवादी विचारधारा पर अन्तिम तक अडिग रहे थे, जिसके बुनियादी पूर्वाग्रह ही यही है कि समाज और प्रकृति में कोई भी परिवर्तन क्रमिक होता है और यह परिवर्तन भी 'नीचे से' यानी संगठित जनता के बल प्रयोग से नहीं, बल्कि ऊपर से 'सबसे तार्किक अभिकर्ता', यानी राज्य द्वारा किया जाता है। जिसने भी अम्बेडकर का लेखन पढ़ा है वह देख सकता है कि इन ड्यूईवादी व्यवहारवाद के बुनियादी उसूलों के प्रति अम्बेडकर हमेशा प्रतिबद्ध रहे थे। फिर अम्बेडकर ने जब 1936 में *जाति का उन्मूलन* में यह कहा कि जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता तो उनका क्या अर्थ था? अगर आप इस रचना को श्यामसुन्दर के समान न पढ़कर ढंग से आद्योपान्त और समझकर पढ़ें तो आप पाते हैं कि डा. अम्बेडकर का यह कहना है कि हिन्दू धर्म के दायरे के भीतर जाति का उन्मूलन असम्भव है। क्यों? डा. अम्बेडकर तर्क देते हैं कि हर समाज का अग्रणी वर्ग उसका बुद्धिजीवियों का वर्ग होता है। समाज में किसी भी परिवर्तन को लाने वाली शक्ति, यानी सरकार या राज्यसत्ता, को यही वर्ग कोई

भी विशिष्ट परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। लेकिन हिन्दू समाज का बुद्धिजीवी वर्ग उसका ब्राह्मण वर्ग है जो कि जाति उन्मूलन के लिए कभी राज़ी नहीं होगा। यही कारण है कि हिन्दू समाज के दायरे के भीतर जाति का उन्मूलन नहीं हो सकता है। चूंकि डा. अम्बेडकर स्वयं भी जानते थे कि धर्म परिवर्तन करने से भी जाति का उन्मूलन नहीं हो जायेगा, जैसा कि उन्होंने अपने एक भाषण में भी कहा है, इसलिए 1936 में यह घोषणा करने के बावजूद, कि वे हिन्दू धर्म में पैदा हुए हैं, लेकिन वे एक हिन्दू के रूप में नहीं मरेंगे, उन्होंने तत्काल धर्म परिवर्तन नहीं किया, बल्कि मरने से ठीक पूर्व 1956 में किया। इसका कारण यह था कि वह हिन्दू समाज के भीतर सुधार की गुंजाइश की पड़ताल जारी रखे हुए थे। इसलिए श्यामसुन्दर जिन शब्दों में डा. अम्बेडकर के धर्मांतरण की प्रतिज्ञा के पालन का गुणगान करते हैं, उसमें वैसा गुणगान करने वाला कुछ भी नहीं है। वस्तुत: अगर श्यामसुन्दर ने विकीपीडिया से आगे जाकर कुछ संजीदा पढ़ाई की होती तो उन्हें पता होता कि धर्मांतरण के बारे में भी डा. अम्बेडकर का पहला सन्दर्भ 1927 की जलगांव डिप्रेस्ड क्लासेज़ कॉनफरेंस के उनके भाषण में मिलता है। उसके बाद से ही वे धर्मांतरण के लिए उचित धर्म के चयन हेतु जांच कर रहे थे। श्यामसुन्दर शायद यह भी नहीं जानते होंगे कि उन्होंने जिस धर्म पर पहले विचार किया था वह सिख धर्म था। शायद वह यह भी नहीं जानते होंगे कि उन्होंने सिख धर्म का चुनाव क्यों किया था। सिख धर्म उनकी पहली पसन्द डा. मुंजे की सलाह पर बना था, जो कि हिन्दुत्व के शुरुआती विचारकों में से एक थे। मुंजे की सलाह पर अम्बेडकर ने यह माना और अपने अनुसरण करने वालों को स्पष्ट शब्दों में कहा भी कि सिख धर्म को चुनकर दलित केवल हिन्दू धर्म से बाहर जाएंगे, हिन्दू सभ्यता से नहीं और इस प्रकार दलित हिन्दू सभ्यता के प्रति अपने ऋण को चुका सकेंगे। जब अम्बेडकर को उनके कुछ अनुयायियों ने, जिन्हें अम्बेडकर ने सिख धर्म के अध्ययन के लिए पंजाब भेजा था, बताया कि सिख धर्म के भीतर भी जातिगत उत्पीड़न से कोई छुटकारा नहीं है और जट्ट किसान भी दलितों का वैसा ही बर्बर दमन करते हैं और साथ ही जब सिखों के नेता मास्टर तारा सिंह ने दलितों के व्यापक पैमाने पर सिख धर्म में धर्मांतरण से इंकार कर दिया, तब डा. अम्बेडकर ने सिख धर्म के विकल्प पर विचार करना छोड़ा। इस्लाम और ईसाई धर्म पर उन्होंने विचार ही नहीं किया क्योंकि वह भारतीय समाज व सभ्यता का मूल रूप से अंग नहीं था और वह मानते थे कि दलित यदि इस्लाम या ईसाई धर्म में गये तो वे "विराष्ट्रीकृत" (denationalize) हो जाएंगे। बाद में बौद्ध धर्म के अध्ययन के बाद अम्बेडकर ने 1940 के दशक में इस धर्म के विकल्प को चुन लिया था, लेकिन तब भी वे तुरन्त धर्मांतरित नहीं हुए क्योंकि उन्हें पता था कि सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के अंग होने के कारण जाति का उन्मूलन धर्मांतरण से नहीं हो सकता है; यह हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवाद पर एक जवाबी कार्रवाई के रूप में कुछ अहमियत रख सकता है, लेकिन इससे जाति खत्म नहीं होगी। मृत्यु से कुछ समय पहले 1956 में धर्मांतरण करना डा. अम्बेडकर की एक आखिरी हताश नीति थी। *इसलिए श्यामसुन्दर का डा. अम्बेडकर द्वारा धर्मांतरण की "अपनी इस प्रतिज्ञा को सच कर दिखाने" पर ऐसे हर्षातिरेक से मूर्छावस्था में पहुंच जाने का कोई कारण नहीं है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि श्यामसुन्दर ने अम्बेडकर की रचनाओं और उनके राजनीतिक प्रैक्टिस के इतिहास का कोई अध्ययन नहीं किया है, और क्रांतिकारी साहस के अभाव में वे डा. अम्बेडकर की विचारधारा और राजनीति की कोई बेबाक मार्क्सवादी आलोचना करने की बजाय तुष्टिकरण की नीति से दलितों को रिझाना चाहते हैं।* लेकिन फिर उन्हें यह भी याद आता है कि सुधारवाद की थोड़ी आलोचना तो करनी चाहिए! फिर वे दबे शब्दों में सुधारवाद के प्रति थोड़ा बुदबुदाते हैं, लेकिन कुछ ही वाक्य बाद वे फिर से बाबा साहब के महिमा-मण्डन में लहालोट हो

जाते हैं और एसयूसीआई के सेण्टिमेण्टल वामपंथियों के समान डा. अम्बेडकर के किसी कदम पर उल्लास के ऐसे अतिरेक में आ जाते हैं कि ज़मीन पर लोटमपोट हो जाते हैं, तो किसी खुले तौर पर सुधारवादी कदम पर अफसोस में आ जाते हैं कि 'दुर्भाग्य की बात है कि बाबा साहब इतने प्रतिभावान और भुक्तभोगी होते हुए भी दलितों की मुक्ति के संघर्ष के सुधारवादी ढंग तक ही सीमित रहे' और कि 'अगर उन्होंने सुधारवाद की बजाय क्रांतिवाद का रास्ता चुना होता तो जनवादी क्रांति पूर्णता तक पहुंच जाती या सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ नहीं आती और हमें पूंजीवाद का नर्क नहीं झेलना पड़ता', आदि। *ये किस प्रकार की भाषा है? क्या कोई मार्क्सवादी इस प्रकार का विश्लेषण कर सकता है, अगर छूट देकर इस बचकानेपन और बौनेपन को विश्लेषण कहा जाय? वास्तव में, श्यामसुन्दर हैमलेटियन दुविधा में फंसे हुए हैं: 'अम्बेडकर की आलोचना करूं या न करूं? अगर नहीं करता तो मेरे कार्यकर्ता क्या कहेंगे? अगर कर देता हूं तो दलित साथी बुरा मान जाएंगे! अच्छा, ऐसा करता हूं कि थोड़ी सी करता हूं और फिर थोड़ा महिमा-मण्डन भी कर दूंगा!'* यह है श्यामसुन्दर की चिन्तन प्रणाली जो कुछ कूपमण्डूकता और जड़बुद्धि से पैदा होती है और कुछ क्रांतिकारी साहस के अभाव और तुच्छ किस्म के अवसरवाद से।

इस तुच्छ किस्म के अवसरवाद में थोड़ी बेईमानी और थोड़ा अनैतिहासिक नज़रिया जोड़ दें, तो भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी हिस्सेदारी के प्रति श्यामसुन्दर का रवैया निकलकर सामने आता है। श्यामसुन्दर के पूरे पेपर में कहीं भी संशोधनवादी रास्ते पर चल पड़ने के पहले के कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी भूमिका और साथ ही 1967 में संशोधनवाद से विच्छेद के बाद क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन और दलित संघर्षों में उसकी भूमिका के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। तेलंगाना के संघर्ष के दौरान अम्बेडकर की समझौतापरस्ती को एक समझौतापरस्त तरीके से इंगित किया गया है, लेकिन यह नहीं बतलाया गया कि यह महान किसान विद्रोह कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुआ था। यह बेईमानी इन महाशय ने इसलिए की है क्योंकि इनकी थीसिस है कि सी.पी.आई. जन्म से ही संशोधनवादी पार्टी थी और अगर तेलंगाना के संघर्ष को क्रांतिकारी कहा जाता है, तो यह थीसिस श्यामसुन्दर को कचरापेटी में फेंकनी पड़ेगी। लेकिन इतने साल से जहां खूंटा गाड़े हैं, उसे अब उखाड़ें कैसे? साथ ही, जब नक्सलबाड़ी विद्रोह की बात की गयी है, तो भी यह नहीं बताया गया कि इसके नेतृत्व में सी.पी.आई. (एम.एल.) थी; मगर नक्सलबाड़ी विद्रोह के दौरान संशोधनवादी हो चुके कम्युनिस्ट नेतृत्व और सी.पी.एम. को अवश्य कोसा गया है, और उचित ही कोसा गया है। लेकिन यह श्यामसुन्दर का *सेलेक्टिव* नज़रिया है, जो उनकी राजनीतिक वंशावली से उन्हें विरासत में मिला है: यानी एसयूसीआई की विरासत से। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और कम्युनिस्ट विचारों की शुरुआत और अन्त उनके लिए भगतसिंह हैं और सम्भवत: श्यामसुन्दर को यह लगता है कि उसके बाद से कम्युनिस्ट विरासत के पुनरुज्जीवन का काम सीधे श्यामसुन्दर के नेतृत्व में 'जनसंघर्ष मंच हरियाणा' ने ही किया है! ऐसे आत्मगौरव के मतिभ्रम (delusions of self-grandeur) अक्सर उन बेवकूफों में पैदा हो जाते हैं, जिन्होंने इतिहास का अध्ययन नहीं किया है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में दो लाइनों के संघर्ष का एक इतिहास रहा है, चाहे आम तौर पर उसकी बौद्धिक स्थिति कितनी ही दरिद्र क्यों न रही हो; 1925 से 1951 तक सी.पी.आई. के इतिहास में राजनीतिक और विचारधारात्मक कमज़ोरियां चाहे कितनी भी रही हों, मगर इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि वह एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी थी। 1951 के बाद वह संशोधनवाद के मार्ग पर विपथगमन करती है। 1967 में नक्सलबाड़ी विद्रोह और उसके बाद 1969 में सी.पी.आई. (एम.एल.) के गठन को भी एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की शुरुआत माना जाना चाहिए, चाहे वह वामपंथी दुस्साहसवाद के गड्ढे में क्यों न जा गिरी हो, और चाहे क्रांति के कार्यक्रम के प्रश्न पर उसकी

समझदारी ग़लत ही क्यों न रही हो। रणनीति और आम रणकौशल तय के करने के मामले में जो भी कमज़ोरियां रही हों, 1951 के पहले सी.पी.आई. और 1969 के बाद सी.पी.आई. (एम.एल.) और उसके टूट-फूट और बिखराव के बाद पैदा हुईं तमाम मार्क्सवादी-लेनिनवाद ग्रुपों और पार्टियों को क्रांतिकारी कम्युनिस्ट शिविर का ही हिस्सा माना जायेगा, क्योंकि इन्होंने संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद किया और राज्य और क्रांति के प्रश्न पर लेनिनवादी अवस्थिति को अपनाया। और जहां कहीं भी ऐसे क्रांतिकारी कम्युनिस्ट ग्रुप या पार्टियां थीं, वहां-वहां दलित संघर्षों में इनकी नेतृत्वकारी भूमिका रही है, चाहे वह बिहार, झारखण्ड, बंगाल, उड़ीसा हो या फिर आंध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि। इनकी आलोचना बहुत से प्रश्नों पर की जा सकती है, लेकिन उनके क्रांतिकारी चरित्र और दलित संघर्षों में उनकी बहादुराना भूमिका पर श्यामसुन्दर के समान एक चुप्पी का षड्यन्त्र रचना यही दिखलाता है कि एसयूसीआई से मिली अवसरवाद और बौद्धिक बेईमानी की विरासत अभी तक एलबैट्रॉस के समान श्यामसुन्दर के कन्धों पर लटकी हुई है। साथ ही, श्यामसुन्दर की कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास पर यह साज़िशाना चुप्पी उनके अज्ञान और अनैतिहासिक नज़रिये को भी दिखलाती है।

परिशिष्ट-2 (2012 की कलायत बहस में हमारे अन्तिम जवाब का प्रासंगिक हिस्सा)

'बहस के मूल विषय' पर श्यामसुन्दर की राजनीतिक नटवरगिरीः या पुराने घिसे-पिटे तर्कों को गंजे हो जाने की हद तक घिसते जाने का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त

यहाँ पर भी श्यामसुन्दर ने झूठ के पुलिन्दे के साथ शुरुआत की है। उनका कहना है कि हमारे संगठन का यह मानना है कि जब तक भूमि प्रश्न हल न हो तब तक समाजवादी क्रान्ति का नारा देना पूँजीवादी क्रान्ति के चरण को लाँघ जाने की बात करना होगा; हमारे पूरे पेपर में कहीं भी 'पूँजीवादी क्रान्ति के चरण को लाँघ जाने' जैसे शब्दों का इस्तेमाल नहीं है। हमारे पेपर में साफ कहा गया था कि भारत में पूँजीवादी राज्यसत्ता किसी क्रान्ति, वर्ग संघर्षों के क्रान्ति के हद तक विकसित होने का परिणाम नहीं थी। भारत में पूँजीवादी राज्यसत्ता एक अस्वाभाविक और अनैसर्गिक प्रक्रिया में अंग्रेज़ों के हाथों से भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता-हस्तान्तरण के जरिये आयी थी। **इसलिए भूमि क्रान्ति का प्रश्न अधूरा नहीं था, बल्कि उसे आंशिक तौर पर भी पूरा नहीं किया गया था।** कलायत की बहस में हमने यह बात साफ़ तौर पर स्पष्ट की थी कि अगर 1947 में भारत में भूमि का प्रश्न आंशिक तौर पर भी हल हुआ होता, अगर किसान आबादी का विभेदीकरण आंशिक तौर पर भी एक मुकाम तक पहुँचा होता; अगर एक एकीकृत घरेलू बाज़ार आंशिक तौर पर भी अस्तित्व में आया होता; अगर सामन्ती लगान आंशिक तौर पर भी समाप्त हुआ होता; और अगर अस्वतन्त्र श्रम की समाप्ति आंशिक तौर पर भी हुई होती; तो कुछ ख़ास परिस्थितियों में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानी जा सकती थी। लेनिन ने भी स्पष्ट किया था कि कुछ बेहद विशिष्ट विश्व ऐतिहासिक परिस्थितियों में रूसी मज़दूर वर्ग 1917 में ही सत्ता पर काबिज़ होने की स्थिति में पहुँचा; लेनिन ने दो विशिष्ट परिस्थितियों का ज़िक्र किया है जिसके बग़ैर लेनिन के ही अनुसार, रूसी क्रान्ति कुछ दशक बाद होती। ये दो कारण थेः प्रथम विश्वयुद्ध और दोहरी सत्ता का स्वतःस्फूर्त रूप से अस्तित्व में आना। इन दो परिस्थितियों या कहें कि पूर्वशर्तों के पूरा हुए बग़ैर रूसी क्रान्ति का चरित्र 1917 में समाजवादी होना मुश्किल था, और उस समय पार्टी का प्रमुख कार्य राज्यसत्ता को चकनाचूर करना नहीं बल्कि संगठित मज़दूर-किसान शक्ति द्वारा बुर्जुआ सत्ता पर बुर्जुआ सुधारों और जनवादी कार्यभारों को रैडिकल तरीके से पूरा करने का दबाव डालना होता। इस बाबत आगे हम लेनिन के कुछ उद्धरण पेश करेंगे। लेकिन सबसे पहले हम श्यामसुन्दर के समान अर्थहीन और असन्दर्भित उद्धरणबाज़ी करने की बजाय, श्यामसुन्दर की मूर्खता के मूल बिन्दुओं को प्रदर्शित करेंगे।

स्पष्ट है कि लेनिन अक्टूबर क्रान्ति के आकस्मिक चरित्र को समझ रहे थे और जानते थे कि समाजवादी क्रान्ति को बुर्जुआ क्रान्ति के कई अधूरे कार्यभारों को पूरा करना पड़ेगा। **वास्तव में, किसानों को 1917 की समाजवादी क्रान्ति के बाद सामूहिकीकरण पर सहमत नहीं किया गया था, जैसा कि श्यामसुन्दर समझते हैं।** भूमि के पूँजीवादी राष्ट्रीयकरण और भूमि के सामूहिकीकरण में फर्क कोई भी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी उसूल समझने वाला व्यक्ति जानता है। लेकिन हम अपने पिछले पेपर में भी कह चुके हैं कि श्यामसुन्दर को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों की भी कोई समझदारी नहीं है। इसलिए ताज्जुब की बात नहीं है कि वे भूमि के राष्ट्रीयकरण और पुनर्वितरण को सामूहिकीकरण समझ बैठे हैं। लेनिन ने स्पष्ट कहा था कि इतिहास ने एक विशिष्ट परिस्थिति में रूसी सर्वहारा वर्ग को वक्त से पहले इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आने के लिए मजबूर कर दिया है। ये बेहद अद्वितीय स्थितियाँ ऐसी हैं कि अगर सर्वहारा वर्ग और व्यापक ग़रीब किसान आबादी राज्यसत्ता

हासिल करने के लिए आगे नहीं बढ़ती, तो उसे इतिहास के रंगमंच से कई दशकों तक के लिए बाहर फेंक दिया जायेगा। इन अद्वितीय और बेहद विशिष्ट स्थितियों में रूसी क्रान्ति को कुछ समझौते करने पड़ेंगे और निम्न बुर्जुआ वर्ग को कुछ छूटें देनी पड़ेंगी। वास्तव में, अक्टूबर 1917 के बाद 1921 तक यह काम 'वार कम्युनिज़्म' और गृहयुद्ध की वजह से ठीक से नहीं किया जा सका, लेकिन इस दौर की समाप्ति के ठीक बाद ही 'नयी आर्थिक नीतियों' की शुरुआत की गयी। इसे लेनिन ने **'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने'** (स्ट्रैटेजिक रिट्रीट) की संज्ञा दी। **रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग** ने शुरुआत में लेनिन द्वारा भूमि के पुनर्वितरण की आलोचना की और कहा कि इन सुधारों के कारण रूसी मज़दूर वर्ग ने अपना एक भावी दुश्मन पैदा कर लिया है, लेकिन बाद में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने लिखा कि क्रान्तिकारी अपने द्वारा चुनी गयी परिस्थितियों में क्रान्ति नहीं करते, वे इतिहास द्वारा दी गयी परिस्थितियों में क्रान्ति करते हैं। रूसी क्रान्ति के सामने उस समय और कोई रास्ता नहीं था, और इसीलिए अधूरी बुर्जुआ भूमि क्रान्ति को पहले मुकाम तक पहुँचाया गया, क्योंकि उस समय किसानों के साथ वर्ग संश्रय बनाने की यही पूर्वशर्त थी। 1929 से पहले कुछ ही सामूहिक फार्मों की स्थापना हुई थी जो कि राज्य की भूमि पर खेतिहर भूमिहीन मज़दूरों को संगठित करके की गयी थी। 1929 से 1931 तक का दौर 'आपातकालीन कदमों' का दौर था जिसमें नई आर्थिक नीतियों (नेप) द्वारा पैदा हुए नये कुलकों जिन्हें 'नेपमैन' भी कहा गया था, से जबरन फसल वसूली की गयी, बाज़ार के बिचौलियों को समाप्त किया गया और फिर 1931 से 1935 तक खेती में सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को चलाया गया। अब श्यामसुन्दर यदि इतना भी नहीं जानते हैं कि 1917 में किसानों को सामूहिकीकरण पर नहीं राज़ी किया गया था, तो एक बार फिर वह आइंस्टीन के "असीम मानवीय मूर्खता" के सिद्धान्त की ही पुष्टि कर रहे हैं!

दूसरी भयंकर मूर्खता जो श्यामसुन्दर करते हैं उसे भी मूर्खता के क्षेत्र में एक मिसाल माना जा सकता है! यह मूर्खता है कुछ अजीबो-ग़रीब तुलनाओं और सादृश्य-निरूपणों में। मिसाल के तौर पर, उनका मानना है कि फरवरी, 1917 के रूस और अगस्त, 1947 के भारत में भूमि प्रश्न की स्थिति समान थी! उनका मानना है कि रूस में फरवरी, 1917 में बुर्जुआ वर्ग का सत्ता में आना और भारत में अगस्त, 1947 में बुर्जुआ वर्ग का सत्ता में आना एकसमान है! इन्हीं दो सादृश्य निरूपणों और तुलनाओं के आधार पर श्यामसुन्दर ने अपनी मूर्खता की विराट अट्टालिका खड़ी की है, जिसे अन्त में लेनिन के उद्धरणों से सजा दिया गया है! लेकिन इससे सिर्फ़ भ्रम पैदा होता है कि उनकी तर्कपद्धति के शरीर पर कुछ वस्त्र हैं, वास्तव में, उद्धरणों के आभूषणों को उतार दिया जाय तो श्यामसुन्दर की तर्कपद्धति सड़क पर निपट नंगी दौड़ पड़ती है। सबसे पहली बात–फरवरी, 1917 में, जब रूस में बुर्जुआ क्रान्ति हुई तो बुर्जुआ भूमि सुधारों के कार्यभार मुख्य तौर पर पूरे हो चुके थे, हालाँकि ये कार्यभार क्रान्तिकारी अमेरिकी पथ से नहीं बल्कि युंकर शैली के प्रशियाई पथ से पूरे हुए थे। लेनिन ने 1899 में **'रूस में पूँजीवाद का विकास'** नामक अपनी रचना में ही बता दिया था कि पूँजीवादी विकास के बुनियादी पैमाने हैं: (1) सामन्ती भू-लगान का ख़ात्मा, (2) भूदासत्व का ख़ात्मा, (3) एक एकीकृत राष्ट्रीय बाज़ार का अस्तित्व में आना, (4) बाज़ार के लिए उत्पादन, न कि उपभोग के लिए, (5) किसान आबादी का विभेदीकरण। इन सभी पैमानों पर रूस में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास 1899 में ही मुख्य तौर पर हो चुका था। यही कारण था कि 1907 में प्रकाशित रचना **'पहली रूसी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद का कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम'** में लेनिन ने लिखा कि भावी समाजवादी क्रान्ति में रूसी पार्टी का नारा भूमि का पुनर्वितरण नहीं होना चाहिए, बल्कि भूमि का समाजवादी राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। जाहिर है कि इस समय लेनिन यह मानकर चल रहे थे कि रूसी क्रान्ति सामान्य और नैसर्गिक परिस्थितियों में सम्पन्न होगी और तब तक प्रशियाई पथ से किये गये भूमि सुधारों से पैदा हुआ कृषि पूँजीवाद सुदृढ़ और स्थिरीकृत हो चुका होगा; लेकिन ऐसा नहीं हुआ और किसी के भी, यहाँ तक कि स्वयं लेनिन के आकलनों से पहले, रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थिति दो विशिष्ट कारणों से पैदा हो गयी जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर आये हैं। फरवरी 1917 के बाद लेनिन **अप्रैल**

थीसिस में समाजवादी क्रान्ति और मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों द्वारा राज्यसत्ता पर कब्ज़े की हिमायत करने के लिए दो विशिष्ट कारणों का ज़िक्र करते हैं, जो अगस्त 1947 के भारत में अनुपस्थित थे।

उपरोक्त उद्धृत जिन पैमानों के आधार पर लेनिन ने रूस में पूँजीवाद के विकास को प्रदर्शित किया था, उस आधार पर अगस्त, 1947 में भारत की स्थिति का श्यामसुन्दर को अध्ययन करना चाहिए। फरवरी 1917 के पहले ही रूस में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख उत्पादन सम्बन्ध बन चुके थे। केवल राज्यसत्ता ज़ारशाही की रह गयी थी, जबकि बुनियादी धरातलों पर भी स्थानीय स्वशासन निकायों पर बुर्जुआ वर्ग का कब्ज़ा हो चुका था। केवल राज्यसत्ता पिछड़ी सामन्ती रह गयी थी और उसमें भी सामन्त वर्ग को बुर्जुआ वर्ग को हिस्सेदारी देनी पड़ी थी, जो कि 1860 के दशक से ही लगातार बढ़ रही थी। वरना क्या फरवरी 1917 से अक्टूबर 1917 तक पूँजीवाद का विकास हो गया, जो समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ गयी? लेनिन इसके बारे में बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका मानना था कि पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार रूसी समाजवादी क्रान्ति की एक मजबूरी है, एक छूट जो कि मज़दूर वर्ग को मजबूरन किसानों को देनी ही पड़ेगी, क्योंकि उसके बिना मज़दूर-किसान संश्रय (जिसे लेनिन *स्मिच्का* कहा करते थे) कायम नहीं हो सकता था, और साम्राज्यवादी युद्ध की स्थिति में और एक दोहरी सत्ता के पैदा होने की विशिष्ट स्थिति में तत्काल सत्ता पर मज़दूर वर्ग की पार्टी का कब्ज़ा न होना पीछे की ओर एक कदम होता, और इससे सर्वहारा वर्ग के हाथ से राजनीतिक पहल लम्बे समय के लिए छिन जाती। इसलिए अगर तात्कालिक तौर पर कुछ समझौते भी करने पड़ते हैं तो किये जायें, लेकिन राज्यसत्ता पर कब्ज़ा एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। लेकिन यह सब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ, जिसके बारे में श्यामसुन्दर ने कोटेशन नहीं छाँटे! वे उद्धरण हम आगे पेश करेंगे। मूल बात यह है कि फरवरी 1917 की बुर्जुआ क्रान्ति के पहले ही रूस में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का विकास हो चुका था, जबकि 1947 के भारत में ऐसा नहीं हुआ था, जिसके आँकड़े और इतिहासकारों के अध्ययन हम आगे उद्धृत करेंगे; दूसरी बात, फरवरी 1917 की क्रान्ति में मज़दूरों-किसानों ने अहम भूमिका निभायी थी लेकिन वर्ग सचेत नेतृत्व और संगठन के अभाव में जनता की जनवादी क्रान्ति न हो सकी और एक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति हुई। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में पेत्रोग्राद सोवियत अस्तित्व में आयी जो कि एक समानान्तर सरकार का काम करने लगी; इसमें मज़दूर वर्ग और सैनिकों (जिन्हें लेनिन 'वर्दी में किसान' कहा करते थे) की प्रमुखता थी; पेत्रोग्राद में पुलिस व सशस्त्र बल भंग हो गये थे, जिसका कारण था रोटी, शान्ति और ज़मीन के लिए जनता द्वारा किया जा रहा आन्दोलन। **इस सोवियत की समानान्तर सत्ता वास्तव में 'मज़दूर व किसान वर्ग की जनवादी तानाशाही' का प्रतिनिधित्व कर रही थी और लेनिन ने कहा कि यही कारण है कि राज्य का प्रश्न हल माना जाना चाहिए, और पूँजीवादी सम्बन्ध तो पहले ही स्थापित हो चुके थे। समानान्तर सत्ता के स्थापित होने को लेनिन समाजवादी क्रान्ति की अवस्था में प्रवेश का कारण मानते थे।** इसके बारे में उद्धरण आगे दिये जाएँगे। लेकिन अगस्त, 1947 के भारत में न तो ऐसी कोई समानान्तर सत्ता थी, न ही कोई मंझी हुई कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व, और न ही साम्राज्यवादी विश्व युद्ध की स्थिति जिसे कि क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में तब्दील किया जा सकता था। श्यामसुन्दर बिना इन बुनियादी फर्कों पर ग़ौर किये अगस्त 1947 में ही समाजवादी क्रान्ति कर डालने के अपने राजनीतिक पूर्वजों (त्रात्स्कीपंथियों और एस.यू.सी.आई.) के मज़ाकिया सिद्धान्त को सही साबित करने के लिए उद्धरणबाज़ी कर रहे हैं। इस मज़ाकिया सिद्धान्त को लेनिन के सैंकड़ों उद्धरणों से चारों खाने चित किया जा सकता है। हम उद्धरण पेश करेंगे, लेकिन उद्धरणबाज़ी से पहले मार्क्सवादी अपने देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करता है।

भारत में भूमि क्रान्ति का प्रश्न आंशिक तौर पर भी हल नहीं हुआ था; प्रशियाई पथ से भी भूमि सुधार अभी भारत में शुरू तक नहीं हुए थे; 1951 में ज़मींदारी उन्मूलन कानून आने के साथ यह प्रक्रिया शुरू हुई और 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक जारी रही। रूस में इसके विपरीत, प्रशियाई पथ से भूमि सुधारों का कार्य फरवरी 1917 के पहले ही पूरा हो चुका था; लेनिन ने बताया था कि प्रशियाई पथ से भूमि सुधार होने पर कई सामन्ती अवशेष बचे रह जाते हैं, जिन्हें समाजवादी क्रान्ति पूरा करती है।

लेकिन कम-से-कम प्रशियाई पथ से भूमि सुधार होना इसकी पूर्वशर्त है और केवल तभी समाजवादी क्रान्ति अधूरी जनवादी और भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा कर सकती है! **जब ये कार्यभार आंशिक तौर पर भी पूरे न हुए हों, जब उत्पादन सम्बन्ध प्रमुख तौर पर सामन्ती बने हुए हों, तो ऐसे में अगर किसी सत्ता हस्तान्तरण की प्रक्रिया के जरिये बुर्जुआ वर्ग भी सत्ता में आ जाये, तो कम्युनिस्ट आन्दोलन का पहला कार्यभार होगा कि वह मज़दूर और किसान आन्दोलन के जरिये उस सत्ता पर क्रान्तिकारी दबाव निर्मित करे कि वह इन कार्यभारों को अधिक से अधिक रैडिकल तरीके से पूरा करे; ऐसे में, बुर्जुआ सत्ता या तो रैडिकल तरीके से इन कार्यभारों को अंजाम देगी और या फिर उसके अंजाम न देने की सूरत में मज़दूर-किसान आन्दोलन राजनीतिक तौर पर पार्टी के नेतृत्व में उस अवस्था तक पहुँचेगा कि जनता की जनवादी क्रान्ति करे।** लेनिन ने भी इसी बात की ताईद की है और इस बाबत हम लेनिन का उद्धरण आगे रखेंगे। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन ऐसा कोई दबाव निर्मित करने में असफल रहा।

तीसरी बात, फरवरी क्रान्ति एक क्रान्ति थी; क्रान्ति राज्यसत्ता का प्रश्न हल करती है; क्रान्ति वर्ग संघर्षों के उन्नत होने की एक ख़ास मंज़िल में ही हो सकती है; वर्ग संघर्ष उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच संघर्ष की राजनीतिक अभिव्यक्ति होता है, जिसमें क्रान्तिकारी वर्ग उन्नत उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है और शासक वर्ग पिछड़े उत्पादन सम्बन्धों का; शासक वर्ग द्वारा शासित वर्गों के दमन का उपकरण है राज्यसत्ता। यह बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्त है जिसे रटते-रटते श्यामसुन्दर इसका अर्थ भूल गये हैं। या तो उन्हें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि अगस्त 1947 के पहले भारतीय सामाजिक संरचना में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभावी हो चुके थे, या फिर उन्हें बताना पड़ेगा कि अगस्त 1947 से पहले भारत की मेहनतकश जनता पर किसका शासन था? इस सवाल को श्यामसुन्दर गोल कर जाते हैं। 1947 के पहले भारत में औपनिवेशिक सत्ता और सामन्ती भूस्वामी वर्ग के गठजोड़ का शासन था। आज हर विचारधारात्मक शेड के मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच यह एक स्थापित तथ्य है कि औपनिवेशिक सत्ता का सबसे मज़बूत स्तम्भ सामन्त, ज़मींदार और राजे-रजवाड़े थे। अगस्त 1947 के ठीक पहले तक यही स्थिति थी; भारतीय पूँजीपति वर्ग अपने जन्म से ही समझौतापरस्त रहा था, और साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध रखने और राजनीतिक स्वतन्त्रता की चाहत रखने के बावजूद वह भारतीय जनता को साथ लेकर उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ फैसलाकुन संघर्ष करने से डरता था क्योंकि उसे लगता था कि एक बार यदि जनता की राजनीतिक पहलकदमी खुल गयी तो वह बुर्जुआ क्रान्ति तक रुकेगी नहीं। ऐसे में, कांग्रेस के राजनीतिक नेतृत्व ने अंग्रेज़ों के साथ समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति पर संघर्ष किया। अंग्रेज़ साम्राज्यवादी इस बात को समझते थे कि सामन्त और ज़मीन्दार वर्ग भारत में सत्ता सम्भालने की स्थिति में नहीं हैं और आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश आर्थिक हितों की सुरक्षा पूँजीपति वर्ग के शासन में ज़्यादा बेहतर तरीके से हो पायेगी, क्योंकि भारतीय पूँजीपति वर्ग भारत में पूँजीवादी विकास के लिए पश्चिमी पूँजी और तकनोलॉजी पर निर्भर होने के लिए मजबूर होगा। ऐसे में, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने जाते समय सत्ता भारत के पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि कांग्रेस के हवाले की। भारत का पूँजीपति वर्ग उपनिवेशवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी जनान्दोलन के जरिये सत्ता में नहीं आया था। फरवरी, 1917 के रूस की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। वहाँ युद्ध की परिस्थितियों में मज़दूर-किसान आन्दोलन ने ज़ारशाही की चूलें हिला दी थीं, और ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यवादियों की मदद से दिसम्बरवादियों और कैडेटों के बुर्जुआ गठजोड़ ने बुर्जुआ आरज़ी सरकार की स्थापना की और संविधान सभा बुलाने का वायदा किया। **अगस्त, 1947 कोई क्रान्ति नहीं थी।** हम फिर से दुहरा दें कि यह एक अस्वाभाविक स्थितियों में हुआ सत्ता हस्तान्तरण था, जब अंग्रेज़ भी समझ रहे थे कि अगर वे तत्काल कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित करके नहीं गये, तो भारत में जनविद्रोह किसी ऐसी जनता की जनवादी क्रान्ति की तरफ़ जा सकता है जो उसके साम्राज्यवादी आर्थिक हितों के लिए अनुकूल न हो। ग़ौरतलब है, कि यही समय था जब तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा वायलार के संघर्ष और नौसेना व वायुसेना में विद्रोह जारी थे। इन सभी फर्कों को नज़रअन्दाज़ करके लेनिन के उद्धरण छाँटकर श्यामसुन्दर जो साबित करना चाहते हैं, वह अन्त में एक हास्यास्पद प्रयास बन गया है।

लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त को समझाने के लिए श्यामसुन्दर द्वारा कई चरणों में की गयी मूर्खताएँ

श्यामसुन्दर ने लेनिन के दो चरणों में क्रान्ति के सिद्धान्त की अपनी एक दिलचस्प व्याख्या की है। श्यामसुन्दर लिखते हैं कि फरवरी 1917 में सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में चली गयी और मज़दूरों-किसानों की सोवियत ने ऐसा होने दिया। अगर वह ऐसा नहीं होने देती और फरवरी 1917 में ही मज़दूरों और किसानों की सोवियत सत्ता अपने हाथ में ले लेती (यदि वह पर्याप्त रूप से वर्ग सचेत होती और उसके पास एक दक्ष नेतृत्व होता) तो वह कैसी क्रान्ति होती? निश्चित तौर पर एक जनता की जनवादी क्रान्ति, न कि समाजवादी क्रान्ति, जैसा कि त्रात्स्की का मत था। त्रात्स्की का मानना था कि ज़ारशाही के ख़िलाफ़ सीधे समाजवादी क्रान्ति कर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम किया जाना चाहिए। लेकिन श्यामसुन्दर इस बात को समझ नहीं सके हैं। फरवरी क्रान्ति हर सूरत में जनवादी क्रान्ति ही होती: या तो बुर्जुआ जनवादी और या फिर जनता की जनवादी क्रान्ति। और इसके बाद तत्काल समाजवाद में प्रवेश सिर्फ़ और सिर्फ़ इसलिए सम्भव था क्योंकि रूस में मुख्य तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पहले ही कायम हो चुके थे। साम्राज्यवादी युद्ध और समानान्तर सत्ता के अस्तित्व में आने की अभूतपूर्व और अद्वितीय स्थिति में बुर्जुआ सत्ता का पदच्युत कर दी गयी सामन्ती शक्तियों से समझौते करना स्वाभाविक था। लेकिन इस चीज़ को रोकने के लिए लेनिन ने उस समय सीधे समाजवादी क्रान्ति और राज्य पर कब्ज़े का नारा नहीं दिया, बल्कि आह्वान किया कि पेत्रोग्राद सोवियत को क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित कर हर प्रतिक्रियावादी कदम को रोकना चाहिए, जैसे कि राजतन्त्र का निकोलस द्वितीय के भाई को रीजेण्ट बनाकर आंशिक पुनर्स्थापना, पुलिस बल की पुनर्स्थापना और सोवियतों का निरस्त्रीकरण किये जाने के प्रयास। और सोवियत ने यही किया। बुर्जुआ सत्ता के सामन्तों से समझौतापरस्ती के समक्ष लेनिन ने क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करने का आह्वान किया न कि तत्काल आम बग़ावत कर समाजवादी क्रान्ति करने का। हमसे श्यामसुन्दर पूछते हैं कि जब अगस्त 1947 में सत्ता में आने के बाद नवसत्तासीन बुर्जुआ वर्ग सामन्ती शक्तियों के साथ समझौतापरस्ती की नीतियाँ अपना रहा था और रैडिकल भूमि सुधार नहीं कर रहा था, तो हम क्या नारा देते? हम वही नारा देते जो अक्टूबर क्रान्ति की तात्कालिक स्थितियाँ पैदा होने के पहले लेनिन ने दिया था: बुर्जुआ सत्ता पर रैडिकल तरीके से जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के वायदों पर अमल के लिए क्रान्तिकारी जनान्दोलनों का दबाव बनाना, क्योंकि तब तक समाजवादी क्रान्ति के लिए स्थितियाँ पकी नहीं थीं। लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"चखीज़े की ढुलमुल नीतियों के बारे में मैंने कल जो निष्कर्ष निकाला था उसकी पुष्टि आज 10 मार्च (23 मार्च) को दो दस्तावेज़ों से पूर्ण रूप से हो गयी है। पहला दस्तावेज़–फ्रैंकफर्ट जीतुंग में स्टॉकहोम से तार द्वारा भेजी गयी एक रिपोर्ट जिसमें सेण्ट पीटर्सबर्ग में हमारी पार्टी रूसी सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी की केन्द्रीय समिति के घोषणापत्र से लिये गये उद्धरण प्रकाशित किये गये हैं। इस दस्तावेज़ में गुचकोव की सरकार का समर्थन करने या उसे उलट देने के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। ज़ारशाही के विरुद्ध गणतन्त्र की स्थापना के लिए, आठ घण्टे के दिन, सामन्ती जागीरों और अनाज के जखीरों को ज़ब्त करने तथा मुख्य रूप से लुटेरे युद्ध का अन्त करने के लिए मज़दूरों और सैनिकों का आह्वान किया गया है कि वे मज़दूर-प्रतिनिधियों की सोवियतों के इर्द-गिर्द संगठित हों और उसके लिए अपने प्रतिनिधि चुनें। इस सिलसिले में हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति का यह बिल्कुल सही विचार विशेष रूप से महत्वपूर्ण और अति-आवश्यक है कि शान्ति की स्थापना करने के लिए युद्धरत सभी देशों के मज़दूरों के बीच सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए।" *(सुदूर से तीसरा पत्र, सर्वहारा मिलिशिया के बारे में)*

जैसा कि आप देख सकते हैं, लेनिन यहाँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। **यदि बुर्जुआज़ी सामन्ती शक्तियों के साथ जनता के डर से समझौते कर रही है, और जनता अभी समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार नहीं है तो जब तक कि उसे समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार किया जाय, तब तक बुर्जुआ सत्ता पर क्रान्तिकारी जनदबाव बनाया जाना चाहिए, और इसीलिए तब तक न तो बुर्जुआ सत्ता का समर्थन किया जाना चाहिए और न ही उसे उखाड़ फेंकने और समाजवादी क्रान्ति करने का आह्वान करना चाहिए।** तब तक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफाज़त करने और जो हासिल नहीं हुआ है या अधूरा है उसे पूरा करने के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित किया जाना चाहिए। इसी बात को लेनिन अपने इसी तीसरे पत्र में और स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि फरवरी क्रान्ति में ज़ारशाही के उन्मूलन के पहले ही रूसी बुर्जुआ वर्ग वास्तव में सत्ता में आने लगा था, पूँजीवादी सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और ज़ारशाही का उन्मूलन एक औपचारिकता थी, जो कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में बेहद तेज़ गति से पूरी हो गयी। लेकिन जब तक कि सर्वहारा संगठन समाजवादी क्रान्ति के करने की स्थिति में नहीं है, तब तक सोवियतों को जनवादी क्रान्ति को ही मुकम्मिल बनाने के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करना चाहिए। यहाँ यह बात ग़ौर करने लायक है कि भारत में ऐसी भी स्थिति नहीं थी, क्योंकि अगस्त 1947 के पहले न तो बुर्जुआजी वास्तव में सत्ता में आ चुकी थी, और न ही पूँजीवादी सम्बन्धों को स्थापित करने की प्रक्रिया आंशिक तौर पर भी पूरी हुई थी। लेनिन के इस लम्बे उद्धरण पर ग़ौर करें:

"वर्तमान परिस्थिति की विशेषता यह है कि गुचकोव-मिल्युकोव की सरकार ने असाधारण सरलता से जो पहली विजय प्राप्त की उसके निम्नलिखित तीन प्रमुख कारण थे: (1) ब्रिटिश-फ्रांसीसी वित्तीय पूँजी और उसके दलालों की सहायता। (2) सेना के उच्च स्तरों के एक भाग की सहायता। (3) रूस के पूरे पूँजीवादी वर्ग के ज़ेम्स्त्वो और शहरी स्थानीय सरकारी संस्थाएँ, राजकीय दूमा, युद्ध उद्योग समितियाँ वगैरह-वगैरह के रूप में पहले से मौजूद संगठन।

"गुचकोव की सरकार एक चक्कर में फँस गयी है। पूँजी के हितों से बंधी होने के कारण वह लूटमार के युद्ध के प्रयास को जारी रखने, पूँजीपतियों और ज़मींदारों के विशाल मुनाफ़ों की रक्षा करने तथा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना करने के लिए मजबूर है। अपने क्रान्तिकारी उद्गम से तथा ज़ारशाही से लोकतन्त्र में अचानक परिवर्तन की आवश्यकता से बंधे होने के कारण, रोटी और शान्ति के लिए भूखी जनता के दबाव से सरकार झूठ बोलने, बातें बनाने, समय की माँग करने, "घोषणाएँ करने" और अधिक से अधिक वायदा करने (वायदे ही ऐसी चीज़ हैं जो बेतहाशा महँगाई के दौर में भी बहुत सस्ते हैं) तथा कम से कम अमल करने, एक हाथ से रियायतें देने तथा दूसरे हाथ से उन्हें वापस लेने के लिए मजबूर है।

"नयी सरकार किन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत, अधिक से अधिक अपने पतन को किसी हद तक, रूस के पूरे पूँजीवादी वर्ग तथा पूँजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग की सम्पूर्ण सांगठनिक योग्यता का सहारा लेकर, स्थगित कर सकती है। लेकिन उस हालत में भी वह अपने पतन को टाल नहीं सकती क्योंकि विश्व-पूँजीवाद से पोषित साम्राज्यवादी युद्ध के भयानक दानव और अकाल के पंजों से छुटकारा पाना तब तक असम्भव है जब तक कि पूँजीवादी सम्बन्धों को तिलांजलि न दे दी जाय, क्रान्तिकारी कदम न उठाये जायें तथा रूसी और विश्व के सर्वहारा वर्ग की सर्वोच्च ऐतिहासिक वीरता का आह्वान न किया जाय।

"अत: निष्कर्ष निकलता है कि: हम नयी सरकार को एक ही झटके में उलट नहीं सकते या अगर हम ऐसा कर भी सकते हैं (क्रान्तिकारी घड़ियों में जो सम्भव है, उसकी सीमाएँ हज़ार गुना बढ़ जाती हैं) तो हम सत्ता को उस समय तक सम्भाल नहीं सकते जब तक कि रूस के सम्पूर्ण पूँजीपतियों और पूरे पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के शानदार संगठन के

मुकाबले सर्वहारा वर्ग उसी प्रकार का शानदार संगठन नहीं खड़ा कर लेते जो शहर और देहात के ग़रीबों, अर्द्धसर्वहाराओं तथा छोटे मालिकों के व्यापक जनसमुदायों का नेतृत्व करने में सक्षम हो।

"इस बहस में पड़े बग़ैर कि सेण्ट पीटर्सबर्ग में "दूसरी क्रान्ति" शुरू हो गयी है या नहीं (मैंने कहा है कि यह सोचना बिल्कुल बेकार है कि विदेश से यह जायज़ा लेना सम्भव है कि क्रान्ति किस रफ्तार से परिपक्व हो रही है)–या वह कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गयी है, या वह किन्हीं अलग-अलग क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गयी है (जिसके कुछ लक्षण दिखायी दे रहे हैं)–हर हालत में, नयी क्रान्ति की पूर्ववेला में, उसके घटित होने के समय में, और उसके बाद में हमारा आज का नारा होना चाहिए: सर्वहारा वर्ग का संगठन खड़ा करो!" *(सुदूर से तीसरा पत्र)*

अन्यत्र लेनिन यह दिखलाते हैं कि जब तक कि समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ तैयार नहीं होतीं, तब तक किस प्रकार सर्वहारा वर्ग व्यापक ग़रीब किसान आबादी के साथ मिलकर बुर्जुआ सरकार पर इस बात के लिए क्रान्तिकारी जनदबाव निर्मित करता है कि वह जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों को सामन्तों के हाथों नीलाम न करे और बचे-खुचे कार्यभारों को रैडिकल तरीके से पूरा करे (एक बार फिर श्यामसुन्दर की इस बात के जवाब में कि हमारे अनुसार 1947 से जनवादी कार्यभारों के मुख्य रूप में पूरा होने तक एक सही कम्युनिस्ट पार्टी का क्या कार्यभार होना चाहिए था, क्योंकि उनके अनुसार हर दौर ही क्रान्तिकारी परिस्थिति होता है और हर वक्त यह बात होनी चाहिए कि क्रान्ति की रणनीति क्या है; इसका भी कारण यह है कि वह समझते हैं क्रान्ति की रणनीति का अर्थ हमेशा राज्यसत्ता पर तत्काल कब्ज़े के सवाल को हल करना है, और इसके लिए वे हिन्दी व्याकरण का पाठ पढ़ाते हुए 'रणनीति' शब्द का सन्धि-विच्छेद करते हैं! निश्चित तौर पर, श्यामसुन्दर म्युनिसपैलिटी के स्कूल में हिन्दी व्याकरण के मास्टरजी की भूमिका अच्छी तरह से निभा सकते हैं, लेकिन अफसोस की वह दार्शनिक बनने का प्रयास कर रहे हैं!) लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"स्वतन्त्रता का वायदा करते हुए, नयी सरकार वास्तव में ज़ार के परिवार, यानी कि राजवंश, से बातचीत कर रही है ताकि राजतन्त्र को पुनर्स्थापित किया जा सके। उसने मिखाईल रोमानोव को रीजेण्ट बनने के लिए आमन्त्रित किया है, जिसका अर्थ होगा, अस्थायी ज़ार। रूस में ज़ारशाही पुनर्स्थापित कर दी गयी होती, बशर्ते कि गुचकोव और मिल्युकोव को मज़दूरों ने रोका न होता जिन्होंने अपने झण्डों पर इन नारों के साथ सेण्ट पीटर्सबर्ग की सड़कों पर जुलूस निकाला: "ज़मीन और आज़ादी! अत्याचारियों को मृत्युदण्ड!"–जिन्होंने, घुड़सवार सैनिक रेजिमेण्टों के साथ दूमा के समक्ष चौक पर इकट्ठा होकर इन नारों के साथ अपने झण्डे लहराये: "सभी देशों के समाजवादी गणराज्य ज़िन्दाबाद!" गुचकोवों-मिल्युकोवों के मित्र मिखाइल रोमानोव के यह समझ में आ गया कि इसी समय, यानी कि संविधान सभा द्वारा राजगद्दी पर चुनाव के ज़रिये बिठा दिये जाने के पहले ही, इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने देने में ही समझदारी है, और रूस–अस्थायी तौर पर–एक गणराज्य बना रहा।

"सरकार ने भूतपूर्व ज़ार को उसकी स्वतन्त्रता से मरहूम नहीं किया। तो मज़दूरों ने उसे गिरफ्तार करने के लिए उसे बाध्य कर दिया। सरकार चाहती थी कि सेना की कमान निकोलाई निकोलायेविच रोमानोव को सौंप दी जाये। तो मज़दूरों ने उसे हटा दिये जाने के लिए सरकार को बाध्य कर दिया। जाहिर है, कि अगर मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियत न होती, तो ज़मींदार, लवोव-गुचकोव जैसे लोग, रोमानोव या किसी अन्य ज़मींदार के साथ समझौता कर लेते।" *(रूस में क्रान्ति और सभी देशों के मज़दूरों के कार्यभार, 12 (25) मार्च, 1917 को लिखित)*

इससे ज़्यादा स्पष्ट नहीं हुआ जा सकता है। श्यामसुन्दर ने कोटेशन छाँटने में दो महीने लगाने के बावजूद ठीक से कोटेशन नहीं छाँटे हैं। बहरहाल, "असीम मानवीय मूर्खता" के सूत्रीकरण पर अमल करने वाले व्यक्ति से ऐसी उम्मीद करना भी व्यर्थ है। अब देखिये कि श्यामसुन्दर की यह बात कितनी हास्यास्पद है: "रूस में जब सत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथ में आई तो न तो भूमि-प्रश्न हल हुआ था (ग़लत! अधूरा था। - लेखक), न ही पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति उसके अंजाम तक पहुँची, तो भी लेनिन ने लाल तारावादियों की भाँति बोल्शेविकों को यह कार्यक्रम नहीं दिया कि पूँजीपति वर्ग की सरकार के ख़िलाफ़ दबाव बनाओ तथा भूमि प्रश्न हल कराओ, जनवादी क्रान्ति को पूरा कराओ और तब कहीं जाकर पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ समाजवादी क्रान्ति का नारा देने की स्थिति तैयार होगी।" अब आप ही बताइये कि अगर कलायत बहस में और उसके पहले भी हमारे संगठन के एक कॉमरेड द्वारा श्यामसुन्दर को कहा गया कि वह मार्क्सवाद का ठीक से अध्ययन करें, तो क्या ग़लत कहा गया? और अब तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि मार्क्सवाद का ठीक से अध्ययन करो, क्योंकि यह महोदय तो मार्क्सवाद को पढ़कर भी समझ नहीं पाते हैं।

मूर्खता की अगली सीढ़ी पर श्यामसुन्दर का सुन्दर पदार्पण

इसके बाद श्यामसुन्दर मूर्खता की कुतुबमीनार के शिखर पर पहुँचने के लिए एक और सीढ़ी चढ़ते हैं। वह कहते हैं कि हमें इस बात की समझ नहीं है कि क्रान्तिकारी युग का पूँजीपति वर्ग और प्रतिक्रियावादी दौर का पूँजीपति वर्ग अलग होता है। वह बताते हैं कि साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग जनवादी कार्यभारों को पूरा कर ही नहीं सकता इसलिए जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं रह जाती और इसलिए सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति को ही समाजवादी क्रान्ति तक पहुँचा देता है। श्यामसुन्दर ने यहाँ पर जो राजनीतिक द्रविड़ प्राणायाम किया है उसके साथ कुछ गम्भीर दिक्कतें हैं। पहली बात, जो सिद्धान्त श्यामसुन्दर जबरन लेनिन पर मढ़ना चाहते हैं, वह त्रात्स्की का **अबाधित क्रान्ति (अनइण्टरप्टेड रिवोल्यूशन)** का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार हर स्थिति में आज के दौर में जनवादी क्रान्ति (चाहे वह स्वयं सर्वहारा वर्ग सम्पन्न करे या बुर्जुआ वर्ग) बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक पहुँच जायेगी। त्रात्स्की के अबाधित क्रान्ति के वामपंथी बचकाने सिद्धान्त को श्यामसुन्दर ने लेनिन के जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों में साम्राज्यवाद के दौर में कोई कृत्रिम अभेद्य दीवार न होने के सिद्धान्त के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। लेनिन ने इस बात का कोई सामान्यीकरण नहीं किया है कि हर स्थिति में साम्राज्यवाद के दौर में ऐसा ही होगा। रूसी क्रान्ति में ऐसा होने के कुछ विशिष्ट कारण थे: (1) रूस में पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था और सम्बन्ध पहले ही विकसित हो चुके थे, और फरवरी क्रान्ति ने राज्यसत्ता के सवाल को हल करने की औपचारिकता निभा दी, (2) प्रथम विश्वयुद्ध ने रोटी और शान्ति के सवाल को जनता का ध्रुवीकरण और क्रान्तिकारी रूपान्तरण करने वाला निर्णायक प्रश्न बना दिया और बुर्जुआ शासक वर्ग के लिए एक संकट पैदा कर दिया जो कि युद्ध के दौर में इन सवालों को हल नहीं कर सकता था, (3) इसी के फलस्वरूप मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों का अस्तित्व में आना जो कि मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व करती थी, और मुख्य तौर पर बुर्जुआ वर्ग के हाथ में सत्ता आने से नहीं बल्कि सोवियतों के अस्तित्व में आने से राज्यसत्ता का प्रश्न हल हुआ। इन विशिष्ट कारणों के चलते रूस में जनवादी क्रान्ति ही बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक पहुँच गयी। लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"लेकिन, इस मुद्दे पर हम उन लोगों को विरोध में शोर मचाते सुनते हैं जो अपने को सहर्ष "पुराना बोल्शेविक" कहते हैं। वे कहते हैं कि क्या हमने हमेशा यह नहीं माना था कि पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति केवल मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व द्वारा ही पूरी होती है? क्या कृषि क्रान्ति, जो पूँजीवादी जनवादी

क्रान्ति ही है, पूरी हो गयी है? क्या इसके विपरीत यह तथ्य नहीं है कि वह अभी शुरू भी नहीं हुई है? (यहाँ भूमि क्रान्ति से लेनिन का अर्थ पुनर्वितरणकारी भूमि सुधारों (रीडिस्ट्रीब्यूटिव लैण्ड रिफॉर्म) से है-लेखक)

"मेरा उत्तर है: इतिहास ने बोल्शेविकों के नारों और विचारों की कुल मिलाकर पुष्टि कर दी है। लेकिन ठोस रूप में घटनाएँ दूसरे ढंग से घटित हुई हैं। वे किसी की भी आशा के विपरीत अधिक मौलिक, अधिक विचित्र और अधिक विविधतापूर्ण हैं।

"इस तथ्य को भूलने या नज़रअन्दाज़ करने का अर्थ होगा कि हम उन "पुराने बोल्शेविकों" का अनुसरण करने लगेंगे जिन्होंने नयी और सजीव वास्तविकता के विशेष लक्षणों का अध्ययन करने की बजाय रटे-रटाये सूत्रों को निरर्थक ढंग से दुहराते हुए हमारी पार्टी के इतिहास में अनेक बार अत्यन्त अफसोसनाक भूमिका अदा की है।

"रूसी क्रान्ति में, "मज़दूरों-किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व" एक वास्तविकता बन चुका है, क्योंकि इस सूत्र में केवल वर्गों के सम्बन्ध की परिकल्पना की गयी है, न कि इस सम्बन्ध, इस सहयोग को कार्यान्वित करने वाले एक ठोस राजनीतिक संस्था की। "मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतों" के रूप में, "मज़दूरों और किसानों का क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व" वास्तविक रूप ग्रहण कर चुका है।" *(पहला पत्र, वर्तमान परिस्थिति का मूल्यांकन, 'कार्यनीति के बारे में पत्र' से, 8 से 13 (21 से 26) अप्रैल 1917 के बीच लिखित)*

ज़रा ग़ौर कीजिये कि लेनिन यहाँ क्या स्पष्ट कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार रूस में राजसत्ता का प्रश्न इसलिए हल नहीं माना जा सकता कि गुचकोव-मिल्युकोव के नेतृत्व में एक बुर्जुआ सरकार की स्थापना हो गयी। उसे इसलिए पूरा माना जायेगा कि रूस में दोहरी सत्ता का एक ढाँचा पैदा हुआ और मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही अस्तित्व में आ चुकी थी। रूस निश्चित रूप से और सटीक तौर पर इसलिए जनवादी क्रान्ति से बिना रुके समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में जा सकता था क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न गुचकोव-मिल्युकोव की आरज़ी बुर्जुआ सरकार के ज़रिये नहीं, बल्कि मज़दूरों-किसानों की सोवियत के रूप में हल हुआ था। सम्भवत:, अब श्यामसुन्दर की कठदलीली पाठकों के सामने स्पष्ट हो रही होगी। जिस प्रकार रूस में महज़ बुर्जुआ वर्ग के सत्ता में काबिज होने के कारण ही समाजवादी क्रान्ति का नारा तत्काल नहीं दिया जा सकता था (और उसे तत्काल सिर्फ़ इसलिए दिया जा सका क्योंकि मज़दूर-किसान सोवियतों के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही साकार हुई और राज्यसत्ता का प्रश्न पूरी तरह हल हुआ, जैसा कि लेनिन ने ऊपर स्पष्ट किया है), उसी प्रकार, भारत में भी महज़ पूँजीपति वर्ग के सत्ता में आ जाने (वह भी वर्ग संघर्ष के चरमबिन्दु पर पहुँचने और क्रान्ति होने के जरिये नहीं बल्कि एक, हम फिर से कहेंगे, अस्वाभाविक, अनैसर्गिक सत्ता हस्तान्तरण के ज़रिये!) से तत्काल समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल तय नहीं हो जाती। तो एक बात तो हमने पहले ही स्पष्ट की है कि अगस्त, 1947 के भारत के विपरीत रूस में फरवरी, 1917 के पहले ही मुख्य तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और एक पिछड़ी हुई राज्यसत्ता की जगह बुर्जुआ राज्यसत्ता की स्थापना एक औपचारिकता थी, जो कि लेनिन के अनुसार विश्वयुद्ध और मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों के कारण 8 सप्ताह के छोटे से कालखण्ड में सम्पन्न हो गयी, और इसीलिए फरवरी 1917 की क्रान्ति के बाद समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के लिए रूसी पार्टी को अधिक इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं थी। इतना समझाने के बावजूद श्यामसुन्दर के दिमाग़ की छकड़ा-गाड़ी राज्यसत्ता के सवाल पर अटक जाती है! तो इसके लिए हम उन्हें कहेंगे कि लेनिन का उपरोक्त उद्धरण कई बार पढ़ें, क्योंकि एक बार पढ़ने में सम्भवत: अक्सर वह समझ नहीं पाते और ग़लत व्याख्या कर बैठते हैं! लेनिन ने इसमें स्पष्ट कर दिया है कि राज्यसत्ता का प्रश्न इसलिए हल माना जाना चाहिए क्योंकि मज़दूरों और किसानों की सोवियत के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही साकार रूप धारण कर चुकी थी, और इसके बाद का अगला नैसर्गिक चरण समाजवादी क्रान्ति था। लेकिन क्या यही बात अगस्त, 1947 के भारत के बारे

में कही जा सकती है? क्या मज़दूरों-किसानों की जनवादी तानाशाही की कोई संस्था मौजूद थी? राजनीतिक मोतियाबिन्द का श्यामसुन्दर की हद तक शिकार कोई व्यक्ति ही ऐसी बात भारत के विषय में कह सकता है। आगे लेनिन क्या कहते हैं, स्वयं देखिये:

"किन्तु क्या हमारे लिए मनोगतवाद का शिकार बनने का ख़तरा नहीं है? क्या यह ख़तरा नहीं है कि हम पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति को "लाँघकर," जो अभी पूरी नहीं हुई और जिसने अभी किसान आन्दोलन को समाप्त नहीं किया है, समाजवादी क्रान्ति पर पहुँचना चाहते हैं?

"मैं इस ख़तरे का शिकार हो सकता था अगर मैं यह कहता कि : "ज़ार नहीं चाहिए, बल्कि मज़दूरों की सरकार चाहिए।" लेकिन मैंने ऐसा नहीं कहा। मैंने कुछ और कहा। मैंने कहा कि रूस में मज़दूरों, खेत मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियतों के अलावा और कोई सरकार (पूँजीवादी सरकार को छोड़कर) नहीं बन सकती। मैंने कहा कि रूस में सत्ता गुचकोव और लवोव के हाथों से निकलकर अब केवल इन सोवियतों के पास ही जा सकती है। और, इन सोवियतों में, जैसी कि स्थिति है, अगर हम वैज्ञानिक मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करें, और उनका चरित्र-चित्रण एक सामान्य आदमी की तरह व्यावसायिक ढंग से न करके वर्गीय आधार पर करें तो उनमें किसानों, सैनिकों, अर्थात् निम्न पूँजीवादी वर्ग के लोगों का बाहुल्य है।

"मैंने अपनी थीसिसों में किसान आन्दोलन–जो अभी समाप्त नहीं हुआ है या आम तौर पर निम्न-पूँजीवादी आन्दोलन को लाँघने के विरुद्ध, मज़दूरों की सरकार द्वारा "सत्ता पर अधिकार" करने के खेल के विरुद्ध, किसी भी प्रकार के ब्लांकीवादी दुस्साहसवाद के विरुद्ध, अपनी स्थिति को सुनिश्चित कर लिया था क्योंकि मैंने पेरिस कम्यून का उल्लेख विशेष रूप से किया था। यह अनुभव, जैसा कि हम जानते हैं और जैसा कि मार्क्स ने 1871 में और एंगेल्स ने 1891 में विस्तार से सिद्ध किया था, ब्लांकीवाद का वर्णन पूर्ण रूप से करता है और बहुमत के सीधे, निकटतम और निर्विवाद शासन तथा जनता की कार्यवाही को केवल उसी हद तक जिस हद तक बहुमत स्वयं सचेतन रूप से कार्य करता है–मुकम्मिल तौर पर सुनिश्चित बनाता है।

"थीसिसों में मैंने इस सवाल को निश्चित रूप से खेत मज़दूरों, किसानों और सैनिकों की प्रतिनिधियों की सोवियतों के भीतर प्रभाव के लिए संघर्ष का सवाल बना दिया था। इस मुद्दे पर सन्देह की ज़रा भी गुंजाइश न रखने के लिए मैंने थीसिसों में, "जनता की व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुसार" धीरज के साथ और लगातार "स्पष्टीकरण" किये जाने के कार्य की आवश्यकता पर दो बार ज़ोर दिया था।" *(वही)*

यहाँ लेनिन ने स्पष्ट किया है कि जब तक कि सोवियतों में लगातार राजनीतिक प्रचार कर सत्ता पर कब्ज़े के नारे पर सहमति नहीं बनायी जाती, जब तक कि मज़दूरों और किसानों के जनवादी अधिनायकत्व की नुमाइन्दगी करने वाली सोवियत बुर्जुआ सरकार की दुमछल्ला बनने की बजाय स्वतन्त्र राजनीतिक भूमिका निभाने की स्थिति में नहीं आती, तब तक समाजवादी क्रान्ति का नारा नहीं दिया जा सकता और तब तक सोवियत अधिक से अधिक जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त करने के लिए ही लड़ सकती है। लेनिन ने काऊत्स्की द्वारा रूसी क्रान्ति की आलोचना के जवाब में क्या लिखा है, इस पर ग़ौर करना दिलचस्प होगा:

"हाँ, हमारी क्रान्ति एक बुर्जुआ क्रान्ति है, जिस हद तक हम पूरे किसान वर्ग के साथ चल रहे हैं। यह हमें जितना स्पष्ट हो सकता है, उतना स्पष्ट था, हमने 1905 से ही इसे सैंकड़ों-हज़ारों बार कहा है, और हमने ऐतिहासिक

प्रक्रिया के अनिवार्य चरण को लाँघने, या इसे आदेशों से उन्मूलित करने का कभी प्रयास नहीं किया है...लेकिन अप्रैल 1917 की शुरुआत के बाद, यानी अक्टूबर क्रान्ति के काफ़ी पहले, यानी कि हमारे द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा किये जाने के काफ़ी पहले, हमने सार्वजनिक तौर पर घोषणा की और लोगों को समझायाः *अब* क्रान्ति इस चरण पर नहीं रुक सकती है, क्योंकि देश आगे चला आया है, पूँजीवाद विकसित हो चुका है, बरबादी अभूतपूर्व सीमाओं तक पहुँच चुकी है, जो (चाहे कोई चाहे या न चाहे) आगे, समाजवाद की ओर कदम बढ़ाने की माँग करेगा। क्योंकि आगे बढ़ने का और कोई रास्ता नहीं है, युद्ध से क्लान्त देश को बचाने का और मेहनतकशों और शोषितों की तकलीफ़ों को दूर करने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" (*लेनिन, सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की*)

यहाँ पर एक और प्रसंग के ज़िक्र से श्यामसुन्दर कुछ सीख सकते हैं। रूसी क्रान्ति के बाद काऊत्स्की ने रूसी क्रान्ति की आलोचना करते हुए कई पुस्तकें लिखीं। इनका जवाब देने वाली प्रमुख बोल्शेविक रचना लेनिन की थी, जिसे हम अभी-अभी ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसके बाद लेनिन ने काऊत्स्की का जवाब देना ज़रूरी नहीं समझा और इस काम को त्रात्स्की ने किया। ग़ौरतलब है कि 1924 में लिखी गयी अपनी एक रचना (*दि लेसंस ऑफ अक्टूबर*) के पहले **त्रात्स्की** ने कभी खुद यह दावा नहीं किया था कि लेनिन उसके स्थायी क्रान्ति या अबाधित क्रान्ति सिद्धान्त पर आ गये थे। लेनिन की मृत्यु के बाद ही त्रात्स्की ने ऐसा दावा किया। उसके पहले वह स्वयं दो चरणों में क्रान्ति को एक प्रकार से मौन स्वीकृति दिये हुए थे। **1917 से 1924 का दौर त्रात्स्की का अपेक्षाकृत सकारात्मक दौर था।** इस समय त्रात्स्की ने रूसी क्रान्ति की आकस्मिकता को स्पष्ट करते हुए (*'टेररिज़्म एण्ड कम्युनिज़्म'*, 1920) लिखा था कि रूसी मज़दूर वर्ग के लिए अक्टूबर 1917 में क्रान्ति करना कोई चयन का मसला नहीं था। कुछ आकस्मिक और अपवादस्वरूप कारकों ने रूसी मज़दूर वर्ग को इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आने के लिए मजबूर कर दिया था। बोल्शेविकों के पास सत्ता पर कब्ज़े के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। जब काऊत्स्की ने कहा कि बोल्शेविक समय से पहले सत्ता पर कब्ज़ा करके घुड़सवारी सीखे बिना एक घोड़े पर सवार हो गये हैं, तो उसके जवाब में त्रात्स्की एक जगह लिखते हैं: **"दूसरी ओर हमें डर है कि, घुड़सवारी करने का जोखिम उठाये बिना, काऊत्स्की को घुड़सवारी के नुस्खे सीखने में ख़ासी दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि बुनियादी बोल्शेविक पूर्वाग्रह यह हैः आदमी घोड़े की पीठ पर बैठकर ही घुड़सवारी सीख सकता है।"** इसके बाद त्रात्स्की ने लिखा कि रूसी मज़दूर वर्ग को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में इस *घोड़े* पर सवार होना पड़ा क्योंकि अगर वह नहीं होता तो वह इतिहास के रंगमंच से लम्बे समय के लिए उठाकर बाहर फेंक दिया जाता। क्यों सर्वहारा वर्ग इस घोड़े पर सवार होने के लिए मजबूर हुआ? इसके बारे में लेनिन का निम्न उद्धरण दृष्टि को साफ़ कर देता है:

"हमारी क्रान्ति का मुख्य लक्षण जिस पर सबसे अधिक गम्भीर रूप में विचार करना चाहिए, दोहरी सत्ता है जो क्रान्ति की विजय के बाद सबसे प्रारम्भिक दिनों में पैदा हुई।

"यह दोहरी सत्ता दो सरकारों के अस्तित्व के रूप में सुस्पष्ट हैः पहली मुख्य, वास्तविक और यथार्थ में पूँजीपतियों की सरकार है, लवोव और उनकी मण्डली की अस्थायी सरकार है जिसके हाथ में सत्ता के सभी अंग हैं। दूसरी एक पूरक और समानान्तर सरकार मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत के रूप में "नियन्त्रण करने वाली" सरकार है जिसके हाथों में राज्यसत्ता का कोई अंग नहीं है किन्तु वह जनता के स्पष्ट और निर्विवाद बहुमत, हथियारबन्द मज़दूरों और किसानों के समर्थन पर आधारित है।

"इस दोहरी राज्यसत्ता का वर्गीय उद्गम और वर्गीय महत्व निम्नलिखित हैः मार्च 1917 की रूसी क्रान्ति ने न केवल पूरे ज़ारशाही राजतन्त्र का सफ़ाया कर दिया, न केवल पूरी सत्ता पूँजीपतियों को हस्तान्तरित कर दी बल्कि वह मज़दूरों और किसानों के क्रान्तिकारी जनवादी अधिनायकत्व के बहुत सन्निकट पहुँच गयी। पेत्रोग्राद और अन्य स्थानीय

सोवियतें इसी प्रकार के अधिनायकत्व का गठन करती हैं, (अर्थात् ऐसी सत्ता जो कानून पर नहीं बल्कि सीधे हथियारबन्द जनता की शक्ति पर आधारित है) वस्तुतः वह उपरोक्त वर्गों का अधिनायकत्व है।" *(लेनिन, हमारी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार)*

लेनिन के अनुसार दो आकस्मिक कारण जिनके कारण रूसी क्रान्ति बिना रुके समाजवादी क्रान्ति तक जा सकती थी उनमें से एक कारण था दोहरी सत्ता। दूसरा कारण था साम्राज्यवादी युद्ध के कारण बुर्जुआ सत्ता के असंभाव्यता के बिन्दु पर इतिहास का जल्दी पहुँच जाना, जिन्हें हम ऊपर लेनिन के उद्धरणों के जरिये स्पष्ट कर चुके हैं। और तीसरा, बेहद अहम कारण था रूस में पहले से ही पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का प्रमुखता के साथ स्थापित हो जाना और पूँजीपति वर्ग का फरवरी क्रान्ति से पहले ही समाज में शासक वर्ग जैसी स्थिति में आ जाना। आइये अब इस विषय पर भी लेनिन के विचारों पर ग़ौर करें:

"वे उस नये वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिसने रूस में राजनीतिक सत्ता प्राप्त की है। यह वर्ग पूँजीवादी ज़मीन्दारों और पूँजीपतियों का वर्ग है, जो हमारे देश पर आर्थिक रूप से एक अर्से से शासन करता आ रहा है। इस वर्ग ने 1905-07 की क्रान्ति के दौरान, 1907-14 के प्रतिक्रान्तिकारी दौर में और अन्ततः 1914-17 के युद्ध के दौर में विशेष तीव्रता के साथ अपने को राजनीतिक तौर पर संगठित कर लिया था; स्थानीय सरकारी संस्थाओं, सार्वजनिक शिक्षा, विभिन्न प्रकार की कांग्रेसों, दूमा, युद्ध उद्योगों से सम्बन्धित समितियों वगैरह पर अधिकार कर लिया था। यह नया वर्ग 1917 तक "करीब-करीब पूरे तौर पर" सत्ता में आ गया था। अतः वह चाहता था कि कुछ हल्के प्रहार किये जायें ताकि ज़ारशाही को धराशायी करके पूँजीपति वर्ग के लिए रास्ता साफ़ किया जा सके। साम्राज्यवादी युद्ध–जिसके लिए अपरिमित प्रयासों की आवश्यकता पड़ी थी–ने पिछड़े हुए रूस के विकास-क्रम को इतना तेज़ कर दिया है कि हम "एक धक्के में" (देखने में एक धक्के में) ही इटली, इंग्लैण्ड और करीब-करीब फ्रांस के समकक्ष आ गये हैं।" *(लेनिन, सुदूर से पहला पत्र)*

क्या यही बात अगस्त, 1947 के भारत के बारे में कही जा सकती है? श्यामसुन्दर विवेक-दलन के अपने अभियान में ही ऐसी बात कह सकते हैं!

एक अन्य स्थान पर श्यामसुन्दर मूर्खता का एक और गहना पेश करते हैं। वे कहते हैं कि 'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की' के जिस उद्धरण में मैंने यह माना है कि लेनिन फरवरी और अक्टूबर क्रान्ति की बात कर रहे हैं, वहाँ वह वास्तव में अक्टूबर क्रान्ति के बाद की घटनाओं के बारे में बात कर रहे हैं। आइये एक बार लेनिन के उस उद्धरण पर ग़ौर करें:

"शुरू में 'पूरे' किसान वर्ग को साथ लेकर <u>राजतन्त्र के खिलाफ़,</u> ज़मींदारों के खिलाफ़ मध्ययुगीन शासन-व्यवस्था के खिलाफ़ (और उस हद तक क्रान्ति पूँजीवादी, पूँजीवादी-जनवादी क्रान्ति रहती है)। फिर, गरीब किसानों को साथ लेकर, अर्ध-सर्वहारागण को साथ लेकर, सारे शोषितों को साथ लेकर पूँजीवाद के ख़िलाफ़, जिसमें गाँव के धनिक, कुलक, मुनाफ़ाखोर शामिल हैं, और उस हद तक क्रान्ति समाजवादी बन जाती है।"

श्यामसुन्दर का कहना है कि राजतन्त्र विरुद्ध संघर्ष के बारे में जब लेनिन बात कर रहे हैं तो वह अक्टूबर के बाद के घटनाक्रम के बारे में बात कर रहे हैं! अब यह तो श्यामसुन्दर ही बता सकते हैं कि अक्टूबर के बाद राजतन्त्र के खिलाफ़ संघर्ष किस प्रकार होता, जब वहाँ राजतन्त्र था ही नहीं। फरवरी क्रान्ति के बाद बुर्जुआ सरकार ने एक बार ज़ार के भाई मिखाईल रोमानोव को अस्थायी ज़ार बनाकर राजतन्त्र की स्थापना की कोशिश की थी, जिसे मज़दूरों के आन्दोलन ने नाकाम कर दिया था। उसके बाद ऐसी कोई भी कोशिश बुर्जुआ सरकार ने भी नहीं की थी। ऐसे में, अक्टूबर के बाद राजतन्त्र के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए

बोल्शेविकों को स्वर्गिक राज्य की यात्रा करनी पड़ती क्योंकि जुलाई, 1918 में ज़ार को उसके परिवार समेत ख़त्म कर दिया गया था! लेकिन कभी-कभी मूर्खता ऐसे-ऐसे चमत्कार कर देती है, जिसे महान प्रतिभाएँ भी अंजाम नहीं दे सकतीं, जैसा कि श्यामसुन्दर ने उपरोक्त कथन में कर दिखाया है। लेनिन उपरोक्त उद्धरणों में जहाँ राजतन्त्र विरोधी संघर्ष की बात कर रहे हैं, उससे उनका अर्थ है फरवरी क्रान्ति और उसके बाद के दौर में बुर्जुआ सरकार द्वारा राजतन्त्र की पुनर्स्थापना की साज़िश (जिसमें ज़ार के भाई को अस्थायी ज़ार बनाने की कोशिश की गयी थी और जब ज़ार को सेनाओं का प्रमुख बनाने की बात कही गयी थी) जिसे कि मज़दूरों ने विफल कर दिया था। और जहाँ वे पूँजीवाद के विरुद्ध समस्त शोषित आबादी के संघर्ष की बात कर रहे हैं, वहाँ वह अक्टूबर क्रान्ति और उसके बाद के घटना-क्रम की बात कर रहे हैं।

...

भूदासत्व के उन्मूलन और सुधार की प्रक्रिया के बारे में श्यामसुन्दर की असुधारणीय कठदलीली

आगे श्यामसुन्दर बताते हैं कि 1861 में भूदासत्व के उन्मूलन के बावजूद भूदास पूरी तरह तत्काल मुक्त नहीं हुए थे। बिल्कुल सही! प्रशियाई पथ में ऐसा कभी हो भी नहीं सकता है। लेकिन यह स्थिति कब तक बनी रही इस बात को श्यामसुन्दर गोल कर गये हैं। 1861 में जो प्रक्रिया शुरू हुई वह वास्तव में 1881 में जाकर ख़त्म हुई। लेनिन ने इसके बारे में 'रूस में पूँजीवाद के विकास' में 'किसान आबादी का विभेदीकरण' नामक अध्याय में लिखा है, जिसे हम आगे उद्धृत करेंगे। दूसरी बात, लेनिन ने यह स्पष्ट किया कि भूदासत्व के 1861 में उन्मूलन के बाद, भूदासत्व की जगह कॉर्वी तन्त्र पैदा हुआ, जो कि भूदासों को आंशिक तौर पर मुक्त करता था। 1881 तक यह स्थिति बनी रही। इसका कारण यह था कि 1881 तक सामन्तों के लिए मुआवज़ा लेकर भूदासों को अनिवार्य रूप से बेदख़ल कर देना एक बाध्यताकारी नियम नहीं था। 1881 के बाद यह बेदख़ली बाध्यताकारी हो गयी, और भूदास कुछ समय के लिए 'अस्थायी रूप से सामन्त से बंधे किसान' बने रहे और उसके बाद मुक्त कर दिये गये। श्यामसुन्दर हमारे मुँह में जबरन यह बात ठूँस रहे हैं कि हमने यह कहा कि लेनिन ने जनवादी क्रान्ति का नारा स्तोलिपिन के सुधारों के बाद दिया हो! ऐसी कोई बात न तो हमारे पेपर में थी, और न ही हमने कलायत बहस के दौरान कही। अब श्यामसुन्दर अपनी बदहवासी में उन हदों से आगे जाने लगे हैं जिसे 'मानसिक सन्तुलन' कहा जाता है! श्यामसुन्दर यह मूर्खतापूर्ण दावा करते हैं कि 1906 में स्तॉलिपिन के सुधारों के पहले किसानों की गुलामी ज्यों-की-त्यों बरकरार थी! हम श्यामसुन्दर से सिर्फ़ इतना ही कहेंगे कि लेनिन की रचना 'रूस में पूँजीवाद का विकास' पढ़ें और मन ही मन कामना करते रहेंगे कि वह पढ़कर समझ भी लें, क्योंकि इस मामले में इन महोदय का रिकॉर्ड बहुत शर्मनाक रहा है। अब ज़रा 1899 में लेनिन द्वारा लिखी गयी इन पंक्तियों पर ध्यान दें:

"(1) जिस सामाजिक आर्थिक स्थिति में मौजूदा रूसी किसान अपने आपको पाते हैं, वह है माल उत्पादन। यहाँ तक कि मध्य कृषि पट्टी में भी (जो कि दक्षिण पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों या औद्योगिक गुबेर्नियाओं की तुलना में सबसे पिछड़े हुए हैं), किसान पूरी तरह से बाज़ार के अधीन हो चुके हैं, जिस पर वह अपने निजी उपभोग और खेती दोनों के लिए निर्भर है, करों के भुगतान की तो हम बात भी नहीं करते।

"(2) किसानों की बीच मौजूद सामाजिक-आर्थिक संबंध (कृषि-सम्बन्धी और ग्राम-समुदाय में भी) हमें उन सभी अन्तरविरोधों की उपस्थिति को दिखला रहे हैं जो हरेक माल अर्थव्यवस्था और हर पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित होते हैं...

"(3) किसानों के बीच सभी आर्थिक अन्तरविरोधों का कुल योग वही है जिसे हम किसानों का विभेदीकरण कहते हैं। किसानों ने स्वयं ही बहुत सही तरीके से और आश्चर्यजनक रूप से इस प्रक्रिया को "विकिसानीकरण" का नाम दिया है। यह प्रक्रिया पुराने, पितृसत्तात्मक किसानी के ख़ात्मे और नये किस्म के ग्रामीण बाशिन्दों के सृजन को दिखला रही है।..." *(लेनिन, अध्याय-2, किसान आबादी का विभेदीकरण, रूस में पूँजीवाद का विकास)*

आगे लेनिन बताते हैं कि रूसी ग्रामीण क्षेत्र तीन वर्गों में विभाजित हो चुका है–ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग, यानी कि धनी किसान व पूँजीवादी भूस्वामी, जो कि ग्रामीण क्षेत्र के असली स्वामी बन चुके हैं, दूसरा, मध्यम किसान आबादी जिसके बड़े हिस्से की नियति अन्ततः व्यापक ग़रीब किसान आबादी में शामिल होना है और छोटे से हिस्से को सामाजिक पायदान पर ऊपर चढ़ना है, और तीसरा हिस्सा है सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग का, जो कि बहुसंख्या में है और जिसमें वे स्वतन्त्र किन्तु निर्भर ग़रीब किसान भी शामिल हैं, जो भूदासत्व के बाद मुक्त तो हुए किन्तु भूस्वामियों पर निर्भर बने रहे। इन्हें *एलॉटमेण्ट होल्डिंग* किसान कहा गया है। यहाँ यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि जिन भूस्वामियों पर ये ग़रीब किसान निर्भर हैं, वे सामन्ती भूस्वामी नहीं हैं बल्कि पूँजीवादी भूस्वामी हैं। लेनिन ने यह भी बताया कि पूँजीवाद के तहत भी ग़रीब किसान की स्वतन्त्रता औपचारिक ज़्यादा होती है, और वास्तविक कम। लेनिन के एक अन्य उद्धरण पर ग़ौर करें:

"...हमारे साहित्य में सैद्धान्तिक स्थापना की अत्यधिक घिसी-पिटी समझदारी बहुत अधिक मौजूद है कि पूँजीवाद को मुक्त, भूमिहीन मज़दूर की ज़रूरत होती है। मुख्य प्रवृत्ति को दिखाने के तौर पर यह स्थापना पर्याप्त सही है, लेकिन कृषि में पूँजीवाद ख़ास तौर पर धीमी गति से और अत्यन्त विविध रूपों में घुसपैठ करता है। ग्रामीण मज़दूरों को ज़मीन का एलॉटमेण्ट अधिकांशतः ग्रामीण मालिक के हित में ही होता है और यही कारण है कि एलॉटमेण्ट जोत वाले ग्रामीण मज़दूरों की किस्म सभी पूँजीवादी देशों में पायी जाती है। अलग-अलग देशों में इस किस्म के अलग-अलग रूप हैं: अंग्रेज कॉटेजर ठीक वहीं नहीं है, जो फ्रांस या राइन प्रान्तों का छोटी जोत वाला किसान, और फिर वह भी ठीक वही नहीं है जो प्रशिया का क्नेख़्ट। इनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट भूमि व्यवस्था, भूमि सम्बन्धों के एक विशिष्ट इतिहास के अवशेष-चिन्ह लिये हुए हैं–लेकिन यह अर्थशास्त्रियों द्वारा उन सभी को कृषि सर्वहारा की एक ही श्रेणी में वर्गीकृत करने से नहीं रोकता।" *(लेनिन, रूस में पूँजीवाद का विकास, पृ.181-82, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, 1977, अंग्रेज़ी संस्करण)*

श्यामसुन्दर को शायद अब और प्रमाणों की ज़रूरत न हो लेकिन हम एक आख़िरी उद्धरण लेनिन की इसी पुस्तक से दे रहे हैं जिसमें वे बताते हैं कि 1899 आते-आते रूस में भूदासत्व की व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी। आइये देखें:

"...अन्त में, रूस में कृषि पूँजीवाद ने पहली बार श्रम-सेवा और किसानों की निजी निर्भरता की जड़ों को काट दिया है। श्रम-सेवा के इस तंत्र का रुसकाया प्राव्दा (रूसी कानून - लेनिन) के दिनों की खेती से आज के निजी भूस्वामियों द्वारा किसानी उपकरणों के साथ खेती तक में पूरा बोलबाला था; किसानों की दरिद्रता और असभ्यता, जो कि अगर सामन्ती नहीं तो अपने श्रम के "अर्द्ध-मुक्त" होने के कारण पतन के गर्त में चले गये थे, चारित्रिक तौर पर, इस तंत्र से अनिवार्य तौर पर जुड़े हुए थी; अगर किसान के नागरिक अधिकार दुर्बल न किये गये होते...तो श्रम-सेवा तंत्र असम्भव होता। <u>इसीलिए कृषि पूँजीवाद ने रूस में श्रम-सेवा को उजरती श्रम से स्थानान्तरित कर एक महान ऐतिहासिक कार्य किया है।</u>" *(लेनिन, अध्याय 4, रूस में पूँजीवाद का विकास)*

श्यामसुन्दर समझते हैं कि 1906 के स्तोलिपिन सुधारों के बाद रूस में भूदासों की मुक्ति हुई। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि श्यामसुन्दर ने रूसी इतिहास का 'क ख ग' भी नहीं पढ़ा है। स्तोलिपिन सुधारों ने ग्राम समुदाय को भंग कर ग्राम समुदाय के

किसानों को उसकी ज़मीन एलॉट कर दी थी, जिस ज़मीन को बेचने का अधिकार भी उन किसानों के पास था। भूदासों की मुक्ति से एक बड़ी आबादी खेतिहर और औद्योगिक सर्वहारा में पहले ही शामिल हो चुकी थी, विशेष तौर पर 1861 से। लेकिन छोटे किसानों की एक विचारणीय आबादी अभी भी ग्राम समुदाय के तहत थी, जिसकी स्थिति अर्द्धसर्वहारा की ही थी, लेकिन चूँकि वह अपनी जोत को बेच नहीं सकता था (क्योंकि वह ग्राम समुदाय की सम्पत्ति थी) इसलिए वह अर्द्धभुखमरी की अवस्था में रहते हुए भी ज़मीन को छोड़ नहीं पाता था। लेकिन ज़मीन के निजी सम्पत्ति बनने के साथ ही ग्राम समुदाय से भी किसानों की एक आबादी निकली जिसका कि विकिसानीकरण हो गया। यह भूदासों की मुक्ति नहीं थी, बल्कि छोटे किसानों के सर्वहाराकरण के लिए उठाया गया कदम था, जो रूसी उद्योग के नये चरण में प्रवेश करने के साथ ज़रूरी था। लेकिन अब श्यामसुन्दर जैसों को क्या समझाया जाय?

हमें लगता है कि श्यामसुन्दर को शिक्षक बनने का बेहद शौक़ है। हर जगह वह कुछ शिक्षक की मुद्रा में रहते हैं। यहाँ तक कि अपने "संगठन" के कार्यक्रमों में भी वह अपनी भूमिका मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक के समान रखते हैं, जो अन्त में सभी वक्ताओं की बातों का 'मुख्य वक्ता' के तौर पर आलोचनात्मक समाहार करता है! लेकिन अफ़सोस कि इतिहास में कई बार बौने उन जूतों में पाँव रखने की हिमाकत कर बैठते हैं, जिनमें वे बिस्तर बिछाकर सो सकते हैं!

दो प्रकार की भूमि क्रान्तियों की व्याख्या के बारे में श्यामसुन्दर की अनेक प्रकार की मूर्खताएँ

इसके बाद शिक्षक का लबादा ओढ़े लड़खड़ाते-ढिमलाते हुए श्यामसुन्दर दो प्रकार की भूमि क्रान्ति के बारे में हमारा जबरन ज्ञानवर्द्धन करने पर आमादा हो जाते हैं। ज़रा देखें कि उन्होंने अपने नये राजनीतिक शिक्षण अभियान का उपशीर्षक क्या दिया है: "भूमि क्रान्ति का प्रशियाई ढंग बनाम पूँजीवादी सुधारवादी ढंग"। शीर्षक में ही अध्यापक महोदय ने न सिर्फ़ अपना शिक्षक वाला लबादा गिरा दिया बल्कि बचे-खुचे वस्त्र भी ज़मीन पर गिरा दिये हैं। मार्क्स या लेनिन ने कहीं भी "भूमि क्रान्ति के पूँजीवादी सुधारवादी" ढंग की कोई बात नहीं की है। मार्क्स ने एक को "नीचे से पूँजीवाद या वास्तविक तौर पर क्रान्तिकारी रास्ता" और दूसरे को "ऊपर से पूँजीवाद या ग़ैर-क्रान्तिकारी रास्ता" कहा, हालाँकि उस समय उनका मुख्य ज़ोर उद्योग के क्षेत्र पर था। लेनिन ने पूँजीवादी भूमि सुधारों के दो रास्ते की बात की है: पहला, युंकर शैली का प्रशियाई पथ वाला क्रमिक भूमि सुधार और दूसरा, अमेरिकी शैली का क्रान्तिकारी (या रैडिकल) भूमि सुधार। "पूँजीवादी सुधारवादी" सुधार कौन-सा होता है, यह तो श्यामसुन्दर महोदय ही बता सकते हैं! आगे इस उपशीर्षक में श्यामसुन्दर ने जो भी बातें कहीं हैं, उनमें से अधिकांश का खण्डन हम ऊपर कर चुके हैं। इसमें एक जगह प्रशियाई पथ को श्यामसुन्दर ने 'सामन्ती सुधारवादी ढंग' की संज्ञा दी है। क्या श्यामसुन्दर महोदय बतायेंगे कि इस दिव्य ज्ञान की प्राप्ति उन्हें किसी बोधि-वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई है? लेनिन ने खुद ही प्रशियाई पथ को पूँजीवादी भूमि सुधार का एक रूप कहा है, तो श्यामसुन्दर उसे सामन्ती किस प्राधिकार के साथ कह रहे हैं? इसी बेवकूफ़ी भरे सूत्रीकरण के आधार पर श्यामसुन्दर कहते हैं कि हमारा यह कहना कि 1947 के बाद सत्ता में विराजमान हुए बुर्जुआ वर्ग द्वारा किया जाने वाला भूमि सुधार प्रशियाई पथ से किया गया भूमि सुधार था, ग़लत है। क्योंकि ब्रह्मा जी ने श्यामसुन्दर के सपने में प्रकट होकर उन्हें बताया है कि प्रशियाई पथ से होने वाला भूमि सुधार सामन्ती भूमि सुधार होता है, और इसे सामन्त शासक वर्ग करता है, बुर्जुआ शासक वर्ग नहीं! हम फिर से कहेंगे कि श्यामसुन्दर को एक बार लेनिन की 'रूस में पूँजीवाद का विकास' पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए, और साथ ही कामना करेंगे कि वह पढ़कर समझ भी जायें। लेनिन ने साफ़ बताया है कि प्रशियाई पथ के भूमि सुधार उभरते हुए

बुर्जुआ वर्ग के दबाव में कोई ऐसा राजतन्त्र कर सकता है, जो कि सिर्फ़ सामन्ती भूस्वामियों का ही प्रतिनिधित्व न कर रहा हो बल्कि वह नयी बुर्जुआ शक्तियों को भी सत्ता में भागीदारी देने के लिए बाध्य हुआ हो। प्रशियाई पथ का भूमि सुधार रूस में प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआ में रूपान्तरित हो रहे भूस्वामियों के गिरोह 'ब्लैक हण्ड्रेड' और अक्तूबरवादियों के समर्थन से हुआ था। लेनिन के इस कथन पर ध्यान दें:

"सामन्ती भूस्वामी अर्थव्यवस्था के धीरे-धीरे युंकर बुर्जुआ अर्थव्यवस्था के रूप में विकसित हो जाने, किसान समुदाय के भूमिहीन खेतिहर और 'क्नेख़्ट' के रूप में तब्दील हो जाने, जनता के रहन-सहन को बलपूर्वक कंगाली के स्तर पर बनाये रखने और पूँजीवाद के अन्तर्गत अपरिहार्य रूप से पनपने वाले 'ग्रासबाउर्न' के, धनी बुर्जुआ किसानों के छोटे समूहों के उभरने के द्वारा भूदास प्रथा समाप्त की जा सकती है। यही वह रास्ता है जो 'ब्लैक हण्ड्रेड' भूस्वामियों और उनके मन्त्री स्तोलिपिन ने चुना। उन्होंने महसूस किया कि जब तक भूस्वामित्व के जंग खाये हुए मध्ययुगीन रूपों को बलपूर्वक नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक रूस के विकास का रास्ता साफ़ नहीं किया जा सकता। और उन्होंने भूस्वामियों के हित में उन्हें नष्ट करने के लिए बेधड़क काम शुरू कर दिया है।...यदि उन्हें अपने वर्ग शासन को सुरक्षित रखना है तो इसके अतिरिक्त वे कुछ भी और नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने खुद को पूँजीवादी विकास के अनुरूप ढालने में और इसके विरुद्ध संघर्ष न करने की आवश्यकता को महसूस कर लिया है।" *(लेनिन, सामाजिक-जनवाद का भूमि कार्यक्रम, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड-13, पृष्ठ 422-24, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, 1962, अंग्रेज़ी संस्करण)*

एक और उद्धरण:

"पहले स्तोलिपिन कार्यक्रम को लें, जो दक्षिणपंथी भूस्वामियों और अक्तूबरवादियों द्वारा समर्थित है। यह खुले रूप से एक भूस्वामियों का कार्यक्रम है। लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि यह आर्थिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है, यानी कि यह भूमि-सम्बन्धों में बुर्जुआ विकास को रोकने के लिए, पूँजीवाद के विकास को बाधित कर रहा है, या बाधित करना चाहता है? कतई नहीं। इसके विपरीत, स्तोलिपिन द्वारा अनुच्छेद 87 के अन्तर्गत प्रस्तुत प्रसिद्ध भूमि कानून की आत्मा पूरी तरह विशुद्ध बुर्जुआ है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता कि यह पूँजीवादी विकास की दिशा का अनुसरण करता है, उस विकास की मदद करता है और उसे आगे बढ़ाता है, किसानों के कंगाल होने, ग्राम कम्यूनों के टूटने और किसान पूँजीपति वर्ग के पैदा होने की प्रक्रिया को तेज़ करता है। निस्सन्देह, यह कानूनी वैज्ञानिक-आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील है।" *(वही, पृ. 243-44)*

स्पष्ट है कि प्रशियाई पथ से होने वाले भूमि सुधारों का चरित्र भी पूँजीवादी होता है, किन्तु वह रैडिकल-क्रान्तिकारी पूँजीवादी नहीं होता है। लेकिन श्यामसुन्दर शायद पूँजीपति वर्ग को चिरन्तन क्रान्तिकारी मानते हैं, इसलिए यदि वह अपना कोई कार्यभार प्रतिक्रियावादी तरीके से पूरा करता है, तो श्यामसुन्दर उसे सामन्ती बता देते हैं! लेकिन लेनिन का ऐसा कोई मुग़ालता नहीं था। लेनिन ने स्पष्ट रूप से दिखाया कि रूस में राजतन्त्र के मौजूद रहते हुए पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध प्रभावी बन चुके थे, पूँजीपति वर्ग सबसे शक्तिशाली शासक वर्ग के रूप में उभर चुका था और उसके दबाव में ही (ख़ास तौर पर, उद्योगपतियों और पूँजीवादी बनने की चाहत रखने वाले भूस्वामियों के दबाव में) ज़ारशाही ने 50 वर्ष के लम्बे कालखण्ड में क्रमिक भूमि सुधारों की प्रक्रिया चलायी। वास्तव में यह वही प्रक्रिया थी जो प्रबुद्ध निरंकुश बिस्मार्क ने चलायी थी। और इसीलिए इस पथ को प्रशियाई पथ कहा गया। यह सामन्तों द्वारा किया जाने वाला भूमि सुधार नहीं है। यह कैसी मूर्खता की बात श्यामसुन्दर कर रहे हैं? सामन्त स्वयं पूँजीवाद का विकास करने की नीति क्यों बनायेंगे? कोई राजतन्त्र यदि ऐसी नीति बना रहा है तो स्पष्ट है कि वह बुर्जुआ वर्ग के

दबाव में ऐसा कर सकता है, या जैसा कि जर्मनी में हुआ, मुख्य तौर पर बुर्जुआ चरित्र रखने वाला राजतन्त्र यह कर सकता है। एंगेल्स ने दिखाया है कि ऐसा इतिहास में अक्सर होता है:

"परन्तु अपवादस्वरूप कुछ ऐसे काल भी आते हैं जब संघर्षरत वर्गों का शक्ति सन्तुलन इतना बराबर हो जाता है कि राज्यसत्ता एक दिखावटी पंच के रूप में कुछ समय के लिए, कुछ मात्रा में दोनों वर्गों से स्वतन्त्र हो जाती है। सत्रहवीं और अट्ठारवीं सदियों का निरंकुश राजतन्त्र ऐसा ही था, जो अभिजात वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग के बीच सन्तुलन कायम रखता था। फ्रांस में पहले और उससे भी अधिक दूसरे साम्राज्य की बोनापार्तशाही भी ऐसी ही थी, जो सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग से और पूँजीपति वर्ग को सर्वहारा वर्ग से भिड़ाती रही थी। इस प्रकार का सबसे नया उदाहरण, जिसमें शासक और शासित दोनों समान रूप से हास्यास्पद नज़र आते हैं, बिस्मार्क के राष्ट्र का नया जर्मन साम्राज्य है। यहाँ पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच सन्तुलन रखा जाता है और दोनों को समान रूप से धोखा देकर प्रशा के दीवालिया ज़मींदारों का उल्लू सीधा किया जाता है।" *(एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1974, पृ. 212)*

लेकिन श्यामसुन्दर इस बात को नहीं समझते। यहाँ पर भी राज्यसत्ता में कौन बैठा है, यह देखने के बाद श्यामसुन्दर आँख बन्द कर लेते हैं, और ऊल-जुलूल प्रस्थापनाएँ देते हुए सड़क पर भाग चलते हैं! ऊपर के उद्धरणों में लेनिन ने प्रशियाई पथ के भूमि सुधारों के वर्ग चरित्र को पूँजीवादी भूमि सुधार के तौर पर सटीक रूप में चिन्हित किया है। या तो यह श्यामसुन्दर की निकृष्ट कोटि की बेईमानी है या अव्वल दर्ज़े का घोंचूपन। हम मानकर चलते हैं कि वह बेईमान नहीं होंगे!

(समाप्त)

नोट: हम पाठकों से आग्रह करेंगे कि हमारे 2012 आखिरी जवाब के उपरोक्त हिस्से के अलावा वह पूरे जवाब को अवश्य पढ़ें, जिससे कि उन्हें न सिर्फ बहस में श्यामसुन्दर की अवस्थितियों की अन्तर्निहित अज्ञानता के बारे में पता चल सके, बल्कि वे यह भी देख सकें कि अपने नवीनतम खर्रे में श्यामसुन्दर ने हमारे द्वारा इन अवस्थितियों की आलोचना का कोई जवाब देने की बजाय, अपनी पुरानी मूर्खतापूर्ण अवस्थितियों को ही दुहरा दिया है।